लीला का रहस्य क्या है। इस उपन्यास की शिक्षा का निचोड़ है सत्य पर, आत्मसम्मान पर अपना बलिदान कर देना। इसकी भाषा सरल और सरस है, वर्णन-शैली अत्यंत हृदयग्राहिणी है, भाव-व्यंजना बड़ी मर्म-स्पर्शिनी है, और चरित्र-चित्रण, जो उपन्यास का सर्वप्रधान अंग माना गया है, इतनी सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है कि पढ़कर लेखक के मनोवैज्ञानिक अनुभव का क़ायल होना पड़ता है। हिंदी में आपने ढेरों उपन्यास पढ़े होंगे, लेकिन ऐसे ऊँचे दर्जे का मौलिक उपन्यास आज तक न पढ़ा होगा। यह उपन्यास उपन्यासत्व से उत्कृष्ट, स्वाभाविकता से सुसज्जित, कल्पना से कमनीय, चरित्र-चित्रण से चारु और सद्भावों से सुंदर है। सारांश यह कि रंगभूमि हिंदी के एक श्रेष्ठ औपन्यासिक का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। प्रेमचंदजी की पुस्तकों के प्रेमी पाठकों को इसे पढ़कर अपने इष्ट-मित्रों को भी अवश्य पढ़ाना चाहिए। मन मुग्ध और हृदय प्रफुल्लित हुए बिना न रहेगा।

३६, लाटूश रोड
लखनऊ, १।२।२५ } — दुलारेलाल (संपादक)

निवेदन

(सप्तमावृत्ति पर)

ख़ुशी की बात है, आज हमें इस उपन्यास को सातवीं बार छापने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ! काग़ज़ का मूल्य आजकल तिगुना हो गया है, पर हमने इसका मूल्य तादृश नहीं बढ़ाया। आशा है, प्रेमचंदजी के इस सर्वश्रेष्ठ उपन्यास का दिन-दिन और भी आदर बढ़ेगा।

कवि-कुटीर, लखनऊ
१५।८।४४ } — दुलारेलाल

संध्या हो गई थी। जुलूस निकला। पैदल और सवार आगे-आगे थे। फ़ौजी बाजे बज रहे थे। सड़कों पर रोशनी हो रही थी, पर मकानों में, छतों पर, अंधकार छाया हुआ था। फूलों की वर्षा हो रही थी, पर छतों से नहीं, सिपाहियों के हाथों से। सोफ़ी सब कुछ समझती थी, पर क्लार्क की आँखों पर परदा-सा पड़ा हुआ था। असीम ऐश्वर्य ने उनकी बुद्धि को भ्रांत कर दिया है। कर्मचारी सब कुछ कर सकते हैं, पर भक्ति पर उनका बस नहीं होता। नगर में कहीं आनंदोत्साह का चिह्न नहीं है, सियापा-सा छाया हुआ है, न पग-पग पर जय-ध्वनि है, न कोई रमणी आरती उतारने आती है, न कहीं गाना-बजाना है। मानो किसी पुत्र-शोक-मग्न माता के सामने विहार हो रहा हो।

क़स्बे का गश्त करके सोफ़ी, क्लार्क, सरदार नीलकंठ और दो-एक उच्च कर्मचारी तो राजभवन में आकर बैठे, और लोग विदा हो गए। मेज़ पर चाय लाई गई। मि० क्लार्क ने बोतल से शराब उँड़ेली, तो सरदार साहब, जिन्हें इसकी दुर्गंध से घृणा थी, खिसककर सोफ़िया के पास आ बैठे, और बोले—"जसवंतनगर आपको कैसा पसंद आया?"

सोफ़िया—"बहुत ही रमणीक स्थान है। पहाड़ियों का दृश्य अत्यंत मनोहर है। [illegible] कश्मीर के सिवा [illegible] प्राकृतिक शोभा और कहीं न होगी। नगर भी [illegible] कि चित्त [illegible] हो गया। मेरा तो जी चाहता है, यहाँ कुछ दिनों रहूँ।"

सरदार साहब डरे। एक दो दिन तो पुलिस और सेना के बल से नगर को शांत रक्खा जा सकता है, पर महीने-दो महीने किसी तरह नहीं। असंभव है! अगर ये लोग यहाँ जम गए, तो नगर की यथार्थ स्थिति अवश्य ही प्रकट हो जायगी। न-जाने उसका क्या परिणाम हो। बोले—"यहाँ की प्राकृतिक छटा के धोखे में न आइए। जल-वायु बहुत ख़राब है। आगे आपको इससे कहीं सुंदर स्थान मिलेंगे।"

सोफ़िया—"कुछ भी हो, मैं यहाँ दो हफ़्ते अवश्य ठहरूँगी। क्या विलियम, तुम्हें यहाँ से जाने की कोई जल्दी तो नहीं है?"

क्लार्क—"तुम यहाँ रहो, तो मैं दफ़न होने को तैयार हूँ।"

सोफ़िया—"लीजिए सरदार साहब, विलियम को कोई आपत्ति नहीं।"

सोफ़िया को सरदार साहब को दिक़ करने में मज़ा आ रहा था।

नीलकंठ—"फिर भी मैं आपसे यही अर्ज़ करूँगा कि जसवंत बहुत अच्छी जगह नहीं है। जल-वायु की विषमता के अतिरिक्त की प्रजा में अशांति के बीज अंकुरित हो गए हैं।"

सोफ़िया—"तब तो हमारा यहाँ रहना और भी आवश्यक है। मैंने किसी रियासत में यह शिकायत नहीं सुनी। गवर्नमेंट ने रियासतों को आंतरिक स्वाधीनता प्रदान कर दी है। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि रियासतों में अराजकता के कीटाणुओं को सेए जाने दिया जाय। इसका उत्तरदायित्व अधिकारियों पर है, और गवर्नमेंट को अधिकार है कि वह इस असावधानी का संतोष-जनक उत्तर माँगे।"

सरदार साहब के हाथ-पाँव फूल गए। सोफ़िया से उन्होंने यह बात निश्शंक होकर कही थी। उसकी विनयशीलता से उन्होंने समझ लिया था कि मेरी नज़र-भेंट ने अपना काम कर दिखाया। कुछ बेतकल्लुफ़-से हो गए थे। यह फटकार पड़ी, तो आँखें चौंधिया गईं। कातर स्वर में बोले—"मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यद्यपि रियासत पर इस स्थिति का उत्तरदायित्व है; पर हमने यथासाध्य इसके रोकने की चेष्टा की, और अब भी कर रहे हैं। यह बीज उस दिशा से आया, जिधर से उसकी आने की संभावना न थी, या यों कहिए कि विष-बुंद सुनहरे पात्रों में लाए गए। बनारस के रईस कुँवर भरतसिंह के स्वयंसेवकों ने कुछ ऐसे कौशल से काम लिया कि हमें ख़बर तक न हुई। डाकुओं से धन की रक्षा की जा सकती है, पर साधुओं से नहीं। सेवकों ने सेवा की आड़ में यहाँ की मूर्ख प्रजा पर ऐसे मंत्र फूँके कि उन मंत्रों के उतारने में रियासत को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। विशेषतः कुँवर साहब का पुत्र अत्यंत कुटिल प्रकृति का युवक है। उसने इस प्रांत में अपने विद्रोहात्मक

विचारों का यहाँ तक प्रचार किया कि इसे विद्रोहियों का अखाड़ा बना दिया। उसकी बातों में कुछ ऐसा जादू होता था कि प्रजा प्यासों की भाँति उसकी ओर दौड़ती थी। उसके साधु भेष, उसके सरल, निःस्पृह जीवन, उसकी मृदुल सहृदयता और सबसे अधिक उसके देवोपम स्वरूप ने छोटे-बड़े सभी पर वशीकरण-सा कर दिया था। रियासत को बड़ी चिंता हुई। हम लोगों की नींद हराम हो गई। प्रतिक्षण विद्रोह की आग के भड़क उठने की आशंका होती थी। यहाँ तक कि हमें सदर से सैनिक सहायता भेजनी पड़ी। विनयसिंह तो किसी तरह गिरफ़्तार हो गया ; पर उसके अन्य सहयोगी अभी तक इलाक़े में छिपे हुए प्रजा को उत्तेजित कर रहे हैं। कई बार यहाँ सरकारी ख़ज़ाना लुट चुका है, कई बार विनय को जेल से निकाल ले जाने का दुष्प्रयत्न किया जा चुका है, और कर्मचारियों को नित्य प्राणों की शंका बनी रहती है। मुझे विवश होकर आपसे यह वृत्तांत कहना पड़ा। मैं आपको यहाँ ठहरने की कदापि राय न दूँगा। अब आप स्वयं समझ सकती हैं कि हम लोगों ने जो कुछ किया, उसके सिवा और क्या कर सकते थे।"

सोफ़िया ने बड़ी गंभीर चिंता के भाव से कहा—"दशा उससे कहीं भयंकर है, जितना मैं समझती थी। इस अवस्था में विलियम का यहाँ से जाना कर्तव्य के विरुद्ध होगा। वह यहाँ गवर्नमेंट के प्रतिनिधि होकर आए हैं, केवल सैर-सपाटे करने के लिये नहीं। क्यों विलियम, तुम्हें यहाँ रहने में कोई आपत्ति तो नहीं है ? यहाँ की रिपोर्ट भी तो करनी पड़ेगी।"

क्लार्क ने एक चुस्की लेकर कहा—"तुम्हारी इच्छा हो, तो मैं नरक में भी स्वर्ग का सुख ले सकता हूँ। रहा रिपोर्ट लिखना, वह तुम्हारा काम है।"

नीलकंठ—"मेरी आपसे सविनय प्रार्थना है कि रियासत को सँभालने के लिये कुछ और समय दीजिए। अभी रिपोर्ट करना हमारे लिये घातक होगा।"

इधर तो यह अभिनय हो रहा था, सोफ़िया प्रभुत्व के सिंहासन पर विराजमान थी, ऐश्वर्य चँवर हिलाता था, अष्टसिद्धि हाथ बाँधे खड़ी थी। उधर विनय अपनी अँधेरी कालकोठरी में म्लान और क्षुब्ध बैठा हुआ नारी-जाति की निष्ठुरता और अहृदयता पर रो रहा था। अन्य क़ैदी अपने-अपने कमरे साफ़ कर रहे थे, उन्हें कल नए कंबल और नए कुरते दिए गए थे, जो रियासत के इतिहास में एक नई घटना थी। जेल के कर्मचारी क़ैदियों को पढ़ा रहे थे—"मेम साहब पूछें, तुम्हें क्या शिकायत है, तो सब लोग एक स्वर से कहना, हुज़ूर के प्रताप से हम बहुत सुखी हैं, और हुज़ूर के जान-माल की ख़ैर मनाते हैं। पूछें क्या चाहते हो, तो कहना, हुज़ूर की दिनोंदिन उन्नति हो, इसके सिवा हम कुछ नहीं चाहते। ख़बरदार, जो किसी ने सिर ऊपर उठाया, और कोई बात मुँह से निकाली, खाल उधेड़ ली जायगी।" क़ैदी फूले न समाते थे। आज मेम साहब की आमद की ख़ुशी में मिठाइयाँ मिलेंगी। एक दिन की छुट्टी होगी। भगवान् उन्हें सदा सुखी रक्खें कि हम अभागों पर इतनी दया करती हैं।

किंतु विनय के कमरे में अभी तक सफ़ाई नहीं हुई। नया कंबल पड़ा हुआ है, छुआ तक नहीं गया। कुरता ज्यों-का-त्यों तह किया हुआ रक्खा है, वह अपना पुराना कुरता ही पहने हुए है। उसके शरीर के एक-एक रोम से, मस्तिष्क के एक-एक अणु से, हृदय की एक-एक गति से यही आवाज़ आ रही है—"सोफ़िया! उसके सामने क्योंकर जाऊँगा?" उसने सोचना शुरू किया—"सोफ़िया यहाँ क्यों आ रही है? क्या मेरा अपमान करना चाहती है, सोफ़ी जो दया और प्रेम की सजीव मूर्ति थी! क्या वह मुझे क्लार्क के सामने बुलाकर पैरों से कुचलना चाहती है? इतनी निर्दयता, और मुझ-जैसे अभागे पर, जो आप ही अपने दिनों को रो रहा है! नहीं, वह इतनी वज्र-हृदया नहीं है, उसका हृदय इतना कठोर नहीं हो सकता। यह सब मि० क्लार्क की शरारत है, वह मुझे सोफ़ी के सामने लज्जित करना चाहते हैं, पर मैं उन्हें यह अवसर न

दूँगा, मैं उनके सामने जाऊँगा ही नहीं, मुझे बलात् ले जाए, जिसका जी चाहे। क्यों बहाना करूँ कि मैं बीमार हूँ? साफ़ कह दूँगा, मैं वहाँ नहीं जाता। अगर जेल का यह नियम है, तो हुआ करे, मुझे ऐसे नियम की परवा नहीं, जो बिलकुल निरर्थक है। सुनता हूँ, दोनो यहाँ एक सप्ताह तक रहना चाहते हैं, क्या प्रजा को पीस ही डालेंगे? अब भी तो मुश्किल से आधे आदमी बच रहे होंगे, सैकड़ों निकाल दिए गए, सैकड़ों जेल में ठूँस दिए गए, क्या इस क़स्बे को बिलकुल मिट्टी में मिला देना चाहते हैं?"

सहसा जेल का दारोग़ा आकर कर्कश स्वर में बोला—"तुमने कमरे की सफ़ाई नहीं की! अरे, तुमने तो अभी तक कुरता भी नहीं बदला, कंबल तक नहीं बिछाया! तुम्हें हुक्म मिला या नहीं?"

विनय—"हुक्म तो मिला; मैंने उसका पालन करना आवश्यक नहीं समझा।"

दारोग़ा ने और गरम होकर कहा—"इसका यही नतीजा होगा कि तुम्हारे साथ भी और क़ैदियों का-सा सलूक किया जाय। हम तुम्हारे साथ अब तक शराफ़त का बर्ताव करते आए हैं, इसलिये कि तुम एक प्रतिष्ठित रईस के लड़के हो, और यहाँ विदेश में आ पड़े हो। पर मैं शरारत नहीं बर्दाश्त कर सकता।"

विनय—"यह बतलाइए कि मुझे पोलिटिकल एजेंट के सामने तो न जाना पड़ेगा?"

दारोग़ा—"और यह कंबल और कुरता किसलिये दिया गया है। कभी और भी किसी ने यहाँ नया कंबल पाया है? तुम लोगों के तो भाग्य खुल गए।"

विनय—"अगर आप मुझ पर इतनी रियायत करें कि मुझे साहब के सामने जाने पर मजबूर न करें, तो मैं आपका हुक्म मानने को तैयार हूँ।"

दारोग़ा—"कैसी बेसिर-पैर की बातें करते हो जी, मेरा कोई अख़्तियार है? तुम्हें जाना पड़ेगा।"

विनय ने बड़ी नम्रता से कहा—"मैं आपका यह एहसान कभी न भूलूँगा।"

किसी दूसरे अवसर पर दारोग़ाजी शायद जामे से बाहर हो जाते, पर आज क़ैदियों को खुश रखना ज़रूरी था। बोले—"मगर भाई, यह रियायत करना मेरी शक्ति से बाहर है। मुझ पर न-जाने क्या आफ़त आ जाय। सरदार साहब मुझे कच्चा ही खा जायँगे। मेम साहब को जेलों को देखने की धुन है। बड़े साहब तो कर्मचारियों के दुश्मन हैं, मेम साहब उनसे भी बढ़-चढ़कर हैं। सच पूछो, तो जो कुछ हैं, वह मेम साहब ही हैं। साहब तो उनके इशारों के ग़ुलाम हैं। कहीं वह बिगड़ गईं, तो तुम्हारी मियाद तो दूनी ही हो जायगी, हम भी पिस जायँगे।"

विनय—"मालूम होता है, मेम साहब का बड़ा दबाव है।"

दारोग़ा—"दबाव! अजी, यह कहो कि मेम साहब ही पोलिटिकल एजेंट हैं। साहब तो केवल हस्ताक्षर करने-भर को हैं। नज़र-भेंट सब मेम साहब के ही हाथों में जाती है।"

विनय—"आप मेरे साथ इतनी रियायत कीजिए कि मुझे उनके सामने जाने के लिये मजबूर न कीजिए। इतने क़ैदियों में एक आदमी की कमी जान ही न पड़ेगी। हाँ, अगर वह मुझे नाम लेकर बुलाएँगी, तो मैं चला आऊँगा।"

दारोग़ा—"सरदार साहब मुझे जीता निगल जायँगे।"

विनय—"मगर करना आपको यही पड़ेगा। मैं अपनी ख़ुशी से कदापि न जाऊँगा।"

दारोग़ा—"मैं बुरा आदमी हूँ, मुझे दिक़ मत करो। मैंने इसी जेल में बड़े-बड़ों की गरदनें ढीली कर दी हैं।"

विनय—"अपने को कोसने का आपको अधिकार है; पर आप जानते हैं, मैं जब्र के सामने सिर झुकानेवाला नहीं हूँ।"

दारोग़ा—"भाई, तुम विचित्र प्राणी हो, उसके हुक्म से सारा शहर

खाली कराया जा रहा है, और फिर भी अपनी ज़िद किए जाते हो। लेकिन तुम्हें अपनी जान भारी हो, मुझे अपनी जान भारी नहीं है।"

विनय—"क्या, शहर खाली कराया जा रहा है ? यह क्यों ?"

दारोग़ा—"मेम साहब का हुक्म है, और क्या, जसवंतनगर पर उनका कोप है। जब से उन्होंने यहाँ की वारदातें सुनी हैं, मिज़ाज बिगड़ गया है। उनका बस चले, तो इसे खुदवाकर फेंक दें। हुक्म हुआ है कि एक सप्ताह तक कोई जवान आदमी क़स्बे में न रहने पाए। भय है कि कहीं उपद्रव न हो जाय, सदर से मदद माँगी गई है।"

दारोग़ा ने स्थिति को इतना बढ़ाकर बयान किया, इससे उनका उद्देश्य विनयसिंह पर प्रभाव डालना था, और उनका उद्देश्य पूरा हो गया। विनयसिंह को चिंता हुई कि कहीं मेरी अवज्ञा से क्रुद्ध होकर अधिकारियों ने मुझ पर और भी अत्याचार करने शुरू किए, और जनता को यह खबर मिली, तो वह बिगड़ खड़ी होगी, और उस दशा में मैं उन हत्याओं के पाप का भागी ठहरूँगा। कौन जाने, मेरे पीछे मेरे सहयोगियों ने लोगों को और भी उभार रक्खा हो, उनमें उद्दंड प्रकृति के युवकों की कमी नहीं है। नहीं, हालत नाज़ुक है। मुझे इस वक़्त धैर्य से काम लेना चाहिए। दारोग़ा से पूछा—"मेम साहब यहाँ किस वक़्त आएँगी।"

दारोग़ा—"उनके आने का कोई ठीक समय थोड़े ही है। धोखा देकर किसी ऐसे वक़्त आ पहुँचेंगी, जब हम लोग ग़ाफ़िल पड़े होंगे। इसी से तो कहता हूँ कि कमरे की सफ़ाई कर डालो ; कपड़े बदल लो; कौन जाने, आज ही आ जायँ।"

विनय—"अच्छी बात है; आप जो कुछ कहते हैं, सब कर लूँगा। अब आप निश्चिंत हो जायँ।"

दारोग़ा—"सलामी के वक़्त आने से इनकार तो न करोगे ?"

विनय—"जी नहीं; आप मुझे सबसे पहले आँगन में मौजूद पाएँगे।"

दारोगा—"मेरी शिकायत तो न करोगे ?"

विनय—"शिकायत करना मेरी आदत नहीं, इसे आप खूब जानते हैं।"

दारोगा चला गया। अँधेरा हो चला था। विनय ने अपने कमरे में झाड़ू लगाई, कपड़े बदले, कंबल बिछा दिया। वह कोई ऐसा काम नहीं करना चाहते थे, जिससे किसी की दृष्टि उनकी ओर आकृष्ट हो; वह अपनी निरपेक्षता से हुक्काम के संदेहों को दूर कर देना चाहते थे। भोजन का समय आ गया, पर मिस्टर क्लार्क ने पदार्पण न किया। अंत में निराश होकर दारोगा ने जेल के द्वार बंद कराए, और क़ैदियों को विश्राम करने का हुक्म दिया। विनय लेटे, तो सोचने लगे—सोफ़ी का यह रूपांतर क्योंकर हो गया ? वही लज्जा और विनय की मूर्ति, वही सेवा और त्याग की प्रतिमा आज निरंकुशता की देविनी बनी हुई है ! उसका हृदय कितना कोमल था, कितना दयाशील, उसके मनोभाव कितने उच्च और पवित्र थे, उसका स्वभाव कितना सरल था, उसकी एक-एक दृष्टि हृदय पर कालिदास की एक-एक उपमा की-सी चोट करती थी, उसके मुँह से जो शब्द निकलता था, वह दीपक की ज्योति की भाँति चित्त को आलोकित कर देता था, ऐसा मालूम होता था, केवल पुष्प-सुगंध से उसकी सृष्टि हुई है, कितना निष्कपट, कितना गंभीर, कितना मधुर सौंदर्य था ! वही सोफ़ी अब इतनी निर्दय हो गई है !

चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था, मानो कोई तूफ़ान आनेवाला है। आज जेल के आँगन में दारोगा के जानवर न बँधे थे, न बरामदों में घास के ढेर थे। आज किसी क़ैदी को जेल-कर्मचारियों के जूठे बरतन नहीं माँजने पड़े, किसी ने सिपाहियों की चंपी नहीं की। जेल के डॉक्टर की बुढ़िया महरी आज क़ैदियों को गालियाँ नहीं दे रही थी, और दफ़्तर में क़ैदियों से मिलनेवाले संबंधियों के नज़रानों का बाँट-बखरा न होता था। कमरों में दीपक थे, दरवाज़े भी खुले रक्खे गए थे। विनय के मन

में प्रश्न उठा, क्यों न भाग चलूँ। मेरे समझाने से कदाचित् लोग शांत हो जायँ। सदर से सेना आ रही है, ज़रा-सी बात पर विप्लव हो सकता है। अगर मैं शांति-स्थापन करने में सफल हुआ, तो वह मेरे इस अपराध का प्रायश्चित्त होगा। उन्होंने दबी हुई नज़रों से जेल की ऊँची दीवारों को देखा, कमरे से बाहर निकलने की हिम्मत न पड़ी। किसी ने देख लिया, तो? लोग यही समझेंगे कि मैं जनता को भड़काने के इरादे से भागने की चेष्टा कर रहा था।

इस हैस-बैस में रात कट गई। अभी कर्मचारियों की नींद भी न खुली थी कि मोटर की आवाज़ ने आगंतुकों की सूचना दी। दारोग़ा, डॉक्टर, वार्डर, चौकीदार हड़बड़ाकर निकल पड़े। पहली घंटी बजी, क़ैदी मैदान में निकल आए, उन्हें क़तारों में खड़े होने का हुक्म दिया गया, और उसी क्षण सोफ़िया, मिस्टर क्लार्क और सरदार नीलकंठ जेल में दाख़िल हुए।

सोफ़िया ने आते ही क़ैदियों पर निगाह डाली। उस दृष्टि में प्रतीक्षा न थी, उत्सुकता न थी, भय था, विकलता थी, अशांति थी। जिस आकांक्षा ने उसे बरसों रुलाया था, जो उसे यहाँ तक खींच लाई थी, जिसके लिये उसने अपने प्राणप्रिय सिद्धांतों का बलिदान किया था, उसी को सामने देखकर वह इस समय कातर हो रही थी, जैसे कोई परदेसी बहुत दिनों के बाद अपने गाँव में आकर अंदर क़दम रखते हुए डरता है कि कहीं कोई अशुभ समाचार कानों में न पड़ जाय। सहसा उसने विनय को सिर झुकाए खड़े देखा। हृदय में प्रेम का एक प्रचंड आवेग हुआ, नेत्रों में अँधेरा छा गया। घर वही था, पर उजड़ा हुआ, घास-पात से ढका हुआ, पहचानना मुश्किल था। वह प्रसन्न मुख कहाँ था, जिस पर कवित्त की सरलता बलि होती थी। वह पुरुषार्थ का-सा विशाल वक्ष कहाँ था। सोफ़ी के मन में अनिवार्य इच्छा हुई कि विनय के पैरों पर गिर पड़ूँ, उसे अश्रु-जल से धोऊँ, उसे गले से लगाऊँ। अकस्मात् विनयसिंह मूर्च्छित होकर गिर

पड़े, एक आर्त-ध्वनि थी, जो एक क्षण तक प्रवाहित होकर शोकावेग से निरशब्द हो गई। सोफ़ी तुरंत विनय के पास जा पहुँची। चारो तरफ़ शोर मच गया। जेल का डॉक्टर दौड़ा। दारोग़ा पागलों की भाँति उछल-कूद मचाने लगा—"अब नौकरी की ख़ैरियत नहीं। मेम साहब पूछेंगी, इसकी हालत इतनी नाज़ुक थी, तो इसे चिकित्सालय में क्यों नहीं रक्खा ; बड़ी मुसीबत में फँसा। इस भले आदमी को भी इसी वक़्त बेहोश होना था। कुछ नहीं, इसने दम साधा है, बना हुआ है, मुझे तबाह करने पर तुला हुआ है। बचा, जाने दो मेम साहब को, तो देखना, तुम्हारी ऐसी ख़बर लेता हूँ कि सारी बेहोशी निकल जाय, फिर कभी बेहोश होने का नाम ही न लो। यह आख़िर इसे हो क्या गया, किसी क़ैदी को आज तक यों मूर्च्छित होते नहीं देखा। हाँ, क़िस्सों में लोगों को बात-बात में बेहोश हो जाते पढ़ा है। मिर्गी का रोग होगा और क्या।"

दारोग़ा तो अपनी जान की ख़ैर मना रहा था, उधर सरदार साहब मिस्टर क्लार्क से कह रहे थे, यह वही युवक है, जिसने रियासत में ऊधम मचा रक्खा है। सोफ़ी ने डॉक्टर से घुड़ककर कहा, हट जाओ, और विनय को उठवाकर दफ़्तर में लाई। आज वहाँ बहुमूल्य ग़लीचे बिछे हुए थे। चाँदी की कुर्सियाँ थीं, मेज़ पर ज़री का मेज़पोश था, उस पर सुंदर गुलदस्ते थे। मेज़ पर जल-पान की सामग्रियाँ चुनी हुई थीं। तजवीज़ थी कि निरीक्षण के बाद साहब यहाँ नाश्ता करेंगे। सोफ़ी ने विनय को क़ालीन के फ़र्श पर लिटा दिया, और सब आदमियों को वहाँ से हट जाने का इशारा किया। उसकी करुणा और दया प्रसिद्ध थी, किसी को आश्चर्य न हुआ। जब कमरे में कोई न रहा, तो सोफ़ी ने खिड़कियों पर पर्दे डाल दिए, और विनय का सिर अपनी जाँघ पर रखकर अपना रूमाल उस पर झलने लगी। आँसू की गरम-गरम बूँदें उसकी आँखों से निकल-निकलकर विनय के मुख पर गिरने लगीं। इन जल-बिंदुओं में

कितनी प्राणप्रद शक्ति थी। उनमें उसकी समस्त मानसिक और आत्मिक शक्ति भरी हुई थी। एक-एक जल बिंदु उसके जीवन का एक-एक बिंदु था। विनयसिंह की आँखें खुल गईं। स्वर्ग का एक पुष्प, अक्षय, अपार सौरभ में नहाया हुआ, हवा के मृदुल झोंकों से हिलता, सामने विराज रहा था। सौंदर्य की सबसे मनोहर, सबसे मधुर छवि वह है, जब वह सजल शोक से आर्द्र होता है, वही उसका आध्यात्मिक स्वरूप होता है। विनय चौंककर उठे नहीं; यही तो प्रेमयोगियों की सिद्धि है, यही तो उनका स्वर्ग है, यही तो स्वर्ण-साम्राज्य है, यही तो उनकी अभिलाषाओं का अंत है, इस स्वर्गीय आनंद में तृप्ति कहाँ। विनय के मन में करुण भावना जाग्रत् हुई—"काश इसी भाँति प्रेम-शय्या पर लेटे हुए सदैव के लिये ये आँखें बंद हो जातीं! सारी आकांक्षाओं का लय हो जाता। मरने के लिये इससे अच्छा और कौन-सा अवसर होगा।"

एकाएक उन्हें याद आ गया, सोफ़ी को स्पर्श करना भी मेरे लिये वर्जित है। उन्होंने तुरंत अपना सिर उसकी जाँघ पर से खींच लिया, और अवरुद्ध कंठ से बोले—"मिसेज़ क्लार्क, आपने मुझ पर बड़ी दया की, इसके लिये आपका अनुगृहीत हूँ।"

सोफ़िया ने तिरस्कार की दृष्टि से देखकर कहा—"अनुग्रह गालियों के रूप में नहीं प्रकट किया जाता।"

विनय ने विस्मित होकर कहा—"ऐसा घोर अपराध मुझसे कभी नहीं हुआ।"

सोफ़िया—"ख़्वाहमख़्वाह किसी शख़्स के साथ मेरा संबंध जोड़ना गाली नहीं, तो क्या है!"

विनय—"मिस्टर क्लार्क?"

सोफ़िया—"क्लार्क को मैं तुम्हारी जूतियों का तस्मा खोलने के योग्य भी नहीं समझती।"

विनय—"लेकिन अम्माजी ने……।"

सोफ़िया—"तुम्हारी अम्माजी ने झूठ लिखा, और तुमने उस पर विश्वास करके मुझ पर घोर अन्याय किया। कोयल आम न पाकर भी निमकौड़ियों पर नहीं गिरती।"

इतने में क्लार्क ने आकर पूछा—"इस क़ैदी की क्या हालत है? डॉक्टर आ रहा है, वह इसकी दवा करेगा। चलो, देर हो रही है।"

सोफ़िया ने रुखाई से कहा—"तुम जाओ, मुझे फ़ुरसत नहीं।"

क्लार्क—"कितनी देर तक तुम्हारी राह देखूँ?"

सोफ़िया—"यह मैं नहीं कह सकती। मेरे विचार में एक मनुष्य की सेवा करना सैर करने से कहीं आवश्यक है।"

क्लार्क—"ख़ैर, मैं थोड़ी देर और ठहरूँगा।"

यह कहकर वह बाहर चले गए, तब सोफ़ी ने विनय के माथे से पसीना पोंछते हुए कहा—"विनय, मैं डूब रही हूँ, मुझे बचा लो। मैंने रानीजी की शंकाओं को निवृत्त करने के लिये यह स्वाँग रचा था।"

विनय ने अविश्वास-सूचक भाव से कहा—"तुम यहाँ क्लार्क के साथ क्यों आईं, और उनके साथ कैसे रहती हो?"

सोफ़िया का मुख-मंडल लज्जा से आरक्त हो गया। बोली—"विनय, यह मत पूछो, मगर मैं ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ, मैंने जो कुछ किया, तुम्हारे लिये किया। तुम्हें इस क़ैद से निकालने के लिये मुझे इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा। मैंने क्लार्क को प्रमाद में डाल रक्खा है। तुम्हारे ही लिये मैंने यह कपट-भेष धारण किया है। अगर तुम इस वक़्त कहो, सोफ़ी, तू मेरे साथ जेल में रह, तो मैं यहीं आकर तुम्हारे साथ रहूँगी। अगर तुम मेरा हाथ पकड़कर कहो, तू मेरे साथ चल, तो आज ही तुम्हारे साथ चलूँगी। मैंने तुम्हारा दामन पकड़ लिया है, और अब उसे किसी तरह नहीं छोड़ सकती, चाहे तुम ठुकरा ही क्यों न दो। मैंने आत्मसम्मान तक तुम्हें समर्पित कर दिया है। विनय, यह

ईश्वरीय विधान है, यह उसी की प्रेरणा है, नहीं तो इतना अपमान और उपहास सहकर तुम मुझे ज़िंदा न पाते।"

विनय ने सोफ़ी के दिल की थाह लेने के लिये कहा—"अगर यह ईश्वरीय विधान है, तो उसने हमारे और तुम्हारे बीच में यह दीवार क्यों खड़ी कर दी है?"

सोफ़िया—"यह दीवार ईश्वर ने नहीं खड़ी की, आदमियों ने खड़ी की है।"

विनय—"कितनी मज़बूत है!"

सोफ़िया—"हाँ, मगर दुर्भेद्य नहीं।"

विनय—"तुम इसे तोड़ सकोगी?"

सोफ़िया—"इसी क्षण, तुम्हारी आँखों के एक इशारे पर। कोई समय था, जब मैं उस दीवार को ईश्वर-कृत समझती थी, और उसका सम्मान करती थी; पर अब उसका यथार्थ स्वरूप देख चुकी। प्रेम इन बाधाओं की परवा नहीं करता, यह दैहिक संबंध नहीं, आत्मिक संबंध है।"

विनय ने सोफ़ी का हाथ अपने हाथ में लिया, और उसकी ओर प्रेम-विह्वल नेत्रों से देखकर बोले—"तो आज से तुम मेरी, और मैं तुम्हारा हूँ।"

सोफ़ी का मस्तक विनय के हृदय-स्थल पर झुक गया, और नेत्रों से जल-वर्षा होने लगी, जैसे काले बादल धरती पर झुककर एक क्षण में उसे तृप्त कर देते हैं। उसके मुख से एक शब्द भी न निकला, मौन रह गई। शोक की सीमा कंठावरोध है, पर शुष्क और दाह-युक्त; आनंद की सीमा भी कंठावरोध है, पर आर्द्र और शीतल। सोफ़ी को अब अपने एक-एक अंग में, नाड़ियों की एक-एक गति में, आंतरिक शक्ति का अनुभव हो रहा था। नौका ने कर्णधार का सहारा पा लिया था। अब उसका लक्ष्य निश्चित था। वह अब हवा के झोंकों या लहरों के प्रवाह के साथ डाँवा-डोल न होगी, वरन् सुव्यवस्थित रूप से अपने पथ पर चलेगी।

विनय भी दोनो पर खोले हुए आनंद के आकाश में उड़ रहे थे। वहाँ की वायु में सुगंध थी, प्रकाश में प्राण, किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व न था, जो देखने में अप्रिय, सुनने में कटु, छूने में कठोर और स्वाद में कड़ुई हो। वहाँ के फूलों में काँटे न थे, सूर्य में इतनी उष्णता न थी, ज़मीन पर व्याधियाँ न थीं, दरिद्रता न थी, चिंता न थी, कलह न था, एक व्यापक शांति का साम्राज्य था। सोफ़िया इस साम्राज्य की रानी थी, और वह स्वयं उसके प्रेम-सरोवर में विहार कर रहे थे। इस सुख-स्वप्न के सामने यह त्याग और तप का जीवन कितना नीरस, कितना निराशा-जनक था, यह अँधेरी कोठरी कितनी भयंकर !

सहसा क्लार्क ने फिर आकर कहा—"डार्लिंग, अब विलंब न करो, बहुत देर हो रही है, सरदार साहब आग्रह कर रहे हैं। डॉक्टर इस रोगी की ख़बर लेगा।"

सोफ़ी उठ खड़ी हुई, और विनय की ओर से मुँह फेरकर करुणा-कंपित स्वर में बोली—"घबराना नहीं, मैं कल फिर आऊँगी।"

विनय को ऐसा जान पड़ा, मानो नाड़ियों में रक्त सूखा जा रहा है। वह मर्माहत पक्षी की भाँति पड़े रहे। सोफ़ी द्वार तक आई, फिर रूमाल लेने के बहाने लौटकर विनय के कान में बोली—"मैं कल फिर आऊँगी, और तब हम दोनो यहाँ से चले जायँगे। मैं तुम्हारी तरफ़ से सरदार नीलकंठ से कह दूँगी कि वह क्षमा माँगते हैं।"

सोफ़ी के चले जाने के बाद भी वे आतुर, उन्मुक्त, प्रेम में डूबे हुए शब्द किसी मधुर संगीत के अंतिम स्वरों की भाँति विनय के कानों में गूँजते रहे। किंतु वह शीघ्र ही इहलोक में आने के लिये विवश हुआ। जेल के डॉक्टर ने आकर उसे दफ़्तर ही में एक पलँग पर लिटा दिया, और पुष्टिकारक औषधियाँ सेवन कराईं। पलँग पर नर्म बिछौना था, तकिए लगे थे, पंखा झला जा रहा था। दारोग़ा एक-एक क्षण में कुशल पूछने के लिये आता था, और डॉक्टर तो वहाँ से हटने का नाम ही न लेता था।

यहाँ तक कि विनय ने इन शुश्रूषाओं से तंग आकर डॉक्टर से कहा—"मैं बिलकुल अच्छा हूँ, आप अब जायँ, शाम को आइएगा।"

डॉक्टर साहब डरते-डरते बोले—"आपको ज़रा नींद आ जाय, तो मैं चला जाऊँ।"

विनय ने उन्हें विश्वास दिलाया कि आपके विदा होते ही मुझे नींद आ जायगी। डॉक्टर अपने अपराधों की क्षमा माँगते हुए चले गए। इसी बहाने से विनय ने दारोगा को भी खिसकाया, जो आज शील और दया के पुतले बने हुए थे। उन्होंने समझा था, मेम साहब के चले जाने के बाद इसकी खूब खबर लूँगा; पर वह अभिलाषा पूरी न हो सकी! सरदार साहब ने चलते समय जता दिया था कि इनके सेवा-सत्कार में कोई कसर न रखना, नहीं तो मेम साहब जहन्नुम भेज देंगी।

शांत विचार के लिये एकाग्रता उतनी ही आवश्यक है, जितनी ध्यान के लिये। वायु की गति तराज़ू के पलड़ों को बराबर नहीं होने देती। विनय को अब विचार हुआ—"अम्माजी को यह हाल मालूम हुआ, तो वह अपने मन में क्या कहेंगी। मुझसे उनकी कितनी मनोकामनाएँ संबद्ध हैं। सोफ़ी के प्रेम-पाश से बचाने के लिये उन्होंने मुझे निर्वासित किया, इसीलिये उन्होंने सोफ़ी को कलंकित किया। उनका हृदय टूट जायगा। दुःख तो पिताजी को भी होगा; पर वह मुझे क्षमा कर देंगे, उन्हें मानवीय-दुर्बलताओं से सहानुभूति है। अम्माजी में बुद्धि-ही-बुद्धि है; पिताजी में हृदय और बुद्धि दोनो ही हैं। लेकिन मैं इसे दुर्बलता क्यों कहूँ? मैं कोई ऐसा काम नहीं कर रहा हूँ, जो संसार में किसी ने न किया हो। संसार में ऐसे कितने प्राणी हैं, जिन्होंने अपने को जाति पर होम कर दिया हो? स्वार्थ के साथ जाति का ध्यान रखनेवाले महानुभावों ही ने अब तक जो कुछ किया है, किया है। जाति पर मर मिटनेवाले तो उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। फिर जिस जाति के अधिकारियों में न्याय और विवेक नहीं, प्रजा में उत्साह और चेष्टा नहीं, उसके लिये मर मिटना व्यर्थ

है। अंधों के आगे रोकर अपना दीदा खोने के सिवा और क्या हाथ आता है ?"

शनैः-शनैः भावनाओं ने जीवन की सुख-सामग्रियाँ जमा करनी शुरू कीं—"चलकर देहात में रहूँगा। वहीं एक छोटा-सा मकान बनवाऊँगा, साफ़, खुला हुआ, हवादार, ज़्यादा टीमटाम की ज़रूरत नहीं। वहीं हम दोनो सबसे अलग शांति निवास करेंगे। आडंबर बढ़ाने से क्या फ़ायदा। मैं बगीचे में काम करूँगा, क्यारियाँ बनाऊँगा, कलमें लगाऊँगा, और सोफ़ी को अपनी दक्षता से चकित कर दूँगा। गुलदस्ते बनाकर उसके सामने पेश करूँगा, और हाथ बाँधकर कहूँगा—सरकार, कुछ इनाम मिले। फूलों की डालियाँ लगाऊँगा, और कहूँगा—रानीजी, कुछ निगाह हो जाय। कभी-कभी सोफ़ी भी पौदों को सींचेगी। मैं तालाब से पानी भर-भर दूँगा। वह लाकर क्यारियों में डालेगी। उसका कोमल गात पसीने से और सुंदर वस्त्र पानी से भीग जायगा। तब किसी वृक्ष के नीचे उसे बैठाकर पंखा झलूँगा। कभी-कभी किश्ती में सैर करेंगे। देहाती डोंगी होगी, डाँड़े से चलनेवाली। मोटरबोट में वह आनंद कहाँ, वह उल्लास कहाँ! उसकी तेज़ी से सिर चकरा जाता है, उसके शोर से कान फट जाते हैं। मैं डोंगी पर डाँड़ा चलाऊँगा, सोफ़िया कमल के फूल तोड़ेगी। हम एक क्षण के लिये अलग न होंगे। कभी-कभी प्रभु सेवक भी आएँगे। ओह! कितना सुखमय जीवन होगा। फिर हम दोनों घर चलेंगे, जहाँ मंगल बाँहें फैलाए हमारा इंतज़ार कर रहा है।"

क्लार्क ने आज पहली बार आशा के विरुद्ध उत्तर दिया—"मूर्च्छा में बहुधा मुख पीला हो जाता है।"

सोफ़ी—"वही तो मैं भी कह रही हूँ कि उसकी दशा अच्छी नहीं, नहीं तो मूर्च्छा ही क्यों आती। अच्छा हो कि आप उसे किसी कुशल डॉक्टर के सिपुर्द कर दें। मेरे विचार में अब वह अपने अपराध की काफ़ी सज़ा पा चुका है, उसे मुक्त कर देना उचित होगा।"

नीलकंठ—"मेम साहब, उसकी सूरत पर न जाइए। आपको ज्ञात नहीं, यहाँ जनता पर उसका कितना प्रभाव है। वह रियासत में इतनी प्रचंड अशांति उत्पन्न कर देगा कि उसे दमन करना कठिन हो जायगा। बड़ा ही ज़िद्दी है, रियासत से बाहर जाने पर राज़ी ही नहीं होता।"

क्लार्क—"ऐसे विद्रोही को क़ैद रखना ही अच्छा है।"

सोफ़ी ने उत्तेजित होकर कहा—"मैं इसे घोर अन्याय समझती हूँ, और मुझे आज पहली बार यह मालूम हुआ कि तुम इतने हृदय-शून्य हो!"

क्लार्क—"मुझे तुम्हारा-जैसा दयालु हृदय रखने का दावा नहीं।"

सोफ़ी ने क्लार्क के मुख को जिज्ञासा की दृष्टि से देखा। यह गर्व, यह आत्मगौरव कहाँ से आया? तिरस्कार-भाव से बोली—"एक मनुष्य का जीवन इतनी तुच्छ वस्तु नहीं।"

क्लार्क—"साम्राज्य-रक्षा के सामने एक व्यक्ति के जीवन की कोई हस्ती नहीं। जिस दया से, जिस सहृदयता से किसी दीन प्राणी का पेट भरता हो, उसके शारीरिक कष्टों का निवारण होता हो, किसी दुखी जीव को सांत्वना मिलती हो, उसका मैं क़ायल हूँ, और मुझे गर्व है कि मैं उस संपत्ति से वंचित नहीं हूँ; लेकिन जो सहानुभूति साम्राज्य की जड़ खोखली कर दे, विद्रोहियों को सिर उठाने का अवसर दे, प्रजा में अराजकता का प्रचार करे, उसे मैं अदूरदर्शिता ही नहीं, पागलपन समझता हूँ।"

सोफ़ी के मुख-मंडल पर एक अमानुषीय तेजस्विता की आभा दिखाई

दी। पर उसने ज़ब्त किया। कदाचित् इतने धैर्य से उसने कभी काम नहीं लिया था। धर्मपरायणता को सहिष्णुता से वैर है। पर इस समय उसके मुँह से निकला हुआ एक अनर्गल शब्द भी उसके समस्त जीवन का सर्वनाश कर सकता था। नर्म होकर बोली—"हाँ, इसी विचार-दृष्टि से बेशक वैयक्तिक जीवन का कोई मूल्य नहीं रहता। मेरी निगाह इस पहलू पर न गई थी। मगर फिर भी इतना कह सकती हूँ कि अगर वह मुक्त कर दिया जाय, तो फिर इस रियासत में क़दम न रक्खेगा, और मैं यह निश्चय रूप से कह सकती हूँ कि वह अपनी बात का धनी है।"

नीलकंठ—"क्या आपसे उसने इसका वादा किया है?"

सोफ़ी—"हाँ, वादा ही समझिए, मैं उसकी ज़मानत कर सकती हूँ।"

नीलकंठ—"इतना तो मैं भी कह सकता हूँ कि वह अपने वचन से फिर नहीं सकता।"

क्लार्क—"जब तक उसका लिखित प्रार्थना-पत्र मेरे सामने न आए, मैं इस विषय में कुछ नहीं कर सकता।"

नीलकंठ—"हाँ, यह तो परमावश्यक ही है।"

सोफ़ी—"प्रार्थना-पत्र का विषय क्या होगा?"

क्लार्क—"सबसे पहले वह अपना अपराध स्वीकार करे, और अपनी राजभक्ति का विश्वास दिलाने के बाद हलफ़ लेकर कहे कि इस रियासत में फिर क़दम न रक्खूँगा। इसके साथ ज़मानत भी होनी चाहिए। या तो नक़द रुपए हों, या प्रतिष्ठित आदमियों की ज़मानत। तुम्हारी ज़मानत का मेरी दृष्टि में कितना ही महत्त्व हो, क़ायदे में उसका कुछ मूल्य नहीं।"

राज़ी कर लिया, तो यहाँ कौन प्रतिष्ठित आदमी उनकी ज़मानत करेगा? हाँ, उनके घर से नक़द रुपए आ सकते हैं; पर रानी साहब कभी इसे मंज़ूर न करेंगी। विनय को कितने ही कष्ट सहने पड़ें, उन्हें इन पर दया न आएगी। मज़ा तो जब है कि लिखित प्रार्थना-पत्र और ज़मानत की कोई शर्त ही न रहे। वह अवैध रूप से मुक्त कर दिए जायँ। इसके सिवा कोई उपाय नहीं।"

राजभवन विद्युत्-प्रकाश से ज्योतिर्मय हो रहा था। भवन के बाहर चारो तरफ़ सावन की काली घटा थी, और अथाह अंधकार। उस तिमिर-सागर में प्रकाशमय राजभवन ऐसा मालूम होता था, मानो नीले गगन पर चाँद निकला हो। सोफ़ी अपने सजे हुए कमरे में आईने के सामने बैठी हुई उन सिद्धियों को जगा रही है, जिनकी शक्ति अपार है—आज उसने मुद्दत के बाद बालों में फूल गूँथे हैं, फ़ीरोज़ी रेशम की साड़ी पहनी है, और कलाइयों में कंगन धारण किए हैं। आज पहली बार उसने उन लालित्य-प्रसारिणी कलाओं का प्रयोग किया है, जिनमें स्त्रियाँ निपुण होती हैं। यह मंत्र उन्हीं को आता है कि क्योंकर केशों की एक तड़प, अंचल की एक लहर चित्त को चंचल कर देती है। आज उसने मिस्टर क्लार्क के साम्राज्यवाद को विजय करने का निश्चय किया है, वह आज अपनी सौंदर्य-शक्ति की परीक्षा करेगी।

रिम-झिम बूँदें गिर रही थीं, मानो मौलसिरी के फूल झड़ रहे हों। बूँदों में एक मधुर स्वर था। राजभवन, पर्वत-शिखर के ऊपर, ऐसा मालूम होता था, मानो देवताओं ने आनंदोत्सव की महफ़िल सजाई है। सोफ़िया प्यानो पर बैठ गई, और एक दिल को मसोसनेवाला राग गाने लगी। जैसे ऊषा की स्वर्ण-छटा प्रस्फुटित होते ही प्रकृति के प्रत्येक अंग को सजग कर देती है, उसी भाँति सोफ़ी की पहली ही तान ने हृदय में एक चुटकी-सी ली। मिस्टर क्लार्क आकर एक कोच पर बैठ गए, और तन्मय होकर सुनने लगे, मानो किसी दूसरे ही संसार में पहुँच गए हैं। उन्हें

कभी कोई नौका उमड़े हुए सागर में झकोले खाती नज़र आती, जिस पर छोटी-छोटी सुंदर चिड़ियाँ मँडलाती थीं। कभी किसी अनंत वन में एक भिक्षुक, झोली कंधे पर रक्खे, लाठी टेकता हुआ नज़र आता। संगीत से कल्पना चित्रमय हो जाती है।

जब तक सोफ़ी गाती रही, मिस्टर क्लार्क बैठे सिर धुनते रहे। जब वह चुप हो गई, तो उसके पास गए, और उसकी कुर्सी की बाँहों पर हाथ रखकर, उसके मुँह के पास मुँह ले जाकर बोले—"इन उँगलियों को हृदय में रख लूँगा।"

सोफ़ी—"हृदय कहाँ है ?"

क्लार्क ने छाती पर हाथ रखकर कहा—"यहाँ तड़प रहा है।"

सोफ़ी—"शायद हो, मुझे तो विश्वास नहीं आता। मेरा तो ख़याल है, ईश्वर ने तुम्हें हृदय दिया ही नहीं।"

क्लार्क—"संभव है, ऐसा ही हो। पर ईश्वर ने जो कसर रक्खी थी, वह तुम्हारे मधुर स्वर ने पूरी कर दी। शायद उसमें सृष्टि करने की शक्ति है।"

सोफ़ी—"अगर मुझमें यह विभूति होती, तो आज मुझे एक अपरिचित व्यक्ति के सामने लज्जित न होना पड़ता।"

क्लार्क ने अधीर होकर कहा—"क्या मैंने तुम्हें लज्जित किया ? मैंने !"

सोफ़ी—"जी हाँ, आपने। मुझे आज तुम्हारी निर्दयता से जितना दुःख हुआ, उतना शायद और कभी न हुआ था। मुझे बाल्यावस्था से यह शिक्षा दी गई है कि प्रत्येक जीव पर दया करनी चाहिए, मुझे बताया गया है कि यही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। धार्मिक ग्रंथों में भी दया और सहानुभूति ही मनुष्य का विशेष गुण बतलाई गई है। पर आज विदित हुआ कि निर्दयता का महत्त्व दया से कहीं अधिक है। सबसे बड़ा दुःख मुझे इस बात का है कि अनजान आदमी के सामने मेरा अपमान हुआ।"

क्लार्क—"खुदा जानता है सोफ़ी, मैं तुम्हारा कितना आदर करता हूँ। हाँ, इसका खेद मुझे अवश्य है कि मैं तुम्हारी उपेक्षा करने के लिये बाध्य हुआ। इसका कारण तुम जानती ही हो। हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे, जब तक वह हमें अपना हितचिंतक, अपना रक्षक, अपना आश्रय समझती रहे, जब तक हमारे न्याय पर उसका अटल विश्वास हो। जिस दिन प्रजा के दिल से हमारे प्रति विश्वास उठ जायगा, उसी दिन हमारे साम्राज्य का अंत हो जायगा। अगर साम्राज्य को रखना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है, तो व्यक्तिगत भावों और विचारों का यहाँ कोई महत्त्व नहीं। साम्राज्य के लिये हम बड़े-से-बड़े नुक़सान उठा सकते हैं, बड़ी से-बड़ी तपस्याएँ कर सकते हैं। हमें अपना राज्य प्राणों से भी प्रिय है, और जिस व्यक्ति से हमें क्षति की लेश-मात्र भी शंका हो, उसे हम कुचल डालना चाहते हैं, उसका नाश कर देना चाहते हैं, उसके साथ किसी भाँति की रियायत, सहानुभूति, यहाँ तक कि न्याय का व्यवहार भी नहीं कर सकते।"

सोफ़ी—"अगर तुम्हारा ख़याल है कि मुझे साम्राज्य से इतना प्रेम नहीं, जितना तुम्हें है, और मैं उसके लिये इतने बलिदान नहीं कर सकती, जितने तुम कर सकते हो, तो तुमने मुझे बिलकुल नहीं समझा। मुझे दावा है, इस विषय में मैं किसी से जौ-भर भी पीछे नहीं। लेकिन यह बात मेरे अनुमान में भी नहीं आती कि दो प्रेमियों में कभी इतना मतभेद हो सकता है कि सहृदयता और सहिष्णुता के लिये गुंजाइश न रहे, और विशेषतः उस दशा में, जब कि दीवान के कानों के अतिरिक्त और कोई कान भी सुन रहा हो। दीवान देश-भक्ति के भावों से शून्य है; उसकी गहराई और उसके विस्तार से ज़रा भी परिचित नहीं। उसने तो यही समझा होगा कि जब इन दोनो में मेरे सम्मुख इतनी तकरार हो सकती है, तो घर पर न-जाने क्या दशा होगी। शायद आज से उसके दिल से मेरा सम्मान उठ गया। उसने औरों से भी यह वृत्तांत

कहा होगा। मेरी तो नाक-सी कट गई। समझते हो, मैं गा रही हूँ? यह गाना नहीं, रोना है। जब दांपत्य के द्वार पर यह दशा हो रही है, जहाँ फूलों से, हर्ष-नादों से, प्रेमालिंगनों से, मृदुल हास्य से मेरा अभिवादन होना चाहिए था, तो मैं अंदर क़दम रखने का क्योंकर साहस कर सकती हूँ? तुमने मेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। शायद तुम मुझे Sentimental समझ रहे होगे; पर अपने चरित्र को मिटा देना मेरे वश की बात नहीं। मैं अपने को धन्यवाद देती हूँ कि मैंने विवाह के विषय में इतनी दूर दृष्टि से काम लिया।"

यह कहते-कहते सोफ़ी की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। शोकाभिनय में भी बहुधा यथार्थ शोक की वेदना होने लगती है। मिस्टर क्लार्क खेद और असमर्थता का राग अलापने लगे; पर न उपयुक्त शब्द ही मिलते थे, न विचार। अश्रु-प्रवाह तर्क और शब्द-योजना के लिये निकलने का कोई मार्ग नहीं छोड़ता। बड़ी मुश्किल से उन्होंने कहा—"सोफ़ी, मुझे क्षमा करो, वास्तव में मैं न समझता था कि इस ज़रा-सी बात से तुम्हें इतनी मानसिक पीड़ा होगी।"

सोफ़ी—"इसकी मुझे कोई शिकायत नहीं। तुम मेरे गुलाम नहीं हो कि मेरे इशारों पर नाचो। मुझमें वे गुण ही नहीं, जो पुरुषों का हृदय खींच लेते हैं, न वह रूप है, न वह छवि है, न वह उद्दीपन-कला। नख़रे करना नहीं जानती, कोप-भवन में बैठना नहीं जानती। दुःख केवल इस बात का है कि उस आदमी ने तो मेरे एक इशारे पर मेरी बात मान ली, और तुम इतना अनुनय-विनय करने पर भी इनकार करते जाते हो। वह भी सिद्धांतवादी मनुष्य है; अधिकारियों की यंत्रणाएँ सहीं, अपमान सहा, कारागार की अँधेरी कोठरी में क़ैद होना स्वीकार किया, पर अपने वचन पर सुदृढ़ रहा। इससे कोई मतलब नहीं कि उसकी टेक जा थी या बेजा, वह उसे जा समझता था। वह जिस बात को न्याय समझता था, उससे भय या लोभ या दंड उसे विचलित नहीं कर सके। लेकिन जब मैंने

नरमी के साथ उसे समझाया कि तुम्हारी दशा चिंताजनक है, तो उसके मुख से ये करुण शब्द निकले—"मेम साहब, जान की तो परवा नहीं, अपने मित्रों और सहयोगियों की दृष्टि में पतित होकर ज़िंदा रहना श्रेय की बात नहीं; लेकिन आपकी बात नहीं टालना चाहता। आपके शब्दों में कठोरता नहीं, सहृदयता है, और मैं अभी तक भाव-विहीन नहीं हुआ हूँ।' मगर तुम्हारे ऊपर मेरा कोई मंत्र न चला। शायद तुम उससे बड़े सिद्धांतवादी हो, हालाँकि अभी इसकी परीक्षा नहीं हुई। ख़ैर, मैं तुम्हारे सिद्धांतों से सौतियाडाह नहीं करना चाहती। मेरी सवारी का प्रबंध कर दो, मैं कल ही चली जाऊँगी, और फिर अपनी नादानियों से तुम्हारे मार्ग का कंटक बनने न आऊँगी।"

मिस्टर क्लार्क ने घोर आत्मवेदना के साथ कहा—"डार्लिंग, तुम नहीं जानतीं, यह कितना भयंकर आदमी है। हम क्रांति से, षड्यंत्रों से, संग्राम से इतना नहीं डरते, जितना इस भाँति के धैर्य और धुन से। मैं भी मनुष्य हूँ—सोफ़ी, यद्यपि इस समय मेरे मुँह से यह दावा समयोचित नहीं, पर कम-से-कम उस पवित्र आत्मा के नाम पर, जिसका मैं एक अत्यंत दीन भक्त हूँ, मुझे यह कहने का अधिकार है—मैं उस युवक का हृदय से सम्मान करता हूँ। उसके दृढ़ संकल्प की, उसके साहस की, उसकी सत्यवादिता की दिल से प्रशंसा करता हूँ। जानता हूँ, वह एक ऐश्वर्यशाली पिता का पुत्र है, और राजकुमारों की भाँति आनंद-भोग में मग्न रह सकता है, पर उसके ये ही सद्गुण हैं, जिन्होंने उसे इतना अजेय बना रक्खा है। एक सेना का मुक़ाबला करना इतना कठिन नहीं, जितना ऐसे गिने-गिनाए व्रतधारियों का, जिन्हें संसार में कोई भय नहीं है। मेरा जाति-धर्म मेरे हाथ बाँधे हुए है।"

सोफ़ी को ज्ञात हो गया कि मेरी धमकी सर्वथा निष्फल नहीं हुई। विवशता का शब्द ज़बान पर, खेद का भाव मन में आया, और अनुमति की पहली मंज़िल पूरी हुई। उसे यह भी ज्ञात हुआ कि इस समय मेरे

हाव-भाव का इतना असर नहीं हो सकता, जितना बल-पूर्ण आग्रह का। सिद्धांतवादी मनुष्य हाव-भाव का प्रतिकार करने के लिये अपना दिल मज़बूत कर सकता है, वह अपने अंतःकरण के सामने अपनी दुर्बलता स्वीकार नहीं कर सकता, लेकिन दुराग्रह के मुक़ाबले में वह निष्क्रिय हो जाता है। तब उसकी एक नहीं चलती। सोफ़ी ने कटाक्ष करते हुए कहा—"अगर तुम्हारा जातीय कर्तव्य तुम्हें प्यारा है, तो मुझे भी आत्मसम्मान प्यारा है। स्वदेश की अभी तक किसी ने व्याख्या नहीं की; पर नारियों की मान-रक्षा उसका प्रधान अंग है, और होनी चाहिए, इससे तुम इनकार नहीं कर सकते।"

यह कहकर वह स्वामिनी-भाव से मेज़ के पास गई, और एक डाकेट का पत्र निकाला, जिस पर एजेंट आज्ञा-पत्र लिखा करता था।

क्लार्क—"क्या करती हो सोफ़ी? ख़ुदा के लिये ज़िद मत करो।"

सोफ़ी—"जेल के दारोग़ा के नाम हुक्म लिखूँगी।"

यह कहकर वह टाइपराइटर पर बैठ गई।

क्लार्क—"यह अनर्थ न करो सोफ़ी, ग़ज़ब हो जायगा।"

सोफ़ी—"मैं ग़ज़ब से क्या, प्रलय से भी नहीं डरती।"

सोफ़ी ने एक-एक शब्द का उच्चारण करते हुए आज्ञा-पत्र टाइप किया। उसने एक जगह जान-बूझकर एक अनुपयुक्त शब्द टाइप कर दिया, जिसे एक सरकारी पत्र में न आना चाहिए था। क्लार्क ने टोका—"यह शब्द मत रक्खो।"

सोफ़ी—"क्यों, धन्यवाद न दूँ?"

क्लार्क—"आज्ञा-पत्र में धन्यवाद का क्या ज़िक्र? कोई निजी थोड़े ही है।"

सोफ़ी—"हाँ, ठीक है, यह शब्द निकाले देती हूँ। नीचे क्या लिखूँ?"

क्लार्क—"नीचे कुछ लिखने की ज़रूरत नहीं। केवल मेरा हस्ताक्षर होगा।"

सोफ़ी ने संपूर्ण आज्ञा-पत्र पढ़कर सुनाया।

क्लार्क—"प्रिये, यह तुम बुरा कर रही हो।"

सोफ़ी—"कोई परवा नहीं, मैं बुरा ही करना चाहती हूँ। हस्ताक्षर भी टाइप कर दूँ? नहीं, (मुहर निकालकर) यह मुहर किए देती हूँ।"

क्लार्क—"जो चाहे, करो। जब तुम्हें अपनी ज़िद के आगे कुछ बुरा-भला नहीं सूझता, तो मैं क्या कहूँ?"

सोफ़ी—"कहीं और तो इसकी नक़ल न होगी?"

क्लार्क—"मैं कुछ नहीं जानता।"

यह कहकर मि० क्लार्क अपने शयन-गृह की ओर जाने लगे। सोफ़ी ने कहा—"आज इतनी जल्दी नींद आ गई?"

क्लार्क—"हाँ, थक गया हूँ, अब सोऊँगा। तुम्हारे इस पत्र से रियासत में तहलका पड़ जायगा।"

सोफ़ी—"अगर तुम्हें इतना भय है, तो मैं इस पत्र को फाड़े डालती हूँ। इतना नहीं गुदगुदाना चाहती कि हँसी के बदले रोना आ जाय। बैठते हो, या देखो, यह लिफ़ाफ़ा फाड़ती हूँ।"

क्लार्क कुर्सी पर उदासीन भाव से बैठ गए, और बोले—"लो बैठ गया, क्या कहती हो?"

सोफ़ी—"कहती कुछ नहीं हूँ, धन्यवाद का गीत सुनते जाओ।"

क्लार्क—"धन्यवाद की ज़रूरत नहीं।"

सोफ़ी ने फिर गाना शुरू किया, और क्लार्क चुपचाप बैठे सुनते रहे। उनके मुख पर करुण प्रेमाकांक्षा झलक रही थी। यह परख और परीक्षा कब तक? इस क्रीड़ा का कोई अंत भी है? इस आकांक्षा ने उन्हें साम्राज्य की चिंता से मुक्त कर दिया—आह! काश अब भी मालूम हो जाता कि तू इतनी बड़ी भेंट पाकर प्रसन्न हो गई! सोफ़ी ने उनकी प्रेमाग्नि को ख़ूब उद्दीप्त किया, और तब सहसा प्यानो बंद कर दिया, और बिना कुछ बोले हुए अपने शयनागार में चली गई। क्लार्क वहीं

बैठे रहे, जैसे कोई थका हुआ मुसाफ़िर अकेला किसी वृक्ष के नीचे बैठा हो।

सोफ़ी ने सारी रात भावी जीवन के चित्र खींचने में काटी, पर इच्छानुसार रंग न दे सकी। पहले रंग भरकर उसे ज़रा दूर से देखती, तो विदित होता, धूप की जगह छाँह है, छाँह की जगह धूप, लाल रंग का आधिक्य है, बाग़ में अस्वाभाविक रमणीयता, पहाड़ों पर ज़रूरत से ज़्यादा हरियाली, नदियों में अलौकिक शांति। फिर ब्रुश लेकर इन त्रुटियों को सुधारने लगती, तो सारा दृश्य ज़रूरत से ज़्यादा नीरस, उदास और मलिन हो जाता। उसकी धार्मिकता अब अपने जीवन में ईश्वरीय व्यवस्था का रूप देखती थी। अब ईश्वर ही उसका कर्णधार था, वह अपने कर्माकर्म के गुण-दोष से मुक्त थी।

प्रातःकाल वह उठी, तो मि० क्लार्क सो रहे थे। मूसलधार वर्षा हो रही थी। उसने शोफ़र को बुलाकर मोटर तैयार करने का हुक्म दिया, और एक क्षण में जेल की तरफ़ चली, जैसे कोई बालक पाठशाला से घर की तरफ़ दौड़े।

उसके जेल पहुँचते ही हलचल-सी पड़ गई। चौकीदार आँखें मलते हुए दौड़-दौड़कर वर्दियाँ पहनने लगे। दारोग़ाजी ने उतावली में उलटी अचकन पहनी, और बेतहाशा दौड़े। डॉक्टर साहब नंगे पाँव भागे, याद न आया कि रात को जूते कहाँ रक्खे थे, और इस समय तलाश करने की फ़ुरसत न थी। विनयसिंह बहुत रात गए सोए थे और अभी तक मीठी नींद के मज़े ले रहे थे। कमरे में जल-कणों से भीगी हुई वायु आ रही थी। नरम ग़लीचा बिछा हुआ था। अभी तक रात का लैंप न बुझा था, मानो विनय की व्यग्रता की साक्षी दे रहा था। सोफ़ी का रूमाल अभी तक विनय के सिरहाने पड़ा हुआ था, और उसमें से मनोहर सुगंध उड़ रही थी। दारोग़ा ने जाकर सोफ़ी को सलाम किया, और वह उन्हें लिए विनय के कमरे में आई। देखा, तो नींद में हैं। रात की मीठी

नींद से सुप्त पुष्प के समान विकसित हो गया है। ओठों पर हल्की-सी मुस्किराहट है, मानो फूल पर किरणें चमक रही हों। सोफ़ी को विनय आज तक कभी इतना सुंदर न मालूम हुआ था।

सोफ़ी ने डॉक्टर से पूछा—"रात को इसकी कैसी दशा थी?"

डॉक्टर—"हुज़ूर, कई बार मूर्च्छा आई; पर मैं एक क्षण के लिये भी यहाँ से न टला। जब इन्हें नींद आ गई, तो मैं भोजन करने चला गया। अब तो इनकी दशा बहुत अच्छी मालूम होती है।"

सोफ़ी—"हाँ, मुझे भी ऐसा ही मालूम होता है। आज वह पीला-पन नहीं है। मैं अब इससे यह पूछना चाहती हूँ कि इसे किसी दूसरी जेल में क्यों न भिजवा दूँ। यहाँ का जल-वायु इसके अनुकूल नहीं है। पर आप लोगों के सामने यह अपने मन की बातें न कहेगा। आप लोग ज़रा बाहर चले जायँ, तो मैं इसे जगाकर पूछ लूँ, और इसका ताप भी देख लूँ। (मुस्किराकर) डॉक्टर साहब, मैं भी इस विद्या से परिचित हूँ। नीम हकीम हूँ, पर खतरे-जान नहीं।"

जब कमरे में एकांत हो गया, तो सोफ़ी ने विनय का सिर उठाकर अपनी जाँघ पर रख लिया, और धीरे-धीरे उसका माथा सुहलाने लगी। विनय की आँखें खुल गईं। इस तरह झपटकर उठा, जैसे नींद में किसी नदी में फिसल पड़ा हो। स्वप्न का इतना तत्काल फल शायद ही किसी को मिला हो।

सोफ़ी ने मुस्किराकर कहा—"तुम अभी तक सो रहे हो; मेरी आँखों की तरफ़ देखो, रात-भर नहीं झपकीं।"

विनय—"संसार का सबसे उज्ज्वल रत्न पाकर भी मीठी नींद न लूँ, तो मुझसे भाग्य-हीन और कौन होगा?"

सोफ़ी—"मैं तो उससे भी उज्ज्वल रत्न पाकर और भी चिंताओं में फँस गई। अब यह भय है कि कहीं वह हाथ से न निकल जाय।

नींद का सुख अभाव में है, जब कोई चिंता नहीं होती। अच्छा, अब तैयार हो जाओ।"

विनय—"किस बात के लिये?"

सोफ़ी—"भूल गए? इस अंधकार से प्रकाश में आने के लिये, इस काल-कोठरी से विदा होने के लिये। मैं मोटर लाई हूँ, तुम्हारी मुक्ति का आज्ञा-पत्र मेरी जेब में है। कोई अपमान-सूचक शर्त नहीं है। केवल उदयपुर-राज्य में बिना आज्ञा के न आने की प्रतिज्ञा ली गई है। आओ, चलें। मैं तुम्हें रेल के स्टेशन तक पहुँचाकर लौट आऊँगी। तुम दिल्ली पहुँचकर मेरा इंतज़ार करना। एक सप्ताह के अंदर मैं तुमसे दिल्ली में आ मिलूँगी, और फिर विधाता भी हमें अलग न कर सकेगा।"

विनयसिंह की दशा उस बालक की-सी थी, जो मिठाइयों के ख़ोंचे को देखता है, पर इस भय से कि अम्मा मारेंगी, मुँह खोलने का साहस नहीं कर सकता। मिठाइयों के स्वाद याद करके उसकी राल टपकने लगती है। रसगुल्ले कितने रसीले हैं, मालूम होता है, दाँत किसी रसकुंड में फिसल पड़े। अमिर्तियाँ कितनी कुरकुरी हैं, उनमें भी रस भरा होगा। गुलाब-जामुन कितनी सोंधी होती है कि खाता ही चला जाय। मिठाइयों से पेट नहीं भर सकता। अम्मा पैसे न देंगी। होंगे ही नहीं, किससे माँगेंगी, ज़्यादा हठ करूँगा, तो रोने लगेंगी। सजल-नेत्र होकर बोला—"सोफ़ी, मैं भाग्य-हीन आदमी हूँ, मुझे इसी दशा में रहने दो। मेरे साथ अपने जीवन का सर्वनाश न करो। मुझे विधाता ने दुःख भोगने ही के लिये बनाया है। मैं इस योग्य नहीं कि तुम........।"

सोफ़ी ने बात काटकर कहा—"विनय, मैं विपत्ति ही की भूखी हूँ। अगर तुम सुख-संपन्न होते, अगर तुम्हारा जीवन विलासमय होता, अगर तुम वासनाओं के दास होते, तो कदाचित् मैं तुम्हारी तरफ़ से मुँह फेर लेती। तुम्हारे सत्साहस और त्याग ही ने मुझे तुम्हारी तरफ़ खींचा है।"

विनय—"अम्माजी को तुम जानती हो, वह मुझे कभी क्षमा न करेंगी।"

सोफ़ी—"तुम्हारे प्रेम का आश्रय पाकर मैं उनके क्रोध को शांत कर लूँगी। जब वह देखेंगी कि मैं तुम्हारे पैरों की ज़ंजीर नहीं, तुम्हारे पीछे उड़नेवाली रज हूँ, तो उनका हृदय पिघल जायगा।"

विनय ने सोफ़ी को स्नेह-पूर्ण नेत्रों से देखकर कहा—"तुम उनके स्वभाव से परिचित नहीं हो। वह हिंदू-धर्म पर जान देती हैं।"

सोफ़ी—"मैं भी हिंदू-धर्म पर जान देती हूँ। जो आत्मिक शांति मुझे और कहीं न मिली, वह गोपियों की प्रेम-कथा में मिल गई। वह प्रेम का अवतार, जिसने गोपियों को प्रेम-रस पान कराया, जिसने कुब्जा का डोंगा पार लगाया, जिसने प्रेम के रहस्य दिखाने के लिये ही संसार को अपने चरणों से पवित्र किया, उसी की चेरी बनकर जाऊँगी, तो वह कौन सच्चा हिंदू है, जो मेरी उपेक्षा करेगा?"

विनय ने मुस्किराकर कहा—"उस छलिया ने तुम पर भी जादू डाल दिया? मेरे विचार में तो कृष्ण की प्रेम-कथा सर्वथा भक्त-कल्पना है।"

सोफ़ी—"हो सकती है। प्रभु मसीह को भी तो कल्पित कहा जाता है। शेक्सपियर भी तो कल्पना-मात्र है। कौन कह सकता है कि कालिदास की सृष्टि पंचभूतों से हुई है? लेकिन इन पुरुषों के कल्पित होते हुए भी हम उनकी पवित्र कीर्ति के भक्त हैं, और वास्तविक पुरुषों की कीर्ति से अधिक। शायद इसीलिये कि उनकी रचना स्थूल परमाणु से नहीं, सूक्ष्म कल्पना से हुई है। ये व्यक्तियों के नाम हों या न हों, पर आदर्शों के नाम अवश्य हैं। इनमें से प्रत्येक पुरुष मानवीय जीवन का एक-एक आदर्श है।"

विनय—"सोफ़ी, मैं तुमसे तर्क में पार न पा सकूँगा। पर मेरा मन कह रहा है कि मैं तुम्हारी सरल हृदयता से अनुचित लाभ उठा रहा हूँ। मैं तुमसे हृदय की बात कहता हूँ सोफ़ी, तुम मेरा यथार्थ रूप नहीं देख

रही हो। कहीं उस पर निगाह पड़ जाय, तो तुम मेरी तरफ़ ताकना भी पसंद न करोगी। तुम मेरे पैरों की ज़ंजीर चाहे न बन सको, पर मेरी दबी हुई आग को जगानेवाली हवा अवश्य बन जाओगी। माताजी ने बहुत सोच-समझकर मुझे यह मत दिया है। मुझे भय होता है कि एक बार मैं इस बंधन से मुक्त हुआ, तो वासना मुझे इतने वेग से बहा ले जायगी कि फिर शायद मेरे अस्तित्व का पता ही न चले। सोफ़ी, मुझे इस कठिनतम परीक्षा में न डालो। मैं यथार्थ में बहुत दुर्बल-चरित्र, विषय-सेवी प्राणी हूँ। तुम्हारी नैतिक विशालता मुझे भयभीत कर रही है। हाँ, मुझ पर इतनी दया अवश्य करो कि आज यहाँ से किसी दूसरी जगह प्रस्थान कर दो।"

सोफ़ी—"क्या मुझसे इतनी दूर भागना चाहते हो?"

विनय—"नहीं-नहीं, इसका और ही कारण है। न-जाने क्योंकर यह विज्ञप्ति निकल गई है कि जसवंतनगर एक सप्ताह के लिये ख़ाली कर दिया जाय। कोई जवान आदमी क़स्बे में न रहने पाए। मैं तो समझता हूँ, सरदार साहब ने तुम्हारी रक्षा के लिये यह व्यवस्था की है; पर लोग तुम्हीं को बदनाम कर रहे हैं।"

सोफ़ी और क्लार्क का परस्पर तर्क-वितर्क सुनकर सरदार नीलकंठ ने तत्काल यह हुक्म जारी कर दिया था। उन्हें निश्चय था कि मेम साहब के सामने साहब की एक न चलेगी, और विनय को छोड़ना पड़ेगा। इसलिये पहले ही से शांति-रक्षा का उपाय करना आवश्यक था। सोफ़ी ने विस्मित होकर पूछा—"क्या ऐसा हुक्म दिया गया है?"

विनय—"हाँ, मुझे ख़बर मिली है। कोई चपरासी कहता था।"

सोफ़ी—"मुझे ज़रा भी ख़बर नहीं। मैं अभी जाकर पता लगाती हूँ, और इस हुक्म को मंसूख़ करा देती हूँ। ऐसी ज़्यादती रियासतों के सिवा और कहीं नहीं हो सकती। यह सब तो हो जायगा, पर तुम्हें अभी मेरे साथ चलना पड़ेगा।"

विनय—"नहीं सोफ़ी, मुझे क्षमा करो। दूर का सुनहरा दृश्य समीप आकर बालू का मैदान हो जाता है। तुम मेरे लिये आदर्श हो। तुम्हारे प्रेम का आनंद मैं कल्पना ही द्वारा ले सकता हूँ। डरता हूँ कि तुम्हारी दृष्टि में गिर न जाऊँ। अपने को कहाँ तक गुप्त रक्खूँगा? तुम्हें पाकर फिर मेरा जीवन नीरस हो जायगा, मेरे लिये उद्योग और उपासना की कोई वस्तु न रह जायगी। सोफ़ी, मेरे मुँह से न-जाने क्या-क्या अनर्गल बातें निकल रही हैं। मुझे स्वयं संदेह हो रहा है कि मैं अपने होश में हूँ या नहीं। भिक्षुक राज-सिंहासन पर बैठकर अस्थिर-चित्त हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। मुझे यहीं पड़ा रहने दो। मेरी तुमसे यही अंतिम प्रार्थना है कि मुझे भूल जाओ।"

सोफ़ी—"मेरी स्मरण-शक्ति इतनी शिथिल नहीं है।"

विनय—"कम-से-कम मुझे यहाँ से जाने के लिये विवश न करो; क्योंकि मैंने निश्चय कर लिया है, मैं यहाँ से न जाऊँगा। क़स्बे की दशा देखते हुए मुझे विश्वास नहीं है कि मैं जनता को क़ाबू में रख सकूँगा।"

सोफ़ी ने गंभीर भाव से कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। मैं तुम्हें जितना सरल-हृदय समझती थी, तुम उससे कहीं बढ़कर कूटनीतिज्ञ हो। मैं तुम्हारा आशय समझती हूँ, और इसीलिये कहती हूँ, जैसी तुम्हारी इच्छा। पर शायद तुम्हें मालूम नहीं कि युवती का हृदय बालक के समान होता है। उसे जिस बात के लिये मना करो, उसी तरफ़ लपकेगा। अगर तुम आत्मप्रशंसा करते, अपने कृत्यों की अप्रत्यक्ष रूप से डींग मारते, तो शायद मुझे तुमसे अरुचि हो जाती। अपनी त्रुटियों और दोषों का प्रदर्शन करके तुमने मुझे और भी वशीभूत कर लिया। तुम मुझसे डरते हो, इसलिये तुम्हारे सम्मुख न आऊँगी, पर रहूँगी तुम्हारे ही साथ। जहाँ-जहाँ तुम जाओगे, मैं परछाईं की भाँति तुम्हारे साथ रहूँगी। प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना ही से उसका पोषण होता

है, भावना ही से वह जीवित रहता है, और भावना ही से लुप्त हो जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। तुम मेरे हो, यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सतृष्ण रखने के लिये काफ़ी है। जिस दिन इस विश्वास की जड़ हिल जायगी, उसी दिन इस जीवन का अंत हो जायगा। अगर तुमने यही निश्चय किया है कि इस कारागार में रहकर तुम अपने जीवन के उद्देश्य को अधिक सफलता के साथ पूरा कर सकते हो, तो इस फ़ैसले के आगे सिर झुकाती हूँ। इस विराग ने मेरी दृष्टि में तुम्हारे आदर को कई गुना बढ़ा दिया है। अब जाती हूँ। कल शाम को फिर आऊँगी। मैंने इस आज्ञा-पत्र के लिये जितना त्रिया-चरित्र खेला है, वह तुमसे बता दूँ, तो तुम आश्चर्य करोगे। तुम्हारी एक 'नहीं' ने मेरे सारे प्रयास पर पानी फेर दिया। क्लार्क कहेगा, मैं कहता था, वह राज़ी न होगा, कदाचित् व्यंग्य करे; पर कोई चिंता नहीं, कोई बहाना कर दूँगी।"

यह कहते-कहते सोफ़ी के सतृष्ण अधर विनयसिंह की तरफ़ झुके, पर वह काई पर फिसलनेवाले मनुष्य की भाँति गिरते-गिरते सँभल गई। धीरे से विनयसिंह का हाथ दबाया, और द्वार की ओर चली; पर बाहर जाकर फिर लौट आई, और अत्यंत दीन भाव से बोली—"विनय, तुमसे एक बात पूछती हूँ। मुझे आशा है, तुम साफ़-साफ़ बतला दोगे। मैं क्लार्क के साथ यहाँ आई, उससे कौशल किया, उसे झूठी आशाएँ दिलाईं, और अब उसे मुग़ालते में डाले हुए हूँ। तुम इसे अनुचित तो नहीं समझते, तुम्हारी दृष्टि में मैं कलंकिनी तो नहीं हूँ?"

विनय के पास इसका ही संभावित उत्तर था। सोफ़ी का आचरण उसे आपत्ति-जनक प्रतीत होता था। उसे देखते ही उसने इस बात को आश्चर्य के रूप में प्रकट भी किया था। पर इस समय वह इस भाव को प्रकट न कर सका। यह कितना बड़ा अन्याय होता, कितनी घोर निर्दयता! वह जानता था कि सोफ़ी ने जो कुछ किया है, वह एक धार्मिक तत्त्व के

अधीन होकर। वह इसे ईश्वरीय प्रेरणा समझ रही है। अगर ऐसा न होता, तो शायद अब तक वह हताश हो गई होती। ऐसी दशा में कठोर सत्य वज्राघात के समान होता। श्रद्धा-पूर्ण तत्परता से बोले—"सोफ़ी, तुम यह प्रश्न करके अपने ऊपर और उससे अधिक मेरे ऊपर अन्याय कर रही हो। मेरे लिये तुमने अब तक त्याग ही-त्याग किए हैं; सम्मान, समृद्धि, सिद्धांत, एक की भी परवा नहीं की। संसार में मुझसे बढ़कर कृतघ्न और कौन प्राणी होगा, जो मैं इस अनुराग का निरादर करूँ!"

यह कहते-कहते वह रुक गए। सोफ़ी बोली—"कुछ और कहना चाहते हो, रुक क्यों गए? यही न कि तुम्हें मेरा क्लार्क के साथ रहना अच्छा नहीं लगता। जिस दिन मुझे निराशा हो जायगी कि मैं मिथ्याचरण से तुम्हारा कुछ उपकार नहीं कर सकती, उसी दिन मैं क्लार्क को पैरों से ठुकरा दूँगी। इसके बाद तुम मुझे प्रेम-योगिनी के रूप में देखोगे, जिसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होगा तुम्हारे ऊपर समर्पित हो जाना।"

नायकराम मुहल्लेवालों से विदा होकर उदयपुर रवाना हुए। रेल के मुसाफ़िरों को बहुत जल्द उनसे श्रद्धा हो गई। किसी को तंबाकू मलकर खिलाते, किसी के बच्चे को गोद में लेकर प्यार करते। जिस मुसाफ़िर को देखते, जगह नहीं मिल रही है, इधर-उधर भटक रहा है, जिस कमरे में जाता है, धक्के खाता है, उसे बुलाकर अपनी बग़ल में बैठा लेते। फिर ज़रा देर में उससे सवालों का ताँता बाँध देते—"कहाँ मकान है? कहाँ जाते हो? कितने लड़के हैं? क्या कारोबार होता है?" इन प्रश्नों का अंत इस अनुरोध पर होता कि "मेरा नाम नायकराम पंडा है, जब कभी कासी आओ, मेरा नाम पूछ लो, बच्चा-बच्चा जानता है, दो दिन, चार दिन, महीने, दो महीने, जब तक इच्छा हो, आराम से कासीबास करो; घर-द्वार, नौकर-चाकर, सब हाजिर हैं, घर का-सा आराम पाओगे; वहाँ से चलते समय जो चाहो, दे दो, न हो, न दो, घर आकर भेज दो, इसकी कोई चिंता नहीं; यह कभी मत सोचो, अभी रुपए नहीं हैं, फिर चलेंगे, सुभ काज के लिये महूरत नहीं देखा जाता, रेल का किराया लेकर चल खड़े हो, कासी में तो मैं हूँ ही, किसी बात की तकलीफ न होगी, काम पड़ जाय, तो जान लड़ा दें, तीरथ-जात्रा के लिये टालमटोल मत करो, कोई नहीं जानता, कब बड़ी जात्रा करनी पड़ जाय, संसार के झगड़े तो सदा लगे ही रहेंगे।"

दिल्ली पहुँचे, तो कई नए मुसाफ़िर गाड़ी में आए। आर्य-समाज के किसी उत्सव में जा रहे थे। नायकराम ने उनसे भी वही जिरह शुरू की। यहाँ तक कि एक महाशय गर्म होकर बोले—"तुम हमारे बाप दादे का नाम पूछकर क्या करोगे? हम तुम्हारे फंदे में फँसनेवाले नहीं हैं।

यहाँ गंगाजी के क़ायल नहीं, और न काशी ही को स्वर्गपुरी समझते हैं।"

नायकराम ज़रा भी हताश नहीं हुए, मुस्किराकर बोले—"बाबूजी, आप आरिया होकर ऐसा कहते हैं! आरिया लोगों ही ने तो हिंदू-धरम की लाज रक्खी, नहीं तो अब तक सारा देस मुसलमान-किरसतान हो गया होता। हिंदू-धरम के उद्धारक होकर आप कासी को भला कैसे न मानेंगे! इसी नगरी में राजा हरिसचंद की परीक्षा हुई थी, यहीं बुद्ध भगवान ने अपना धरम-चक्र चलाया था, यहीं संकर भगवान ने मंडल मिसिर से सास्त्रार्थ किया था, यहाँ जैनी आते हैं, बौध आते हैं, वैस्नव आते हैं, यह हिंदुओं की नगरी नहीं है, सारे संसार की नगरी यही है। दूर-दूर के लोग भी जब तक कासीजी के दरसन न कर लें, उनकी जात्रा सुफल नहीं होती। गंगाजी मुकुत देती हैं, पाप काटती हैं, यह सब तो गँवारों को बहलाने की बातें हैं, उनसे कहो कि चलकर उस पवित्र नगरी को देख आओ, जहाँ क़दम-क़दम पर आरिया-जाति के निसान मिलते हैं, जिसका नाम लेते ही सैकड़ों महात्माओं, रिसियों-मुनियों की याद आ जाती है, तो उनकी समझ में यह बात न आएगी। पर जथारथ में बात यही है। कासी का महातम इसीलिये है कि वह आरिया-जाति की जीती-जागती पुरान है।"

इन महाशयों को फिर काशी की निंदा करने का साहस न हुआ। वे मन में लज्जित हुए, और नायकराम के धार्मिक ज्ञान के कायल हो गए, हालाँकि नायकराम ने ये थोड़े से वाक्य ऐसे ही अवसरों के लिये किसी व्याख्याता के भाषण से सुनकर रट लिए थे।

रेल के स्टेशनों पर वह ज़रूर उतरते और रेल के कर्मचारियों का परिचय प्राप्त करते। कोई उन्हें पान खिला देता, कोई जल-पान करा देता। सारी यात्रा समाप्त हो गई, पर वह लेटे तक नहीं, ज़रा भी आँख नहीं झपकी। जहाँ दो मुसाफ़िरों को लड़ते-झगड़ते देखते, तुरंत तीसरे

बन जाते, और उनमें मेल करा देते। तीसरे दिन वह उदयपुर पहुँच गए, और रियासत के अधिकारियों से मिलते-जुलते, घूमते-घामते जसवंत-नगर में दाख़िल हुए, देखा, मिस्टर क्लार्क का डेरा पड़ा हुआ है। बाहर से आने-जानेवालों की बड़ी जाँच-पड़ताल होती है, नगर का द्वार बंद-सा है, लेकिन पंडे को कौन रोकता? क़स्बे में पहुँचकर सोचने लगे, विनयसिंह से क्योंकर मुलाक़ात हो? रात को तो धर्मशाले में ठहरे, सबेरा होते ही जेल के दारोग़ा के मकान पर जा पहुँचे। दारोग़ाजी सोफ़ी को विदा करके आए थे, और नौकर से बिगड़ रहे थे कि तूने हुक़्क़ा क्यों नहीं भरा, इतने में बरामदे में पंडाजी की आहट पाकर बाहर निकल आए। उन्हें देखते ही नायकराम ने गंगा-जल की शीशी निकाली, और उनके सिर पर जल छिड़क दिया।

दारोग़ाजी ने अन्यमनस्क होकर कहा—"कहाँ से आते हो?"

नायकराम—"महाराज, अस्थान तो परागराज है; पर आ रहा हूँ बड़ी दूर से। इच्छा हुई, इधर भी जजमानों को आसीरबाद देता चलूँ।"

दारोग़ाजी का लड़का, जिसकी उम्र अभी चौदह पंद्रह वर्ष की थी, निकल आया। नायकराम ने उसे नख से शिख तक बड़े ध्यान से देखा, मानो उसके दर्शनों से हार्दिक आनंद प्राप्त हो रहा है, और तब दारोग़ा-जी से बोले—"यह आपके चिरंजीव पुत्र हैं न? पिता-पुत्र की सूरत कैसी मिलती है कि दूर ही से पहचान जाय। छोटे ठाकुर साहब, क्या पढ़ते हो?"

लड़के ने कहा—"अँगरेज़ी पढ़ता हूँ।"

नायकराम—"यह तो मैं पहले ही समझ गया था। आजकल तो इसी विद्या का दौरदौरा है, राजविद्या ठहरी। किस दफ़े में पढ़ते हो भैया?"

दारोग़ा—"अभी तो हाल ही में अँगरेज़ी शुरू की है, उस पर भी पढ़ने में मन नहीं लगाते, अभी थोड़ी ही पढ़ी है।"

लड़के ने समझा, मेरा अपमान हो रहा है। बोला—"तुमसे तो ज़्यादा ही पढ़ा हूँ।"

नायकराम—"इसकी कोई चिंता नहीं, सब आ जायगा, अभी इनकी औरथा ही क्या है। भगवान की इच्छा होगी, तो कुल का नाम रोसन कर देंगे। आपके घर पर कुछ जगह-जमीन भी है?"

दारोग़ाजी ने अब समझा। बुद्धि बहुत तीक्ष्ण न थी। अकड़कर कुर्सी पर बैठ गए, और बोले—"हाँ, चित्तौर के इलाक़े में कई गाँव हैं। पुरानी जागीर है। मेरे पिता महाराना के दरबारी थे। हल्दी-घाटी की लड़ाई में राना प्रताप ने मेरे पूर्वज को यह जागीर दी थी। अब भी मुझे दरबार में कुर्सी मिलती है, और पान-इलायची से सत्कार होता है। कोई कार्य-प्रयोजन होता है, तो महाराना के यहाँ से आदमी आता है। बड़ा लड़का मरा था, तो महाराना ने शोकपत्र भेजा था।"

नायकराम—"जागीरदारों का क्या कहना। जो जागीरदार, वही राजा, नाम का फरक है। असली राजा तो जागीरदार ही होते हैं, राना तो नाम के हैं।"

दारोग़ा—"बराबर राजकुल से आना-जाना लगा रहता है।"

नायकराम—"अभी इनकी कहीं बातचीत तो नहीं हो रही है?"

दारोग़ा—"अजी, लोग जान तो खा रहे हैं, रोज़ एक-न-एक जगह से सँदेसा आता रहता है; पर मैं सबों को टका-सा जवाब दे देता हूँ। जब तक लड़का पढ़-लिख न ले, तब तक उसका विवाह कर देना नादानी है।"

नायकराम—"यह आपने पक्की बात कही। जथारथ में ऐसा ही होना चाहिए। बड़े आदमियों की बुद्धि भी बड़ी ही होती है। पर लोक-रीति पर चलना ही पड़ता है। अच्छा, अब आज्ञा दीजिए, कई जगह जाना है। जब तक मैं लौटकर न आऊँ, किसी को जबान न दीजिएगा। ऐसी कन्या आपको न मिलेगी, और न ऐसा उत्तम कुल ही पाइएगा।"

दारोग़ा—"वाह-वाह! इतनी जल्द चले जाइएगा? कम-से-कम भोजन तो कर लीजिए। कुछ हमें भी तो मालूम हो कि आप किसका सँदेसा लाए हैं? वह कौन हैं, कहाँ रहते हैं?"

नायकराम—"सब कुछ मालूम हो जायगा, पर अभी बताने का हुकुम नहीं है।"

दारोग़ा ने लड़के से कहा—"तिलक, अंदर जाओ, पंडितजी के लिये पान बनवा लाओ, कुछ नाश्ता भी लेते आना।"

यह कहकर तिलक के पीछे-पीछे ख़ुद अंदर गए, और गृहिणी से बोले—"लो, कहीं से तिलक के ब्याह का सँदेसा आया है। पान तश्तरी में भेजना। नश्ते के लिये कुछ नहीं है? वह तो मुझे पहले ही मालूम था। घर में कितनी ही चीज़ आए, दुबारा देखने को नहीं मिलती। न-जाने कहाँ के मरभुखे जमा हो गए हैं। अभी कल ही एक क़ैदी के घर से मिठाइयों का पूरा थाल आया था, क्या हो गया?"

स्त्री—"इन्हीं लड़कों से पूछो, क्या हो गया। मैं तो हाथ से छूने की भी क़सम खाती हूँ। यह कोई संदूक़ में बंद करके रखने की चीज़ तो है नहीं। जिसका जब जी चाहता है, निकालकर खाता है। कल से किसी ने रोटियों की ओर नहीं ताका।"

दारोग़ा—"तो आख़िर तुम किस मरज़ की दवा हो। तुमसे इतना भी नहीं हो सकता कि जो चीज़ घर में आए, उसे यत्न से रक्खो, हिसाब से ख़र्च करो। वह लौंडा कहाँ गया?"

स्त्री—"तुम्हीं ने तो अभी उसे डाँटा था, बस चला गया। कह गया है कि घड़ी-घड़ी की डाँट-फटकार बरदाश्त नहीं हो सकती।"

दारोग़ा—"यह और मुसीबत हुई। ये छोटे आदमी दिन-दिन सिर चढ़ते जाते हैं, कोई कहाँ तक इनकी ख़ुशामद करे, अब कौन बाज़ार से मिठाइयाँ लाए? आज तो किसी सिपाही को भी नहीं भेज सकता, न-जाने सिर से कब यह बला टलेगी! तुम्हीं चले जाओ तिलक!"

तिलक—"शर्बत क्यों नहीं पिला देते ?"

स्त्री—"शक्कर भी तो नहीं है। चले क्यों नहीं जाते ?"

तिलक—"हाँ, चले क्यों नहीं जाते ! लोग देखेंगे, हज़रत मिठाई लिए जाते हैं !"

दारोग़ा—"तो इसमें क्या ग्लानी है, किसी के घर चोरी तो नहीं कर रहे हो। बुरे काम से लजाना चाहिए, अपना काम करने में क्या लाज ?"

तिलक यों तो लाख सिर पटकने पर भी बाज़ार न जाते, पर इस वक़्त अपने विवाह की ख़ुशी थी, चले गए। दारोग़ाजी ने तश्तरी में पान रक्खे, और नायकराम के पास लाए।

नायकराम—"सरकार, आपके घर पान नहीं खाऊँगा।"

दारोग़ा—"अजी, अभी क्या हरज है, अभी तो कोई बात भी नहीं हुई।"

नायकराम—"मेरा मन बैठ गया, तो सब ठीक समझिए।"

दारोग़ा—"यह तो आपने बुरी पख लगाई। यह बात नहीं हो सकती कि आप हमारे द्वार पर आएँ, और हम बिना यथेष्ट आदर-सत्कार किए आपको जाने दें। मैं तो मान भी जाऊँगा, पर तिलक की मा किसी तरह राज़ी न होंगी।"

नायकराम—"इसी से मैं यह सँदेसा लेकर आने से इनकार कर रहा था। जिस भले आदमी के द्वार पर जाइए, वह भोजन और दच्छिना के बग़ैर गला नहीं छोड़ता। इसी से तो आजकल कुछ लबाड़ियों ने वर खोजने को व्यौसाय बना लिया है। इससे यह काम करते हुए और भी संकोच होता है।"

दारोग़ा—"ऐसे धूर्त यहाँ नित्य ही आया करते हैं, पर मैं तो पानी को भी नहीं पूछता। जैसा मुँह होता है, वैसा बीड़ा मिलता है। यहाँ तो आदमी को एक नज़र देखा, और उसकी नस-नस पहचान गया। आप यों न जाने पाएँगे।"

नायकराम—"मैं जानता कि आप इस तरह पीछे पड़ जायँगे, तो लवाड़ियों ही की-सी बातचीत करता। गला तो छूट जाता।"

दारोगा—"यहाँ ऐसा अनाड़ी नहीं हूँ, उड़ती चिड़िया पहचानता हूँ।"

नायकराम डट गए। दोपहर होते-होते बच्चे-बच्चे से उनकी मैत्री हो गई। दारोगाइन ने भी पालागन कहला भेजा। इधर से भी आशीर्वाद दिया गया। दारोगा तो दस बजे दफ़्तर चले गए। नायकराम के लिये घर में पूरियाँ-कचौरियाँ, रायता, दही, चटनी, हलवा बड़ी विधि से बनाया गया। पंडितजी ने भीतर जाकर भोजन किया। स्वामिनी ने स्वयं पंखा झला। फिर तो उन्होंने और भी रंग जमाया। लड़के-लड़कियों के हाथ देखे। दारोगाइन ने भी लजाते हुए हाथ दिखाया। पंडितजी ने अपने भाग्य-रेखा-ज्ञान का अच्छा परिचय दिया। और भी धाक जम गई। शाम को दारोगाजी दफ़्तर से लौटे, तो पंडितजी शान से मसनद लगाए बैठे हुए थे, और पड़ोस के कई आदमी उन्हें घेरे खड़े थे।

दारोगा ने कुर्सी पर लेटकर कहा—"यह पद तो इतना ऊँचा नहीं, और न वेतन ही कुछ ऐसा अधिक मिलता है; पर काम इतना ज़िम्मेदारी का है कि केवल विश्वासपात्रों को ही मिलता है। बड़े-बड़े आदमी किसी-न-किसी अपराध के लिये दंड पाकर आते हैं। अगर चाहूँ, तो उनके घरवालों से एक-एक मुलाक़ात के लिये हज़ारों रुपए ऐंठ लूँ; लेकिन अपना यह ढंग नहीं। जो सरकार से मिलता है, उसी को बहुत समझता हूँ। किसी भीरु पुरुष का तो यहाँ घड़ी-भर निवाह न हो। एक-से-एक ख़ूनी, डकैत, बदमाश आते रहते हैं, जिनके हज़ारों साथी होते हैं; चाहें, तो दिन दहाड़े जेल को लुटवा लें, पर ऐसे ढंग से उन पर रोब जमाता हूँ कि बदनामी भी न हो, और नुकसान भी न उठाना पड़े। अब आज ही कल देखिए, काशी के कोई करोड़पती राजा हैं महाराजा भरतसिंह, उनका पुत्र राजविद्रोह के अभियोग में फँस गया है। हुक्काम तक उसका इतना आदर करते हैं कि बड़े साहब की मेम साहब दिन में दो-दो बार उसका

हाल-चाल पूछने आती हैं, और सरदार नीलकंठ बराबर पत्रों द्वारा उसका कुशल-समाचार पूछते रहते हैं। चाहूँ, तो महाराज भरतसिंह से एक मुलाक़ात के लिये लाखों रुपए उड़ा लूँ; पर यह अपना धर्म नहीं।"

नायकराम—"अच्छा! क्या राजा भरतसिंह का पुत्र यहीं क़ैद है?"

दारोग़ा—"और यहाँ सरकार को किस पर इतना विश्वास है?"

नायकराम—"आप-जैसे महात्माओं के दरसन दुरलभ हैं। किंतु बुरा न मानिए, तो कहूँ, बाल-बच्चों का भी ध्यान रखना चाहिए। आदमी घर से चार पैसे कमाने ही के लिये निकलता है।"

दारोग़ा—"अरे, तो क्या कोई क़सम खाई है, पर किसी का गला नहीं दबाता। चलिए, आपको जेलख़ाने की सैर कराऊँ। बड़ी साफ़-सुथरी जगह है। मेरे यहाँ तो जो कोई मेहमान आता है, उसे वहीं ठहरा देता हूँ। जेल के दारोग़ा की दोस्ती से जेल की हवा खाने के सिवा और क्या मिलेगा।"

यह कहकर दारोग़ाजी मुस्किराए। वह नायकराम को किसी बहाने से यहाँ से टालना चाहते थे। नौकर भाग गया था, क़ैदियों और चपरासियों से काम लेने का मौक़ा न था। सोचा—"अपने हाथ चिलम भरनी पड़ेगी, बिछावन बिछाना पड़ेगा, पानी खींचना पड़ेगा, मर्यादा में बाधा उपस्थित होगी, घर का परदा खुल जायगा। इन्हें वहाँ ठहरा दूँगा, खाना भिजवा दूँगा, परदा ढका रह जायगा।"

नायकराम—"चलिए, कौन जाने, कभी आपकी सेवा में आना ही पड़े। पहले से ठौर-ठिकाना देख लूँ। महाराजा साहब के लड़के ने कौन कसूर किया था?"

दारोग़ा—"क़सूर कुछ नहीं था, बस हाकिमों की ज़िद है। यहाँ देहातों में घूम-घूमकर लोगों को उपदेश करता था, बस, हाकिमों को उस पर संदेह हो गया कि यह राजविद्रोह फैला रहा है। यहाँ लाकर क़ैद कर दिया। मगर आप तो अभी उसे देखिएगा ही, ऐसा गंभीर, शांत,

विचारशील आदमी आज तक मैंने नहीं देखा। हाँ, किसी से दबता नहीं। खुशामद करके चाहे कोई पानी भरा ले; पर चाहो कि रोब से उसे दबा लें, तो जौ-भर भी न दबेगा।"

नायकराम दिल में खुश थे कि "बड़ी अच्छी साइत से चला था कि भगवान् आप ही सब द्वार खोले देते हैं। देखूँ, अब विनयसिंह से क्या बात होती है। यों तो वह न जायँगे, पर रानीजी की बीमारी का बहाना करना पड़ेगा। वह राज़ी हो जायँ, यहाँ से निकाल ले जाना तो मेरा काम है। भगवान् की इतनी दया हो जाती, तो मेरी मनोकामना पूरी हो जाती, घर बस जाता, जिंदगी सुफल हो जाती।"

---

[२८]

सोफ़िया के चले जाने के बाद विनय के विचार-स्थल में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। मन एक भीरु शत्रु है, जो सदैव पीठ के पीछे से वार करता है। जब तक सोफ़ी सामने बैठी थी, उसे सामने आने का साहस न हुआ। सोफ़ी के पीठ फेरते ही उसने ताल ठोकनी शुरू की—"न-जाने मेरी बातों का सोफ़िया पर क्या असर हुआ। कहीं वह यह तो नहीं समझ गई कि मैंने जीवन-पर्यंत के लिये सेवा-व्रत धारण कर लिया है। मैं भी कैसा मंद-बुद्धि हूँ, उसे माताजी की अप्रसन्नता का भय दिलाने लगा, जैसे भोले-भाले बच्चों की आदत होती है कि प्रत्येक बात पर अम्मा से कह देने की धमकी देते हैं। जब वह मेरे लिये इतना आत्म-बलिदान कर रही है, यहाँ तक कि धर्म के पवित्र बंधन को भी तोड़ देने पर तैयार है, तो उसके सामने मेरा सेवा-व्रत और कर्तव्य का ढोंग रचना संपूर्णतः नीति-विरुद्ध है। मुझे वह मन में कितना निष्ठुर, कितना भीरु, कितना हृदय शून्य समझ रही होगी! माना कि परोपकार आदर्श जीवन है; लेकिन स्वार्थ भी तो सर्वथा त्याज्य नहीं। बड़े-से-बड़ा जाति-भक्त भी स्वार्थ ही की ओर झुकता है। स्वार्थ का एक भाग मिटा देना जाति-सेवा के लिये काफ़ी है। यही प्राकृतिक नियम है। आह! मैंने अपने पाँव में आप कुल्हाड़ी मारी। वह कितनी गर्वशीला है, फिर भी मेरे लिये उसने क्या-क्या अपमान न सहे! मेरी माता ने उसका जितना अपमान किया, उतना कदाचित् उसकी माता ने किया होता, तो वह उसका मुँह न देखती। मुझे आखिर सूझी क्या! निस्संदेह मैं उसके योग्य नहीं हूँ, उसकी विशाल मनस्विता मुझे भयभीत करती है; पर क्या मेरी भक्ति मेरी त्रुटियों की पूर्ति नहीं कर सकती? जहाँगीर-जैसा आत्म-

सेवी, मंद-बुद्धि पुरुष अगर नूरजहाँ को प्रसन्न रख सकता है, तो क्या मैं अपने आत्म समर्पण से, अपने अनुराग से, उसे संतुष्ट नहीं कर सकता? कहीं वह मेरी शिथिलता से अप्रसन्न होकर मुझसे सदा के लिये विरक्त न हो जाय! यदि मेरे सेवा-व्रत, मातृभक्ति और संकोच का यह परिणाम हुआ, तो यह जीवन दुस्सह हो जायगा।

"आह! कितना अनुपम सौंदर्य है! उच्च शिक्षा और विचार से मुख पर कैसी आध्यात्मिक गंभीरता आ गई है! मालूम होता है, कोई देवी इंद्रलोक से उतर आई है, मानो बहिर्जगत् से उसका कोई संबंध ही नहीं, अंतर्जगत् ही में विचरती है। विचारशीलता स्वाभाविक सौंदर्य को कितना मधुर बना देती है! विचारोत्कर्ष ही सौंदर्य का वास्तविक शृंगार है। वस्त्राभूषणों से तो उसकी प्राकृतिक शोभा ही नष्ट हो जाती है, वह कृत्रिम और वासनामय हो जाता है। Vulgar शब्द ही इस आशय को व्यक्त कर सकता है। हास्य और मुस्कान में जो अंतर है, धूप और चाँदनी में जो अंतर है, संगीत और काव्य में जो अंतर है, वही अंतर अलंकृत और परिष्कृत सौंदर्य में है। उसकी मुस्कान कितनी मनोहर है, जैसे वसंत की शीतल वायु, या किसी कवि की अछूती सूझ। यहाँ किसी रूपमयी सुंदरी से बातें करने लगो, तो चित्त मलिन हो जाता है, या तो शीन-क़ाफ़ ठीक नहीं या लिंग-भेद का ज्ञान नहीं। सोफ़ी के लिये व्रत, नियम, सिद्धांत की उपेक्षा करना क्षम्य ही नहीं, श्रेयस्कर भी है। यह मेरे लिये जीवन और मरण का प्रश्न है। उसके बग़ैर मेरा जीवन एक सूखे वृक्ष की भाँति होगा, जिसे जल की अविरत वर्षा भी पल्लवित नहीं कर सकती। मेरे जीवन की उपयोगिता, सार्थकता ही लुप्त हो जायगी। जीवन रहेगा, पर आनंद-विहीन, प्रेम-विहीन, उद्देश्य-विहीन!"

विनय इन्हीं विचारों में डूबा हुआ था कि दारोग़ाजी आकर बैठ गए, और बोले—"मालूम होता है, अब यह बला सिर से जल्द ही टलेगी। एजेंट साहब यहाँ से कूच करनेवाले हैं। सरदार साहब ने शहर में ढोंडी

फिरवा दी है कि अब किसी को क़स्बे से बाहर जाने की ज़रूरत नहीं। मालूम होता है, मेम साहब ने यह हुक्म दिया है।"

विनय—"मेम साहब बड़ी विचारशील महिला हैं।"

दारोग़ा—"यह बहुत ही अच्छा हुआ, नहीं तो अवश्य उपद्रव हो जाता, और सैकड़ों जानें जातीं। जैसा तुमने कहा, मेम साहब बड़ी विचार-शील हैं; हालाँकि उम्र अभी कुछ नहीं।"

विनय—"आपको खूब मालूम है कि वह कल यहाँ से चली जायँगी?"

दारोग़ा—"हाँ, और क्या, सुनी-सुनाई कहता हूँ। हाकिमों की बातों की घंटे-घंटे टोह लगती रहती है। रसद और बेगार, जो एक सप्ताह के लिये ली जानेवाली थी, बंद कर दी गई है।"

विनय—"यहाँ फिर न आएँगी?"

दारोग़ा—"तुम तो इतने अधीर हो रहे हो, मानो उन पर आसक्त हो।"

विनय ने लज्जित होकर कहा—"मुझसे उन्होंने कहा था कि कल तुम्हें देखने आऊँगी।"

दारोग़ा—"कह दिया होगा, पर अब उनकी तैयारी है। यहाँ तो खुश हैं कि बेदाग़ बच गए, नहीं तो और सभी जगह जेलरों पर जुर-माने किए हैं।"

दारोग़ाजी चले गए, तो विनय सोचने लगा—"सोफ़िया ने कल आने का वादा किया था। क्या अपना वादा भूल गई? अब न आएगी? यदि एक बार आ जाती, तो मैं उसके पैरों पर गिरकर कहता, सोफ़ी, मैं अपने होश में नहीं हूँ। देवी अपने उपासक से इसलिये तो अप्रसन्न नहीं होती कि वह उसके चरणों को स्पर्श करते हुए भी झिझकता है। यह तो उपासक की अश्रद्धा का नहीं, असीम श्रद्धा का चिह्न है।"

ज्यों-ज्यों दिन गुज़रता था, विनय की व्यग्रता बढ़ती जाती थी। मगर अपने मन की व्यथा किससे कहे। उसने सोचा—"रात को यहाँ से किसी

तरह भागकर सोफ़ी के पास जा पहुँचूँ ! हा दुर्दैव, वह मेरी मुक्ति का आज्ञा-पत्र तक लाई थी, उस वक़्त मेरे सिर पर न-जाने कौन-सा भूत सवार था।"

सूर्यास्त हो रहा था। विनय सिर झुकाए दफ़्तर के सामने टहल रहा था। सहसा उसे ध्यान आया—"क्यों न फिर बेहोशी का बहाना करके गिर पड़ूँ। यहाँ सब लोग घबरा जायँगे, और ज़रूर सोफ़ी को मेरी ख़बर मिल जायगी। अगर उसकी मोटर तैयार होगी, तो भी एक बार मुझे देखने आ जायगी। पर यहाँ तो स्वाँग भरना भी नहीं आता। अपने ऊपर ख़ुद ही हँसी आ जायगी। कहीं हँसी रुक न सकी, तो भद्द हो जायगी। लोग समझ जायँगे, बना हुआ है। काश इतना मूसलाधार पानी बरस जाता कि वह घर से बाहर निकल ही न सकती। पर कदाचित् इंद्र को भी मुझसे बैर है, आकाश पर बादल का कहीं नाम नहीं, मानो किसी हत्यारे का दया-हीन हृदय हो। क्लार्क ही को कुछ हो जाता, तो आज उसका जाना रुक जाता।"

जब अँधेरा हो गया, तो उसे सोफ़ी पर क्रोध आने लगा—"जब आज ही यहाँ से जाना था, तो उसने मुझसे कल आने का वादा ही क्यों किया, मुझसे जान-बूझकर झूठ क्यों बोली ? क्या अब कभी मुलाक़ात ही न होगी, तब पूछूँगा। उसे ख़ुद समझ जाना चाहिए था कि यह इस वक़्त अस्थिर-चित्त हो रहा है। उससे मेरे चित्त की दशा छिपी नहीं है। वह उस अंतर्द्वंद्व को जानती है, जो मेरे हृदय में इतना भीषण रूप धारण किए हुए है। एक ओर प्रेम और श्रद्धा है, तो दूसरी ओर अपनी प्रतिज्ञा, माता की अप्रसन्नता का भय और लोक निंदा की लज्जा। इतने विरुद्ध भावों के समागम से यदि कोई अनर्गल बातें करने लगे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या। उसे इस दशा में मुझसे खिन्न न होना चाहिए था, अपनी प्रेममय सहानुभूति से मेरी हृदयाग्नि को शांत करना चाहिए था। अगर उसकी यही इच्छा है कि मैं इसी दशा में घुल-घुलकर मर जाऊँ,

तो यही सही। यह हृदय-दाह जीवन के साथ ही शांत होगा। आह! ये दो दिन कितने आनंद के दिन थे! रात हो रही है, फिर उसी अँधेरी, दुर्गंधमय कोठरी में बंद कर दिया जाऊँगा, कौन पूछेगा कि मरते हो या जीते। इस अंधकार में दीपक की ज्योति दिखाई भी दी, तो जब तक वहाँ पहुँचूँ, नज़रों से ओझल हो गई।"

इतने में दारोग़ाजी फिर आए। पर अब की वह अकेले न थे, उनके साथ एक पंडितजी भी थे। विनयसिंह को ख़याल आया कि मैंने इन पंडितजी को कहीं देखा है; पर याद न आता था, कहाँ देखा है। दारोग़ाजी देर तक खड़े पंडितजी से बातें करते रहे। विनयसिंह से कोई न बोला। विनय ने समझा, मुझे धोखा हुआ, कोई और आदमी होगा। रात को सब क़ैदी खा-पीकर लेटे। चारो ओर के द्वार बद कर दिए गए। विनय थरथरा रहा था कि मुझे भी अपनी कोठरी में जाना पड़ेगा; पर न-जाने क्यों उसे वहीं पड़ा रहने दिया गया।

रोशनी गुल कर दी गई। चारो ओर सन्नाटा छा गया। विनय उसी उद्विग्न दशा में खड़ा सोच रहा था, कैसे यहाँ से निकलूँ। जानता था कि चारो तरफ़ के द्वार बंद हैं, न रस्सी है, न कोई यंत्र, न कोई सहायक, न कोई मित्र। तिस पर भी वह प्रतीक्षा-भाव से द्वार पर खड़ा था कि शायद कोई हिकमत सूझ जाय। निराशा में प्रतीक्षा अंधे की लाठी है।

सहसा सामने से एक आदमी आता हुआ दिखाई दिया। विनय ने समझा, कोई चौकीदार होगा। डरा कि मुझे यहाँ खड़े देखकर कहीं उसके दिल में संदेह न हो जाय। धीरे से कमरे की ओर चला। इतना भीरु वह कभी न हुआ था। तोप के सामने खड़ा सिपाही भी बिच्छू को देखकर सशंक हो जाता है।

विनय कमरे में गए ही थे कि पीछे से वह आदमी भी अंदर आ पहुँचा। विनय ने चौंककर पूछा—"कौन?"

नायकराम बोले—"आपका गुलाम हूँ, नायकराम पंडा।"

विनय—"तुम यहाँ कहाँ ? अब याद आया, आज तुम्हीं तो दारोगा के साथ पगड़ी बाँधे खड़े थे ? ऐसी सूरत बना ली थी कि पहचान ही में न आते थे। तुम यहाँ कैसे आ गए ?"

नायकराम—"आप ही के पास तो आया हूँ।"

विनय—"झूठे हो, यहाँ कोई यजमानी है क्या ?"

नायकराम—"जजमान कैसे, यहाँ तो मालिक ही हैं।"

विनय—"कब आए, कब ? वहाँ तो सब कुशल है ?"

नायकराम—"हाँ, सब कुशल ही है। कुँअर साहब ने जब से आपका हाल सुना है, बहुत घबराए हुए हैं। रानीजी भी बीमार हैं।"

विनय—"अम्माजी कब से बीमार हैं ?"

नायकराम—"कोई एक महीना होने आता है। बस, घुली जाती हैं। न कुछ खाती हैं, न पीती हैं, न किसी से बोलती हैं। न-जाने कौन रोग है कि किसी वैद, हकीम, डॉक्टर की समझ ही में नहीं आता। दूर-दूर के डॉक्टर बुलाए गए हैं, पर मरज की थाह किसी को नहीं मिलती। कोई कुछ बताता है, कोई कुछ। कलकत्ते से कोई कविराज आए हैं, वह कहते हैं, अब यह बच नहीं सकतीं। ऐसी घुल गई हैं कि देखते डर लगता है। मुझे देखा, तो धीरे से बोलीं—'पंडाजी, अब डेरा कूच है।' अब मैं खड़ा-खड़ा रोता रहा।"

विनय ने सिसकते हुए कहा—"हाय ईश्वर ! मुझे माता के चरणों के दर्शन भी न होंगे क्या !"

नायकराम—"मैंने जब बहुत पूछा, सरकार किसी को देखना चाहती हैं, तो आँखों में आँसू भरकर बोलीं, एक बार विनय को देखना चाहती हूँ, पर भाग्य में देखना बदा नहीं है, न-जाने उसका क्या हाल होगा।"

विनय इतना रोए कि हिचकियाँ बँध गईं। जब ज़रा आवाज़ क़ाबू में हुई, तो बोले—"अम्माजी को कभी किसी ने रोते नहीं देखा था। अब

चित्त व्याकुल हो रहा है। कैसे उनके दर्शन पाऊँगा ? भगवान् न-जाने किन पापों का यह दंड मुझे दे रहे हैं।"

नायकराम—"मैंने पूछा, हुक्म हो, तो जाकर उन्हें लिवा लाऊँ। इतना सुना था कि वह जल्दी से उठकर बैठ गईं, और मेरा हाथ पकड़-कर बोलीं—'तुम उसे लिवा लाओगे ? नहीं, वह न आएगा, वह मुझसे रूठा हुआ है। कभी न आएगा। उसे माग लाओ, तो तुम्हारा बड़ा उपकार होगा।' इतना सुनते ही मैं वहाँ से चल खड़ा हुआ। अब बिलम न कीजिए, कहीं ऐसा न हो कि माता की लालसा मन ही में रह जाय, नहीं तो आपको जनम भर पछताना पड़ेगा।"

विनय—"कैसे चलूँगा ?"

नायकराम—"इसकी चिंता मत कीजिए, ले तो मैं चलूँगा। जब यहाँ तक आ गया, तो यहाँ से निकलना क्या मुसकिल है !"

विनय कुछ सोचकर बोले—"पंडाजी, मैं तो चलने को तैयार हूँ। पर भय यही है कि कहीं अम्माजी नाराज़ न हो जायँ, तुम उनके स्वभाव को नहीं जानते।"

नायकराम—"भैया, इसका कोई भय नहीं है। उन्होंने तो कहा है कि जैसे बने, वैसे लाओ। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि माफ़ी माँगनी पड़े, तो इस औसर पर माँग लेनी चाहिए।"

विनय—"तो चलो, कैसे चलते हो ?"

नायकराम—"दिवाल फाँदकर निकल जायँगे, यह कौन मुसकिल है !"

विनयसिंह को शंका हुई कि कहीं किसी की निगाह पड़ गई, तो ! सोफ़ी यह सुनेगी, तो क्या कहेगी ! सब अधिकारी मुझ पर तालियाँ बजाएँगे। सोफ़ी सोचेगी, बड़े सत्यवादी बनते थे, अब वह सत्यवादिता कहाँ गई। किसी तरह सोफ़ी को यह खबर दी जा सकती, तो वह अवश्य आज्ञा-पत्र भेज देती, पर यह बात नायकराम से कैसे कहूँ ? बोले—"पकड़ गए, तो ?"

नायकराम—"पकड़ गए, तो ! पकड़ेगा कौन ? यहाँ कच्ची गोली नहीं खेले हैं। सब आदमियों को पहले ही से गाँठ रक्खा है।"

विनय—"खूब सोच लो। पकड़ गए, तो फिर किसी तरह छुटकारा न होगा।"

नायकराम—"पकड़े जाने का तो नाम ही न लो। यह देखो, सामने कई ईंटें दिवाल से मिलाकर रक्खी हुई हैं। मैंने पहले ही से यह इंतज़ाम कर लिया है। मैं ईंटों पर खड़ा हो जाऊँगा। आप मेरे कंधे पर चढ़कर इस रस्सी को लिए हुए दिवाल पर चढ़ जाइएगा। रस्सी उस तरफ फेंक दीजिएगा। मैं इसे इधर मजबूत पकड़े रहूँगा, आप उधर धीरे से उतर जाइएगा। फिर वहाँ आप रस्सी को मजबूत पकड़े रहिएगा, मैं भी इधर से चला आऊँगा। रस्सी बड़ी मजबूत है, टूट नहीं सकती। मगर हाँ, छोड़ न दीजिएगा, नहीं तो मेरी हड्डी-पसली टूट जायँगी।"

यह कहकर नायकराम रस्सी का पुलिंदा लिए हुए ईंटों के पास जाकर खड़े हो गए। विनय भी धीरे-धीरे चले। सहसा किसी चीज़ के खटकने की आवाज़ आई। विनय ने चौंककर कहा—"भाई, मैं न जाऊँगा। मुझे यहीं पड़ा रहने दो। माताजी के दर्शन करना मेरे भाग्य में नहीं है।"

नायकराम—"घबराइए मत, कुछ नहीं है।"

विनय—"मेरे तो पैर थरथरा रहे हैं।"

नायकराम—"तो इसी जीवट पर चले थे साँप के मुँह में उँगली डालने !"

जोखिम के समय पद सम्मान का विचार नहीं रहता।

विनय—"तुम मुझे ज़रूर फँसाओगे।"

नायकराम—"मर्द होकर फँसने से इतना डरते हो ! फँस ही गए, तो कौन चूड़ियाँ मैली हो जायँगी। दुश्मन की कैद से भागना लज्जा की बात नहीं।"

यह कहकर वह ईंटों पर खड़ा हो गया, और विनय से बोला—"मेरे कंधे पर आ जाओ।"

विनय—"कहीं तुम गिर पड़े, तो?"

नायकराम—"तुम्हारे-जैसे पाँच सवार हो जायँ, तो लेकर दौड़ूँ। धरम की कमाई में बल होता है।"

यह कहकर उसने विनय का हाथ पकड़कर उसे अपने कंधे पर ऐसी आसानी से उठा लिया, मानो कोई बच्चा है।

विनय—"कोई आ रहा है।"

नायकराम—"आने दो। यह रस्सी कमर में बाँध लो, और दिवाल पकड़कर चढ़ जाओ।"

अब विनय ने हिम्मत मज़बूत की। यही निश्चयात्मक अवसर था। सिर्फ़ एक फलाँग की ज़रूरत थी। ऊपर पहुँच गए, तो बेड़ा पार है, न पहुँच सके, तो अपमान, लज्जा, दंड, सब कुछ है। ऊपर स्वर्ग है, नीचे नरक; ऊपर मोक्ष है, नीचे माया-जाल। दीवार पर चढ़ने में हाथों के सिवा और किसी चीज़ से मदद न मिल सकती थी। विनय दुर्बल होने पर भी मज़बूत आदमी थे। फलाँग मारी, और बेड़ा पार हो गया; दीवार पर जा पहुँचे, और रस्सी पकड़कर नीचे उतर पड़े। दुर्भाग्य-वश पीछे दीवार से मिली हुई गहरी खाईं थी, जिसमें बरसात का पानी भरा हुआ था। विनय ने ज्यों ही रस्सी छोड़ी, गरदन तक पानी में डूब गए, और फिर बड़ी मुश्किल से बाहर निकले। तब रस्सी पकड़कर नायकराम को इशारा किया। वह मँजा हुआ खिलाड़ी था। एक क्षण में नीचे आ पहुँचा। ऐसा जान पड़ता था कि वह दीवार पर बैठा था, केवल उतरने की देर थी।

विनय—"देखना, खाईं है!"

नायकराम—"पहले ही देख चुका हूँ। तुमसे बताने की याद ही न रही।"

नायकराम—"पकड़ गए, तो ! पकड़ेगा कौन ? यहाँ कच्ची गोली नहीं खेले हैं । सब आदमियों को पहले ही से गाँठ रक्खा है ।"

विनय—"खूब सोच लो । पकड़ गए, तो फिर किसी तरह छुटकारा न होगा ।"

नायकराम—"पकड़े जाने का तो नाम ही न लो । यह देखो, सामने कई ईंटें दिवाल से मिलाकर रक्खी हुई हैं । मैंने पहले ही से यह इंतजाम कर लिया है । मैं ईंटों पर खड़ा हो जाऊँगा । आप मेरे कंधे पर चढ़कर इस रस्सी को लिए हुए दिवाल पर चढ़ जाइएगा । रस्सी उस तरफ फेंक दीजिएगा । मैं इसे इधर मजबूत पकड़े रहूँगा, आप उधर धीरे से उतर जाइएगा । फिर वहाँ आप रस्सी को मजबूत पकड़े रहिएगा, मैं भी इधर से चला आऊँगा । रस्सी बड़ी मजबूत है, टूट नहीं सकती । मगर हाँ, छोड़ न दीजिएगा, नहीं तो मेरी हड्डी-पसली टूट जायँगी ।"

यह कहकर नायकराम रस्सी का पुलिंदा लिए हुए ईंटों के पास जाकर खड़े हो गए । विनय भी धीरे-धीरे चले । सहसा किसी चीज़ के खटकने की आवाज़ आई । विनय ने चौंककर कहा—"भाई, मैं न जाऊँगा । मुझे यहीं पड़ा रहने दो । माताजी के दर्शन करना मेरे भाग्य में नहीं है ।"

नायकराम—"घबराइए मत, कुछ नहीं है ।"

विनय—"मेरे तो पैर थरथरा रहे हैं ।"

नायकराम—"तो इसी जीवट पर चले थे साँप के मुँह में उँगली डालने !"

जोखिम के समय पद-सम्मान का विचार नहीं रहता ।

विनय—"तुम मुझे ज़रूर फँसाओगे ।"

नायकराम—"मर्द होकर फँसने से इतना डरते हो ! फँस ही गए, तो कौन चूड़ियाँ मैली हो जायँगी । दुश्मन की कैद से भागना लज्जा की बात नहीं ।"

नायकराम ने एक आदमी से पूछा, तो ज्ञात हुआ कि नौ बजे के समय एजेंट साहब अपनी मेम के साथ मोटर पर बैठे हुए बाज़ार की तरफ़ से निकले। मोटर बड़ी तेज़ी से जा रही थी। चौराहे पर पहुँची, तो एक आदमी, जो बाईं ओर से आ रहा था, मोटर के नीचे दब गया। साहब ने आदमी को दबते हुए देखा; पर मोटर को रोका नहीं। यहाँ तक कि कई आदमी मोटर के पीछे दौड़े। बाज़ार के इस सिरे तक आते-आते मोटर को बहुत-से आदमियों ने घेर लिया। साहब ने आदमियों को डाँटा कि अभी हट जाओ। जब लोग न हटे, तो उन्होंने पिस्तौल चला दी। एक आदमी तुरंत गिर पड़ा। अब लोग क्रोधोन्माद की दशा में साहब के बँगले पर जा रहे थे।

विनय ने पूछा—"वहाँ जाने की क्या ज़रूरत है?"

एक आदमी—"जो कुछ होना है, वह हो जायगा। यही न होगा, मारे जायँगे। मारे तो यों ही जा रहे हैं। एक दिन तो मरना है ही। दस-पाँच आदमी मर गए, तो कौन संसार सूना हो जायगा।"

विनय के होश उड़ गए। यक़ीन हो गया कि आज कोई उपद्रव अवश्य होगा। बिगड़ी हुई जनता वह जल-प्रवाह है, जो किसी के रोके नहीं रुकता। ये लोग झल्लाए हुए हैं। इस दशा में इनसे धैर्य और क्षमा की बातें करना व्यर्थ है। कहीं ऐसा न हो कि ये लोग बँगले को घेर लें। सोफ़िया भी वहीं है। कहीं उस पर न आघात कर बैठें। दुरावेश में सौजन्य का नाश हो जाता है। नायकराम से बोले—"पंडाजी, ज़रा बँगले तक होते चलें।"

नायकराम—"किसके बँगले तक?"

विनय—"पोलिटिकल एजेंट के।"

नायकराम—"उनके बँगले पर जाकर क्या कीजिएगा? क्या अभी तक परोपकार से जी नहीं भरा? ये जानें, वह जानें, हमसे-आपसे मतलब?"

विनय—"नहीं, मौक़ा नाज़ुक है, वहाँ जाना ज़रूरी है।"

विनय—"तुम इस काम में निपुण हो। मैं कभी न निकल सकता। किधर चलोगे?"

नायकराम—"सबसे पहले तो देवी के मंदिर में चलूँगा, वहाँ से फिर मोटर पर बैठकर इसटेसन की ओर। ईश्वर ने चाहा, तो आज के तीसरे दिन घर पहुँच जायँगे। देवी सहाय न होती, तो इतनी जल्दी और इतनी आसानी से यह काम न होता। उन्हीं ने यह संकट हरा। उन्हें अपना खून चढ़ाऊँगा।"

अब दोनो आज़ाद थे। विनय को ऐसा मालूम हो रहा था कि मेरे पाँव आप-ही-आप उठे जाते हैं। वे इतने हल्के हो गए थे। ज़रा देर में दोनो आदमी सड़क पर आ गए।

विनय—"सवेरा होते ही दौड़-धूप शुरू हो जायगी।"

नायकराम—"तब तक हम लोग यहाँ से सौ कोस पर होंगे।"

विनय—"घर से भी तो वारंट द्वारा पकड़ मँगा सकते हैं।"

नायकराम—"वहाँ की चिंता मत करो। वह अपना राज है।"

आज सड़क पर बड़ी हलचल थी। सैकड़ों आदमी लालटेनें लिए कस्बे से छावनी की तरफ़ जा रहे थे। एक गोल इधर से आता था, दूसरा उधर से। प्रायः लोगों के हाथों में लाठियाँ थीं। विनयसिंह को कुतूहल हुआ, आज यह भीड़-भाड़ कैसी! लोगों पर वह निस्तब्ध तत्परता छाई थी, जो किसी भयंकर उद्वेग की सूचक होती है। किंतु किसी से कुछ पूछ न सकते थे कि कहीं वह पहचान न जाय।

नायकराम—"देवी के मंदिर तक तो पैदल ही चलना पड़ेगा।"

विनय—"पहले इन आदमियों से तो पूछो, कहाँ दौड़े जा रहे हैं? मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि कहीं कुछ गड़बड़ हो गई।"

नायकराम—"होगा, हमें इन बातों से क्या मतलब! चलो, अपनी राह चलें।"

विनय—"नहीं-नहीं, ज़रा पूछो तो, क्या बात है?"

नायकराम ने एक आदमी से पूछा, तो ज्ञात हुआ कि नौ बजे के समय एजेंट साहब अपनी मेम के साथ मोटर पर बैठे हुए बाज़ार की तरफ़ से निकले। मोटर बड़ी तेज़ी से जा रही थी। चौगहे पर पहुँची, तो एक आदमी, जो बाईं ओर से आ रहा था, मोटर के नीचे दब गया। साहब ने आदमी को दबते हुए देखा; पर मोटर को रोका नहीं। यहाँ तक कि कई आदमी मोटर के पीछे दौड़े। बाज़ार के इस सिरे तक आते-आते मोटर को बहुत-से आदमियों ने घेर लिया। साहब ने आदमियों को डाँटा कि अभी हट जाओ। जब लोग न हटे, तो उन्होंने पिस्तौल चला दी। एक आदमी तुरंत गिर पड़ा। अब लोग क्रोधोन्माद की दशा में साहब के बँगले पर जा रहे थे।

विनय ने पूछा—"वहाँ जाने की क्या ज़रूरत है?"

एक आदमी—"जो कुछ होना है, वह हो जायगा। यही न होगा, मारे जायँगे। मारे तो यों ही जा रहे हैं। एक दिन तो मरना है ही। दस-पाँच आदमी मर गए, तो कौन संसार सूना हो जायगा।"

विनय के होश उड़ गए। यक़ीन हो गया कि आज कोई उपद्रव अवश्य होगा। बिगड़ी हुई जनता वह जल-प्रवाह है, जो किसी के रोके नहीं रुकता। ये लोग झल्लाए हुए हैं। इस दशा में इनसे धैर्य और क्षमा की बातें करना व्यर्थ है। कहीं ऐसा न हो कि ये लोग बँगले को घेर लें। सोफ़िया भी वहीं है। कहीं उस पर न आघात कर बैठें। दुरावेश में सौजन्य का नाश हो जाता है। नायकराम से बोले—"पंडाजी, ज़रा बँगले तक होते चलें।"

नायकराम—"किसके बँगले तक?"

विनय—"पोलिटिकल एजेंट के।"

नायकराम—"उनके बँगले पर जाकर क्या कीजिएगा? क्या अभी तक परोपकार से जी नहीं भरा? ये जानें, वह जानें, हमसे-आपसे मतलब?"

विनय—"नहीं, मौक़ा नाज़ुक है, वहाँ जाना ज़रूरी है।"

नायकराम—"नाहक अपनी जान के दुसमन हुए हो। वहाँ कुछ दंगा हो जाय, तो! मरद हैं ही, चुपचाप खड़े मुँह तो देखा न जायगा। दो-चार हाथ इधर या उधर चला ही देंगे। बस, धर-पकड़ हो जायगी। इससे क्या फ़ायदा?"

विनय—"कुछ भी हो, मैं यहाँ यह हंगामा होते देखकर स्टेशन नहीं जा सकता।"

नायकराम—"रानीजी तिल-तिल पर पूछती होंगी।"

विनय—"तो यहाँ कौन हमें दो-चार दिन लगे जाते हैं। तुम यहीं ठहरो, मैं अभी आता हूँ।"

नायकराम—"जब तुम्हें कोई भय नहीं है, तो यहाँ कौन रोनेवाला बैठा हुआ है। मैं आगे-आगे चलता हूँ। देखना, मेरा साथ न छोड़ना। यह ले लो, जोखिम का मामला है। मेरे लिये यह लकड़ी काफ़ी है।"

यह कहकर नायकराम ने एक दोनलीवाली पिस्तौल कमर से निकालकर विनय के हाथ में रख दी। विनय पिस्तौल लिए हुए आगे बढ़े। जब राजभवन के निकट पहुँचे, तो इतनी भीड़ देखी कि एक-एक क़दम चलना मुश्किल हो गया, और भवन से एक गोली के टप्पे पर तो उन्हें विवश होकर रुकना पड़ा। सिर-ही सिर दिखाई देते थे। राजभवन के सामने एक बिजली की लालटेन जल रही थी, और उसके उज्ज्वल प्रकाश में हिलता, मचलता, रुकता, ठिठकता हुआ जन-प्रवाह इस तरह भवन की ओर चला जा रहा था, मानो उसे निगल जायगा। भवन के सामने, इस प्रवाह को रोकने के लिये, वर्दीपोश सिपाहियों की एक कतार, संगीनें चढ़ाए, चुपचाप खड़ी थी, और ऊँचे चबूतरे पर खड़ी होकर सोफ़ी कुछ कह रही थी; पर इस हुल्लड़ में उसकी आवाज़ सुनाई न देती थी। ऐसा मालूम होता था कि किसी विदुषी की मूर्ति है, जो कुछ कहने का संकेत कर रही है।

सहसा सोफ़िया ने दोनों हाथ ऊपर उठाए। चारों ओर सन्नाटा छा

गया। सोफ़ी ने उच्च और कंपित स्वर में कहा—"मैं अंतिम बार तुम्हें चेतावनी देती हूँ कि यहाँ से शांति के साथ चले जाओ, नहीं तो सैनिकों को विवश होकर गोली चलानी पड़ेगी। एक क्षण के अंदर यह मैदान साफ़ हो जाना चाहिए।"

वीरपालसिंह ने सामने आकर कहा—"प्रजा अब ऐसे अत्याचार नहीं सह सकती।"

सोफ़ी—"अगर लोग सावधानी से रास्ता चलें, तो ऐसी दुर्घटना क्यों हो?"

वीरपाल—"मोटरवालों के लिये भी कोई क़ानून है या नहीं?"

सोफ़ी—"उनके लिये क़ानून बनाना तुम्हारे अधिकार में नहीं है।"

वीरपाल—"हम क़ानून नहीं बना सकते, पर अपनी प्राण-रक्षा तो कर सकते हैं?"

सोफ़ी—"तुम विद्रोह करना चाहते हो, और उसके कुफल का भार तुम्हारे सिर पर होगा।"

वीरपाल—"हम विद्रोही नहीं हैं, मगर यह नहीं हो सकता कि हमारा एक भाई किसी मोटर के नीचे दब जाय, चाहे वह मोटर महाराना ही का क्यों न हो, और हम मुँह न खोलें।"

सोफ़ी—"वह संयोग था।"

वीरपाल—"सावधानी उस संयोग को टाल सकती थी। अब हम उस वक़्त तक यहाँ से न जायँगे, जब तक हमें वचन न दिया जायगा कि भविष्य में ऐसी दुर्घटनाओं के लिये अपराधी को उचित दंड मिलेगा, चाहे वह कोई हो।"

सोफ़ी—"संयोग के लिये कोई वचन नहीं दिया जा सकता। लेकिन..."

सोफ़ी कुछ और कहना चाहती थी कि किसी ने एक पत्थर उसकी तरफ़ फेंका, जो उसके सिर में इतने ज़ोर से लगा कि वह वहीं सिर थामकर

बैठ गई। यदि विनय तत्क्षण किसी ऊँचे स्थान पर खड़े होकर जनता को आश्वासन देते, तो कदाचित् उपद्रव न होता, लोग शांत होकर चले जाते। सोफ़ी का ज़ख़्मी हो जाना जनता का क्रोध शांत करने को काफ़ी था। किंतु जो पत्थर सोफ़ी के सिर में लगा, वही कई गुने आघात के साथ विनय के हृदय में लगा। उसकी आँखों में खून उतर आया, आपे से बाहर हो गया। भीड़ को बल-पूर्वक हटाता, आदमियों को ढकेलता, कुचलता सोफ़ी की बग़ल में जा पहुँचा, पिस्तौल कमर से निकाली, और वीरपालसिंह पर गोली चला दी। फिर क्या था, सैनिकों को मानो हुक्म मिल गया, उन्होंने बंदूकें छोड़नी शुरू कीं। कुहराम मच गया, लेकिन फिर भी कई मिनट तक लोग वहीं खड़े गोलियों का जवाब ईंट-पत्थर से देते रहे। दो-चार बन्दूकें इधर से भी चलीं। वीरपाल बाल-बाल बच गया, और विनय को निकट होने के कारण पहचानकर बोला—"आप भी उन्हीं में हैं!"

विनय—"हत्यारा!"

वीरपाल—"परमात्मा हमसे फिर गया है।"

विनय—"तुम्हें एक स्त्री पर हाथ उठाते लज्जा नहीं आती?"

चारों तरफ़ से आवाज़ें आने लगीं—"विनयसिंह हैं, यह कहाँ से आ गए, यह भी उधर मिल गए, इन्हीं ने तो पिस्तौल छोड़ी है!"

"बना हुआ था। घर का भेदी लंका दाह।"

"शायद शर्त पर छोड़ गए हैं।"

"धन की लालसा सिर पर सवार है।"

"मार दो एक पत्थर, सिर फट जाय, यह भी हमारा दुश्मन है।"

"दग़ाबाज़ है।"

"इतना बड़ा आदमी और थोड़े-से धन के लिये ईमान बेच बैठा!"

बंदूकों के सामने निहत्थे लोग कब तक ठहरते। जब कई आदमी उनके पास के लगातार गिरे, तो भगदड़ पड़ गई; कोई इधर भागा,

कोई उधर। मगर वीरपालसिंह और उसके साथ के पाँचों सवार, जिनके हाथों में बंदूकें थीं, राजभवन के पीछे की ओर से विनयसिंह के सिर पर आ पहुँचे। अँधेरे में किसी की निगाह उन पर न पड़ी। विनय ने पीछे की तरफ़ घोड़ों की टाप सुनी, तो चौंके, पिस्तौल चलाई, पर वह ख़ाली थी।

वीरपाल ने व्यंग्य करके कहा—"आप तो प्रजा के मित्र बनते थे!"

विनय—"तुम-जैसे हत्यारों की सहायता करना मेरा नियम नहीं है।"

वीरपाल—"मगर हम उससे अच्छे हैं, जो प्रजा की गरदन पर अधिकारियों से मिलकर छुरी चलाए।"

विनय क्रोधावेश में बाज़ की तरह झपटे कि उसके हाथ से बंदूक छीन लें, किंतु वीरपाल के एक सहयोगी ने झपटकर विनयसिंह को नीचे गिरा दिया, दूसरा साथी तलवार लेकर उसकी ओर लपका ही था कि सोफ़ी, जो अब-तक चेतना-शून्य दशा में भूमि पर पड़ी हुई थी, चीख़ मारकर उठी, और विनयसिंह से लिपट गई। तलवार अपने लक्ष्य पर न पहुँचकर सोफ़ी के माथे पर पड़ी। इतने में नायकराम लाठी लिए हुए आ पहुँचा, और लाठियाँ चलाने लगा। दो विद्रोही आहत होकर गिर पड़े। वीरपाल अब तक हतबुद्धि की भाँति खड़ा था। न उसे ज्ञात था कि सोफ़ी को पत्थर किसने मारा, न उसने अपने सहयोगियों ही को विनय पर आघात करने के लिये कहा था। यह सब कुछ उसकी आँखों के सामने, पर उसकी इच्छा के विरुद्ध, हो रहा था। पर अब अपने साथियों को गिरते देखकर वह तटस्थ न रह सका। उसने बंदूक का कुंदा तौलकर इतनी ज़ोर से नायकराम के सिर में मारा कि उसका सिर फट गया, और एक पल में उसके तीनो साथी अपने आहत साथियों को लेकर भाग निकले। विनयसिंह सँभलकर उठे, तो देखा कि बग़ल में नायकराम ख़ून से तर अचेत पड़ा है, और सोफ़ी का कहीं पता नहीं। उसे कौन ले गया, क्यों ले गया, कैसे ले गया, इसकी उन्हें ख़बर न थी।

मैदान में एक आदमी भी न था। दो-चार लाशें अलबत्ता इधर-उधर पड़ी हुई थीं।

मिस्टर क्लार्क कहाँ थे? तूफ़ान उठा और गया, आग लगी और बुझी, पर उनका कहीं पता तक नहीं। वह शराब के नशे में मस्त, दीन-दुनिया से बेख़बर, अपने शयनागार में पड़े हुए थे। विद्रोहियों का शोर सुनकर सोफ़ी भवन से बाहर निकल आई थी। मिस्टर क्लार्क को इसलिये जगाने की चेष्टा न की थी कि उनके आने से रक्तपात का भय था। उसने शांत उपायों से शांति-रक्षा करनी चाही थी, और उसी का यह फल था। वह पहले सतर्क हो जाती, तो कदाचित् स्थिति इतनी भयावह न होने पाती।

विनय ने नायकराम को देखा। नाड़ी का पता न था, आँखें पथरा गई थीं। चिंता, शोक और पश्चात्ताप से चित्त इतना विकल हुआ कि वह रो पड़े। चिंता थी माता की, उनके दर्शन भी न करने पाया; शोक था सोफ़िया का, न-जाने उसे कौन ले गया; पश्चात्ताप था अपनी क्रोधशीलता पर कि मैं ही इस सारे विद्रोह और रक्तपात का कारण हूँ। अगर मैंने वीरपाल पर पिस्तौल न चलाई होती, तो यह उपद्रव शांत हो जाता।

आकाश पर श्यामल घन-घटा छाई हुई थी, पर विनय के हृदयाकाश पर छाई हुई शोक-घटा उससे कहीं घनघोर, अपार और असूझ थी।

मिस्टर विलियम क्लार्क अपने अन्य स्वदेश-बंधुओं की भाँति सुरापान के भक्त थे, पर उसके वशीभूत न थे। वह भारतवासियों की भाँति पीकर छकना न जानते थे। घोड़े पर सवार होना जानते थे, उसे काबू से बाहर न होने देते थे। पर आज सोफ़ी ने जान-बूझकर उन्हें मात्रा से अधिक पिला दी थी, बढ़ावा देती जाती थी—वाह! इतनी ही, एक ग्लास तो और लो, अच्छा, यह मेरी ख़ातिर से, वाह! अभी तुमने मेरे स्वास्थ्य का प्याला पिया ही नहीं। सोफ़ी ने विनय से कल मिलने का वादा किया था, पर उनकी बातें उसे एक क्षण के लिये भी चैन न लेने देती थीं। वह सोचती थी—"विनय ने आज ये नए बहाने क्यों ढूँढ़ निकाले? मैंने उनके लिये धर्म की भी परवा न की, फिर भी वह मुझसे भागने की चेष्टा कर रहे हैं। अब मेरे पास और कौन-सा उपाय है? क्या प्रेम का देवता इतना पाषाण-हृदय है, क्या वह बड़ी-से-बड़ी पूजा पाकर भी प्रसन्न नहीं होता? माता की अप्रसन्नता का इतना भय उन्हें कभी न था। कुछ नहीं, अब उनका प्रेम शिथिल हो गया है। पुरुषों का चित्त चंचल होता है, इसका एक और प्रमाण मिल गया। अपनी अयोग्यता का कथन उनके मुँह से कितना अस्वाभाविक मालूम होता है। वह, जो इतने उदार, इतने विरक्त, इतने सत्यवादी, इतने कर्तव्यनिष्ठ हैं, मुझसे कहते हैं, मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ! हाय! वह क्या जानते हैं कि मैं उनसे कितनी भक्ति रखती हूँ, मैं इस योग्य भी नहीं कि उनके चरण स्पर्श करूँ। कितनी पवित्र आत्मा है, कितने उज्ज्वल विचार, कितना अलौकिक आत्मोत्सर्ग! नहीं, वह मुझसे दूर रहने ही के लिये ये बहाने कर रहे हैं। उन्हें भय है कि मैं उनके पैरों की ज़ंजीर बन जाऊँगी, उन्हें कर्तव्य-

मार्ग से हटा दूँगी, उनको आदर्श से विमुख कर दूँगी। मैं उनकी इस शंका का कैसे निवारण करूँ?"

दिन-भर इन्हीं विचारों में व्यग्र रहने के बाद संध्या को वह इतनी विकल हुई कि उसने रात ही को विनय से फिर मिलने का निश्चय किया। उसने क्लार्क को शराब पिलाकर इसीलिये अचेत कर दिया था कि उसे किसी प्रकार का संदेह न हो। जेल के अधिकारियों से उसे कोई भय न था। वह इस अवसर को विनय से अनुनय-विनय करने में, उनके प्रेम को जगाने में, उनकी शंकाओं को शांत करने में लगाना चाहती थी; पर उसका यह प्रयास उसी के लिये घातक सिद्ध हुआ। मिस्टर क्लार्क मौके पर पहुँच सकते, तो शायद स्थिति इतनी भयंकर न होती, कम-से-कम सोफ़ी को ये दुर्दिन न देखने पड़ते। क्लार्क अपने प्राणों से उसकी रक्षा करते। सोफ़ी ने उनसे दगा करके अपना ही सर्वनाश कर लिया। अब वह न-जाने कहाँ और किस दशा में थी। प्रायः लोगों का विचार था कि विद्रोहियों ने उसकी हत्या कर डाली, और उसके शव को आभूषणों के लोभ से अपने साथ ले गए। केवल विनयसिंह इस विचार से सहमत न थे। उन्हें विश्वास था कि सोफ़ी अभी ज़िंदा है। विद्रोहियों ने ज़मानत के तौर पर उसे अपने यहाँ क़ैद कर रक्खा है, जिसमें संधि की शर्तें तय करने में सुविधा हो। सोफ़ी रियासत को दबाने के लिये उनके हाथों में एक यंत्र के समान थी।

अपराधियों की पकड़-धकड़ में असाधारण तत्परता से काम लिया जा रहा था। संदेह-मात्र पर लोग फाँस दिए जाते थे, और उनको कठोरतम यातनाएँ दी जाती थीं। साक्षी और प्रमाण की कोई मर्यादा न रह गई थी। इन अपराधियों के भाग्य-निर्णय के लिये एक अलग न्यायालय खोल दिया गया था। उसमें मँजे हुए प्रजा-द्रोहियों को छाँट-छाँटकर नियुक्त किया गया था। यह अदालत किसी को छोड़ना न जानती थी। किसी अभियुक्त को प्राण-दंड देने के लिये एक सिपाही की शहादत काफ़ी थी। सरदार नीलकंठ बिना अन्न-जल, दिन-के-दिन, विद्रोहियों की खोज लगाने में व्यस्त रहते थे। यहाँ तक कि हिज़ हाइनेस महाराजा साहब स्वयं शिमला, दिल्ली और उदयपुर एक किए हुए थे। पुलिस-कर्मचारियों के नाम रोज़ ताकीदें भेजी जाती थीं। उधर शिमला से भी ताकीदों का ताँता बँधा हुआ था। ताकीदों के बाद धमकियाँ आने लगीं। उसी अनुपात से यहाँ प्रजा पर भी उत्तरोत्तर अत्याचार बढ़ता जाता था। मि० क्लार्क को निश्चय था कि इस विद्रोह में रियासत का हाथ भी अवश्य था। अगर रियासत ने पहले ही से विद्रोहियों का जीवन कठिन कर दिया होता, तो वे कदापि इस भाँति सिर न उठा सकते। रियासत के बड़े-से-बड़े अधिकारी भी उनके सामने जाते काँपते थे। वह दौरे पर निकलते, तो एक अँगरेज़ी रिसाला साथ ले लेते, और इलाक़े-के-इलाक़े उजड़वा देते, गाँव-के-गाँव तबाह करवा देते। यहाँ तक कि स्त्रियों पर भी अत्याचार होता था। और, सबसे अधिक खेद की बात यह थी कि रियासत और क्लार्क के इन सारे दुष्कृत्यों में विनय भी मनसा, वाचा, कर्मणा सहयोग करते थे। वास्तव में उन पर प्रमाद का रंग छाया हुआ था। सेवा और उपकार के भाव हृदय से संपूर्णतः मिट गए थे। सोफ़ी और उसके शत्रुओं का पता लगाने का उद्योग, यही एक काम उनके लिये रह गया था। मुझे दुनिया क्या कहती है, मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है, माताजी का क्या हाल हुआ, इन बातों की ओर अब उनका ध्यान ही न जाता था। अब तो वह

रियासत के दाहने हाथ बने हुए थे। अधिकारी समय-समय पर उन्हें और भी उत्तेजित करते रहते थे। विद्रोहियों के दमन में कोई पुलिस का कर्मचारी, रियासत का कोई नौकर इतना हृदयहीन, विचारहीन, न्यायहीन न बन सकता था! उनकी राजभक्ति का वारापार न था, या यों कहिए कि इस समय वह रियासत के कर्णधार बने हुए थे, यहाँ तक कि सरदार नीलकंठ भी उनसे दबते थे। महाराना साहब को उन पर इतना विश्वास हो गया था कि उनसे सलाह लिए बिना कोई काम न करते। उनके लिये आने-जाने की कोई रोक-टोक न थी। और, मि० क्लार्क से तो उनकी दाँतकाटी रोटी थी। दोनो एक ही बँगले में रहते थे, और अंतरंग में सरदार साहब की जगह पर विनय की नियुक्ति की चर्चा की जाने लगी थी।

प्रायः साल-भर तक रियासत में यही आपाधापी रही। जब जसवंतनगर विद्रोहियों से पाक हो गया, अर्थात् वहाँ कोई जवान आदमी न रहा, तो विनय ने स्वयं सोफ़ी का सुराग लगाने के लिये कमर बाँधी। उनकी सहायता के लिये गुप्त पुलिस के कई अनुभवी आदमी तैनात किए गए। चलने की तैयारियाँ होने लगीं। नायकराम अभी तक कमज़ोर थे। उनके बचने की आशा ही न रही थी; पर ज़िंदगी बाक़ी थी, बच गए। उन्होंने विनय को जाने पर तैयार देखा, तो साथ चलने का निश्चय किया। आकर बोले—"भैया, मुझे भी साथ ले चलो, मैं यहाँ अकेला न रहूँगा।"

विनय—"मैं कहीं परदेश थोड़े ही जाता हूँ। सातवें दिन यहाँ आया करूँगा, तुमसे मुलाक़ात हो जायगी।"

सरदार नीलकंठ वहीं बैठे हुए थे। बोले—"अभी तुम जाने के लायक़ नहीं हो।"

नायकराम—"सरदार साहब, अब आप ही भैया को समझाइए। आदमी एक घड़ी की नहीं चलाता, एक हफ़्ता तो बहुत है। फिर मोरचा लेना है वीरपालसिंह से, जिसका लोहा मैं भी मानता हूँ। मेरी कई लाठियाँ उसने ऐसी रोक लीं कि एक भी पड़ जाती, तो काम तमाम हो जाता। पक्का फेंकैत है। क्या मेरी जान तुम्हारी जान से प्यारी है?"

नीलकंठ—"हाँ, वीरपाल है तो एक ही शैतान। न-जाने कब, किधर से, कितने आदमियों के साथ टूट पड़े। उसके गोइंदे सारी रियासत में फैले हुए हैं।"

नायकराम—"तो ऐसे जोखम में कैसे इनका साथ छोड़ दूँ! मालिक की चाकरी में जान भी निकल जाय, तो क्या गम है, और यह जिंदगानी है किसलिये!"

विनय—"भई, बात यह है कि मैं अपने साथ किसी ग़ैर की जान जोखिम में नहीं डालना चाहता।"

नायकराम—"हाँ, जब आप मुझे ग़ैर समझते हैं, तो दूसरी बात है। हाँ, ग़ैर तो हूँ ही; ग़ैर न होता, तो रानीजी के इशारे पर यहाँ कैसे दौड़ा आता, जेल में जाकर कैसे बाहर निकाल लाता, और साल-भर तक खाट क्यों सेता। सरदार साहब, हजूर ही अब इंसाफ कीजिए। मैं ग़ैर हूँ? जिसके लिये जान हथेली पर लिए फिरता हूँ, वही ग़ैर समझता है।"

नीलकंठ—"विनयसिंह, यह आपका अन्याय है। आप इन्हें ग़ैर क्यों कहते हैं? अपने हितैषियों को ग़ैर कहने से उन्हें दुःख होता है।"

नायकराम—"बस, सरदार साहब, हजूर ने लाख रुपए की बात कह दी। पुलिस के आदमी ग़ैर नहीं हैं, और मैं ग़ैर हूँ!"

विनय—"अगर ग़ैर कहने से तुम्हें दुःख होता है, तो मैं यह शब्द वापस लेता हूँ। मैंने ग़ैर केवल इस विचार से कहा था कि तुम्हारे संबंध में मुझे घरवालों को जवाब देना पड़ेगा। पुलिसवालों के लिये तो कोई मुझसे जवाब न माँगेगा।"

नायकराम—"सरदार साहब, अब आप ही इसका जवाब दीजिए। यह मैं कैसे कहूँ कि मुझे कुछ हो गया, तो कुँअर साहब कुछ पूछताछ न करेंगे, उनका भेजा हुआ आया ही हूँ। भैया को जवाबदेही तो जरूर करनी पड़ेगी।"

नीलकंठ—"यह माना कि तुम उनके भेजे हुए आए हो; मगर तुम इतने अबोध नहीं हो कि तुम्हारी हानि-लाभ की जिम्मेदारी विनयसिंह के सिर हो। तुम अपना अच्छा-बुरा आप सोच सकते हो। क्या कुँअर साहब इतना भी न समझेंगे।"

नायकराम—"अब कहिए धर्मावतार, अब तो मुझे ले चलना पड़ेगा, सरदार साहब ने मेरी डिग्री कर दी। मैं कोई नाबालक नहीं हूँ कि सरकार के सामने आपको जवाब देना पड़े।"

अंत को विनय ने नायकराम को साथ ले चलना स्वीकार किया, और दो-तीन दिन पश्चात् दस आदमियों की एक टोली, भेष बदलकर, सब तरह लैस होकर, टोहिए कुत्तों को साथ लिए, दुर्गम पर्वतों में दाखिल हुई। पहाड़ों में आग निकल रही थी। बहुधा कोसों तक पानी की एक बूँद न मिलती, रास्ते पथरीले, वृक्षों का पता नहीं, दोपहर को लोग गुफाओं

धूम मच जाती कि काशी के पंडाजी पधारे हैं। भक्तजन जमा हो जाते, नाई-कहार आ पहुँचते, दूध-घी, फल-फूल, शाक-भाजी आदि की रेल-पेल हो जाती, किसी मंदिर के चबूतरे पर खाट पड़ जाती, बाल-वृद्ध, नर-नारी बेधड़क पंडाजी के पास आते, और यथाशक्ति दक्षिणा देते। पंडाजी बातों-बातों में उनसे गाँव का सारा समाचार पूछ लेते। विनयसिंह को अब ज्ञात हुआ कि नायकराम साथ न होते, तो मुझे कितने कष्ट झेलने पड़ते। वह स्वभाव के मितभाषी, संकोचशील, गंभीर आदमी थे, उनमें वह शासन-बुद्धि न थी, जो जनता पर आतंक जमा लेती है, न वह मधुर वाणी, जो मन को मोहती है। ऐसी दशा में नायकराम का संग उनके लिये दैवी सहायता से कम न था।

रास्ते में कभी-कभी हिंसक जंतुओं से मुठभेड़ हो जाती। ऐसे अवसरों पर नायकराम सेनासिपर हो जाता था। एक दिन चलते-चलते दोपहर हो गया। दूर तक आबादी का कोई निशान न था। धूप की प्रखरता से एक-एक पग चलना मुश्किल था। कोई कुआँ या तालाब भी नज़र न आता था। सहसा एक ऊँचा टीकरा दिखाई दिया। नायकराम उस पर चढ़ गया कि शायद ऊपर से कोई गाँव या कुआँ दिखाई दे। उसने शिखर पर पहुँचकर इधर-उधर निगाहें दौड़ाईं, तो दूर पर एक आदमी जाता हुआ दिखाई दिया। उसके हाथ में एक लकड़ी और पीठ पर एक थैली थी। कोई बिना वर्दी का सिपाही मालूम होता था। नायकराम ने उसे कई बार ज़ोर-ज़ोर से पुकारा, तो उसने गरदन फेरकर देखा। नायकराम उसे पहचान गए। यह विनयसिंह के साथ का एक स्वयंसेवक था। उसे इशारे से बुलाया, और टीले से उतरकर उसके पास आए। इस सेवक का नाम इंद्रदत्त था।

इंद्रदत्त ने पूछा—"तुम यहाँ कैसे आ फँसे जी? तुम्हारे कुँअर कहाँ हैं?"

नायकराम—"पहले यह बताओ कि यहाँ कोई गाँव भी है, कहीं दाना-पानी मिल सकता है?"

इंद्रदत्त—"जिसके राम धनी, उसे कौन कमी ! क्या राजदरबार में भोजन की रसद नहीं लगाई ? तेली से ब्याह करके तेल का रोना !"

नायकराम—"क्या कहूँ भाई, बुरा फँस गया हूँ; न रहते बनता है, न जाते।"

इंद्रदत्त—"उनके साथ तुम भी अपनी मिट्टी ख़राब कर रहे हो। कहाँ हैं आजकल ?"

नायकराम—"क्या करोगे ?"

इंद्रदत्त—"कुछ नहीं, ज़रा मिलना चाहता था।"

नायकराम—"हैं तो वह भी। यहीं भेंट हो जायगी। थैली में कुछ है ?"

यों बातें करते हुए दोनो विनयसिंह के पास पहुँचे। विनय ने इंद्रदत्त को देखा, तो शत्रु-भाव से बोला—"इंद्रदत्त, तुम कहाँ ? घर क्यों नहीं गए ?"

इंद्रदत्त—"आपसे मिलने की बड़ी आकांक्षा थी। आपसे कितनी ही बातें करनी हैं। पहले यह बतलाइए कि आपने यह चोला क्यों बदला ?"

नायकराम—"पहले तुम अपनी थैली में से कुछ निकालो, फिर बातें होंगी।"

विनयसिंह अपनी कायापलट का समर्थन करने के लिये सर्वत्र तत्पर रहते थे। बोले—"इसलिये कि मुझे अपनी भूल मालूम हो गई। मैं पहले समझता था कि प्रजा बड़ी सहनशील और शांतिप्रिय है। अब ज्ञात हुआ कि वह नीच और कुटिल है। उसे ज्यों ही अपनी शक्ति का कुछ ज्ञान हो जाता है, वह उसका दुरुपयोग करने लगती है। जो प्राणी शक्ति का संचार होते ही उन्मत्त हो जाय, उसका अशक्त, दलित रहना ही अच्छा। गत विद्रोह इसका ज्वलंत प्रमाण है। ऐसी दशा में मैंने जो कुछ किया, और कर रहा हूँ, वह सर्वथा न्यायसंगत और स्वाभाविक है।"

इंद्रदत्त—"क्या आपके विचार में प्रजा को चाहिए कि उस पर कितने ही अत्याचार किए जायँ, वह मुँह न खोले ?"

विनय—"हाँ, वर्तमान दशा में यही उसका धर्म है।"

इंद्रदत्त—"उसके नेताओं को भी यही आदर्श उसके सामने रखना चाहिए ?"

विनय—"अवश्य !"

इंद्रदत्त—"तो जब आपने जनता को विद्रोह के लिये तैयार देखा, तो उसके सम्मुख खड़े होकर धैर्य और शांति का उपदेश क्यों नहीं दिया ?"

विनय—"व्यर्थ था, उस वक्त कोई मेरी न सुनता।"

इंद्रदत्त—"अगर न सुनता, तो क्या आपका यह धर्म नहीं था कि दोनो दलों के बीच में खड़े होकर पहले खुद गोली का निशाना बनते ?"

विनय—"मैं अपने जीवन को इतना तुच्छ नहीं समझता।"

इंद्रदत्त—"जो जीवन सेवा और परोपकार के लिये समर्पण हो चुका हो, उसके लिये इससे उत्तम और कौन मृत्यु हो सकती थी ?"

विनय—"आग में कूदने का नाम सेवा नहीं है। उसे दमन करना ही सेवा है।"

इंद्रदत्त—"अगर वह सेवा नहीं है, तो दीन जनता की, अपनी भावुकता पर, आहुति देना भी सेवा नहीं है। बहुत संभव था कि सोफ़िया ने अपनी दलीलों से वीरपालसिंह को निरुत्तर कर दिया होता। किंतु आपने विषय के वशीभूत होकर पिस्तौल का पहला वार किया, और इसलिये इस हत्याकांड का सारा भार आपकी ही गरदन पर है, और जल्द या देर में आपको इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। आप जानते हैं, प्रजा को आपके नाम से कितनी घृणा है ? अगर कोई आदमी आपको यहाँ देखकर पहचान जाय, तो उसका पहला काम यह होगा कि आपके ऊपर तीर चलाए। आपने यहाँ की जनता के साथ, अपने सहयोगियों के साथ, अपनी जाति के साथ और सबसे अधिक अपनी पूज्य माता के साथ जो कुटिल विश्वासघात किया है, उसका कलंक कभी आपके माथे से न मिटेगा। कदाचित् रानीजी आपको देखें, तो अपने हाथों से आपकी

गरदन पर कटार चला दें। आपके जीवन से मुझे यह अनुभव हुआ कि मनुष्य का कितना नैतिक पतन हो सकता है।"

विनय ने कुछ नम्र होकर कहा—"इंद्रदत्त, अगर तुम समझते हो कि मैंने स्वार्थ-वश अधिकारियों की सहायता की, तो तुम मुझ पर घोर अन्याय कर रहे हो। प्रजा का साथ देने में जितनी आसानी से यश प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक आसानी से अधिकारियों का साथ देने में अपयश मिलता है। यह मैं जानता था। किंतु सेवक का धर्म यश और अपयश का विचार करना नहीं है, उसका धर्म सन्मार्ग पर चलना है। मैंने सेवा का व्रत धारण किया है, और ईश्वर न करे कि वह दिन देखने के लिये जीवित रहूँ, जब मेरे सेवा-भाव में स्वार्थ का समावेश हो। पर इसका यह आशय नहीं है कि मैं जनता का अनौचित्य देखकर भी उसका समर्थन करूँ। मेरा व्रत मेरे विवेक की हत्या नहीं कर सकता।"

इंद्रदत्त—"कम-से-कम इतना तो आप मानते ही हैं कि स्वहित के लिये जनता का अहित न करना चाहिए।"

विनय—"जो प्राणी इतना भी न माने, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है।"

इंद्रदत्त—"क्या आपने केवल सोफ़िया के लिये रियासत की समस्त प्रजा को विपत्ति में नहीं डाला, और अब भी उसका सर्वनाश करने की धुन में नहीं हैं?"

विनय—"तुम मुझ पर यह मिथ्या दोषारोपण करते हो। मैं जनता के लिये सत्य से मुँह नहीं मोड़ सकता। सत्य मुझे देश और जाति, दोनों से प्रिय है। जब तक मैं समझता था कि प्रजा सत्य-पक्ष पर है, मैं उसकी रक्षा करता था। जब मुझे विदित हुआ कि उसने सत्य से मुँह मोड़ लिया, मैंने भी उससे मुँह मोड़ लिया। मुझे रियासत के अधिकारियों से कोई आंतरिक विरोध नहीं है। मैं वह आदमी नहीं हूँ कि हुक्काम को न्याय पर देखकर भी अनायास उनसे वैर करूँ, और न मुझसे यही हो

सकता है कि प्रजा को विद्रोह और दुराग्रह पर तत्पर देखकर भी उसकी हिमायत करूँ। अगर कोई आदमी मिस सोफ़िया की मोटर के नीचे दब गया, तो यह एक आकस्मिक घटना थी, सोफ़िया ने जान-बूझकर तो उस पर से मोटर को चला नहीं दिया। ऐसी दशा में जनता का उस भाँति उत्तेजित हो जाना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि वह अधिकारियों को बल-पूर्वक अपने वश में करना चाहती है। आप सोफ़िया के प्रति मेरे आचरण पर आक्षेप करके मुझ पर ही अन्याय नहीं कर रहे हैं, वरन् अपनी आत्मा को भी कलंकित कर रहे हैं।"

इंद्रदत्त—"ये हज़ारों आदमी निरपराध क्यों मारे गए? क्या यह भी प्रजा ही का क़सूर था?"

विनय—"यदि आपको अधिकारियों की कठिनाइयों का कुछ अनुभव होता, तो आप मुझसे कदापि यह प्रश्न न करते। इसके लिये आप क्षमा के पात्र हैं। साल-भर पहले जब अधिकारियों से मेरा कोई संबंध न था, कदाचित् मैं भी ऐसा ही समझता था। किंतु अब मुझे अनुभव हुआ है कि उन्हें ऐसे अवसरों पर न्याय का पालन करने में कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। मैं यह स्वीकार नहीं करता कि अधिकार पाते ही मनुष्य का रूपांतर हो जाता है। मनुष्य स्वभावतः न्याय-प्रिय होता है। उसे किसी को बरबस कष्ट देने से आनंद नहीं मिलता, बल्कि उतना ही दुख और क्षोभ होता है, जितना किसी प्रजा-सेवक को। अंतर केवल इतना ही है कि प्रजा-सेवक किसी दूसरे पर दोषारोपण करके अपने को संतुष्ट कर लेता है, यहीं उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है, अधिकारियों को यह अवसर प्राप्त नहीं होता। वे आप अपने आचरण की सफ़ाई नहीं पेश कर सकते। आपको ख़बर नहीं कि हुक्काम ने अपराधियों को खोज निकालने में कितनी दिक़्क़तें उठाईं। प्रजा अपराधियों को छिपा लेती थी, और राजनीति के किसी सिद्धांत का उस पर कोई

असर न होता था। अतएव अपराधियों के साथ निरपराधियों का फँस जाना संभव ही था। फिर आपको मालूम नहीं है कि इस विद्रोह ने रियासत को कितने महान् संकट में डाल दिया है। अँगरेज़ी सरकार को संदेह है कि दरबार ने ही यह सारा षड्यंत्र रचा था। अब दरबार का कर्तव्य है कि वह अपने को इस आक्षेप से मुक्त करे, और जब तक मिस सोफ़िया का सुराग़ नहीं मिल जाता, रियासत की स्थिति अत्यंत चिंतामय है। भारतीय होने के नाते मेरा धर्म है कि रियासत के मुख पर से इस कालिमा को मिटा दूँ; चाहे इसके लिये मुझे कितना ही अपमान, कितना ही लांछन, कितना ही कटु वचन क्यों न सहना पड़े, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न चले जायँ। जाति-सेवक की अवस्था कोई स्थायी रूप नहीं रखती, परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन होता रहता है। कल मैं रियासत का जानी दुश्मन था, आज उसका अनन्य भक्त हूँ, और इसके लिये मुझे लेश-मात्र भी लज्जा नहीं।"

इंद्रदत्त—"ईश्वर ने आपको तर्क-बुद्धि दी है, और उससे आप दिन को रात सिद्ध कर सकते हैं; किंतु आपकी कोई शक्ति प्रजा के दिल से इस ख़याल को नहीं दूर कर सकती कि आपने उसके साथ दग़ा की, और इस विश्वासघात की जो यंत्रणा आपको सोफ़िया के हाथों मिलेगी, उससे आपकी आँखें खुल जायँगी।"

विनय ने इस भाँति लपककर इंद्रदत्त का हाथ पकड़ लिया, मानो वह भगा जा रहा हो, और बोले—"तुम्हें सोफ़िया का पता मालूम है?"

इंद्रदत्त—"नहीं।"

विनय—"झूठ बोलते हो।"

इंद्रदत्त—"हो सकता है।"

विनय—"तुम्हें बताना पड़ेगा।"

इंद्रदत्त—"आपको अब मुझसे यह पूछने का अधिकार नहीं रहा। आपका या दरबार का मतलब पूरा करने के लिये मैं दूसरों की जान

संकट में नहीं डालना चाहता। आपने एक बार विश्वासघात किया है, और फिर कर सकते हैं।"

नायकराम—"बता देंगे, आप क्यों इतने घबराए जाते हैं! इतना तो बता ही दो भैया इंद्रदत्त कि मेम साहब कुशल से हैं न?"

इंद्रदत्त—"हाँ, बहुत कुशल से हैं, और प्रसन्न हैं। कम-से-कम विनयसिंह के लिये कभी विकल नहीं होतीं। सच पूछो, तो उन्हें अब इनके नाम से घृणा हो गई है।"

विनय—"इंद्रदत्त, हम और तुम बचपन के मित्र हैं। तुम्हें ज़रूरत पड़े, तो मैं अपने प्राण तक दे दूँ; पर तुम इतनी ज़रा सी बात बतलाने से इनकार कर रहे हो। यही दोस्ती है!"

इंद्रदत्त—"दोस्ती के पीछे दूसरों की जान क्यों विपत्ति में डालूँ?"

विनय—"मैं माता के चरणों की क़सम खाकर कहता हूँ, मैं इसे गुप्त रक्खूँगा। मैं केवल एक बार सोफ़िया से मिलना चाहता हूँ।"

इंद्रदत्त—"काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती।"

विनय—"इंद्र, मैं जीवन-पर्यंत तुम्हारा उपकार मानूँगा।"

इंद्रदत्त—"जी नहीं, बिल्ली बख़्शे, मुर्गा बाँडा ही अच्छा।"

विनय—"मुझसे जो क़सम चाहे ले लो।"

इंद्रदत्त—"जिस बात के बतलाने का मुझे अधिकार नहीं, उसे बताने के लिये आप मुझसे व्यर्थ आग्रह कर रहे हैं।"

विनय—"तुम पाषाण-हृदय हो।"

इंद्रदत्त—"मैं उससे भी कठोर हूँ। मुझे जितना चाहिए, कोस लीजिए, पर सोफ़ी के विषय में मुझसे कुछ न पूछिए।"

नायकराम—"हाँ भैया, बस यही टेक चली जाय। मरदों का यही काम है। दो टूक कह दिया कि जानते हैं, लेकिन बतलाएँगे नहीं, चाहे किसी को भला लगे या बुरा।"

इंद्रदत्त—"अब तो कलई खुल गई न ? क्यों कुँअर साहब महाराज, अब तो बढ़-बढ़कर बातें न करोगे ?"

विनय—"इंद्रदत्त, जले पर नमक न छिड़को। जो बात पूछता हूँ, बतला दो ; नहीं तो मेरी जान को रोना पड़ेगा। तुम्हारी जितनी ख़ुशामद कर रहा हूँ, उतनी आज तक किसी की नहीं की थी; पर तुम्हारे ऊपर ज़रा भी असर नहीं होता।"

इंद्रदत्त—"मैं एक बार कह चुका कि मुझे जिस बात के बतलाने का अधिकार नहीं, वह किसी तरह न बताऊँगा। बस, इस विषय में तुम्हारा आग्रह करना व्यर्थ है। यह लो, अपनी राह जाता हूँ। तुम्हें जहाँ जाना हो, जाओ।"

नायकराम—"सेठजी, भागो मत, मिस साहब का पता बताए बिना न जाने पाओगे।"

इंद्रदत्त—"क्या ज़बरदस्ती पूछोगे ?"

नायकराम—"हाँ, जबरजस्ती पूछूँगा, बाम्हन होकर तुमसे भिच्छा माँग रहा हूँ, और तुम इनकार करते हो, इसी पर धर्मात्मा, सेवक, चाकर बनते हो ! यह समझ लो, बाम्हन भीख लिए बिना द्वार से नहीं जाता ; नहीं पाता, तो धरना देकर बैठ जाता है, और फिर ले ही कर उठता है।"

इंद्रदत्त—"मुझसे ये पंडई चालें न चलो, समझे ! ऐसे भीख देनेवाले कोई और होंगे।"

नायकराम—"क्यों बाप-दादों का नाम डुबाते हो भैया, कहता हूँ, यह भीख लिए बिना अब तुम्हारा गला नहीं छूट सकता।"

यह कहते हुए नायकराम चट ज़मीन पर बैठ गए, इंद्रदत्त के दोनो पैर पकड़ लिए, उन पर अपना सिर रख दिया, और बोले—"अब तुम्हारा जो धरम हो, वह करो। मैं मूरख हूँ, गँवार हूँ, पर बाम्हन हूँ। तुम सामरथी पुरुस हो। जैसा उचित समझो, करो।"

इंद्रदत्त अब भी न पसीजे, अपने पैरों को छुड़ाकर चले जाने की चेष्टा की, पर उनके मुख से स्पष्ट विदित हो रहा था कि इस समय बड़े असमंजस में पड़े हुए हैं, और इस दीनता की उपेक्षा करते हुए अत्यंत लज्जित हैं। वह बलिष्ठ पुरुष थे, स्वयंसेवकों में कोई उनका-सा दीर्घकाय युवक न था। नायकराम अभी कमज़ोर थे। निकट था कि इंद्रदत्त अपने पैरों को छुड़ाकर निकल जायँ कि नायकराम ने विनय से कहा—"भैया, खड़े क्या देखते हो? पकड़ लो इनके पाँव, देखूँ, यह कैसे नहीं बताते।"

विनयसिंह कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिये भी ख़ुशामद करना अनुचित समझते थे, पाँव पर गिरने की बात ही क्या। किसी संत-महात्मा के सामने दीन भाव प्रकट करने से उन्हें संकोच न था, अगर उससे हार्दिक श्रद्धा हो। केवल अपना काम निकालने के लिये उन्होंने सिर झुकाना सीखा ही न था। पर जब उन्होंने नायकराम को इंद्रदत्त के पैरों पर गिरते देखा, तो आत्मसम्मान के लिये कोई स्थान न रहा। सोचा, जब मेरी ख़ातिर नायकराम ब्राह्मण होकर यह अपमान सहन कर रहा है, तो मेरा दूर खड़े शान की लेना मुनासिब नहीं। यद्यपि एक क्षण पहले इंद्रदत्त से उन्होंने अविनय-पूर्ण बातें की थीं, और उनकी चिरौरी करते हुए लज्जा आती थी, पर सोफ़ी का समाचार भी इसके सिवा अन्य किसी उपाय से मिलता हुआ नहीं नज़र आता था। उन्होंने आत्मसम्मान को भी सोफ़ी पर समर्पण कर दिया। मेरे पास यही एक चीज़ थी, जिसे मैंने अभी तक तेरे हाथ में न दिया था। आज वह भी तेरे हवाले करता हूँ। आत्मा अब भी सिर न झुकाना चाहती थी, पर कमर झुक गई। एक पल में उनके हाथ इंद्रदत्त के पैरों के पास जा पहुँचे। इंद्रदत्त ने तुरंत पैर खींच लिए, और विनय को उठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"विनय, यह क्या अनर्थ करते हो, हैं, हैं!"

विनय की दशा उस सेवक की-सी थी, जिसे उसके स्वामी ने थूककर चाटने का दंड दिया हो। अपनी अधोगति पर रोना आ गया।

नायकराम ने इंद्रदत्त से कहा—"भैया, मुझे भिक्षुक समझकर दुत्कार सकते थे; लेकिन अब कहो।"

इंद्रदत्त संकोच में पड़कर बोले—"विनय, क्यों मुझे इतना लज्जित कर रहे हो! मैं वचन दे चुका हूँ कि किसी से यह भेद न बताऊँगा।"

नायकराम—"तुमसे कोई जबरजस्ती तो नहीं कर रहा है। जो अपना धरम समझो, वह करो, तुम आप बुद्धिमान हो।"

इंद्रदत्त ने खिन्न होकर कहा—"ज़बरदस्ती नहीं, तो और क्या है! ग़रज़ बावली होती है, पर आज मालूम हुआ कि वह अंधी भी होती है। विनय, व्यर्थ ही अपनी आत्मा पर यह अन्याय कर रहे हो। भले आदमी, क्या आत्मगौरव भी घोलकर पी गए? तुम्हें उचित था कि प्राण देकर भी आत्मा की रक्षा करते। अब तुम्हें ज्ञात हुआ होगा कि स्वार्थ-कामना मनुष्य को कितना पतित कर देती है। मैं जानता हूँ, एक वर्ष पहले सारा संसार मिलकर भी तुम्हारा सिर न झुका सकता था, आज तुम्हारा यह नैतिक पतन हो रहा है! अब उठो, मुझे पाप में न डुबाओ।"

विनय को इतना क्रोध आया कि इसके पैरों को खींच लूँ, और छाती पर चढ़ बैठूँ। दुष्ट इस दशा में भी डंक मारने से बाज़ नहीं आता। पर यह विचार करके कि अब तो जो कुछ होना था हो चुका, ग्लानि-भाव से बोले—"इंद्रदत्त, तुम मुझे जितना पामर समझते हो, उतना नहीं हूँ; पर सोफ़ी के लिये मैं सब कुछ कर सकता हूँ। मेरा आत्मसम्मान, मेरी बुद्धि, मेरा पौरुष, मेरा धर्म, सब कुछ प्रेम के हवन-कुंड में स्वाहा हो गया। अगर तुम्हें अब भी मुझ पर दया न आए, तो मेरी कमर से पिस्तौल निकालकर एक निशाने से काम तमाम कर दो।"

यह कहते-कहते विनय की आँखों में आँसू भर आए। इंद्रदत्त ने उन्हें उठाकर कंठ से लगा लिया, और करुण भाव से बोले—"विनय, क्षमा करो, यद्यपि तुमने नीति का अहित किया है, पर मैं जानता हूँ कि तुमने वही किया, जो कदाचित् इस स्थिति में मैं या कोई अन्य प्राणी भी करता। मुझे

तुम्हारा तिरस्कार करने का अधिकार नहीं। तुमने अगर प्रेम के लिये आत्ममर्यादा को तिलांजलि दे दी, तो मैं भी मैत्री और सौजन्य के लिये अपने वचन से विमुख हो जाऊँगा। जो तुम चाहते हो, वह मैं बता दूँगा। पर इससे तुम्हें कोई लाभ न होगा; क्योंकि मिस सोफ़िया की दृष्टि में तुम गिर गए हो, उसे अब तुम्हारे नाम से घृणा होती है। उससे मिलकर तुम्हें दुःख होगा।"

नायकराम—"भैया, तुम अपनी-सी कर दो, मिस साहब को मनाना-जनाना इनका काम है। अमिक लोग बड़े चलते-पुरजे होते हैं, छटे हुए सोहदे, देखने ही को सीधे होते हैं। मासूक को चुटकी बजाते अपना कर लेते हैं। जरा आँखों में पानी भरकर देखा, और मासूक पानी हुआ।"

इंद्रदत्त—"मिस सोफ़िया मुझे कभी क्षमा न करेंगी; लेकिन अब उनका-सा हृदय कहाँ से लाऊँ। हाँ, एक बात बतला दो। इसका उत्तर पाए बिना मैं कुछ न बता सकूँगा।"

विनय—"पूछो।"

इंद्रदत्त—"तुम्हें वहाँ अकेले जाना पड़ेगा। वचन दो कि खुफ़िया पुलिस का कोई आदमी तुम्हारे साथ न होगा।"

विनय—"इससे तुम निश्चिंत रहो।"

इंद्रदत्त—"अगर तुम पुलिस के साथ गए, तो सोफ़िया की लाश के सिवा और कुछ न पाओगे।"

विनय—"मैं ऐसी मूर्खता करूँगा ही क्यों!"

इंद्रदत्त—"यह समझ लो कि मैं सोफ़ी का पता बताकर उन लोगों के प्राण तुम्हारे हाथों में रक्खे देता हूँ, जिनकी खोज में तुमने दाना-पानी हराम कर रक्खा है।"

नायकराम—"भैया, चाहे अपनी जान निकल जाय, उन पर कोई रेप न आने पाएगा। लेकिन यह भी बता दो कि वहाँ हम लोगों की जान का जोखम तो नहीं है?"

इंद्रदत्त—(विनय से)"अगर वे लोग तुमसे वैर साधना चाहते, तो अब तक तुम लोग जीते न रहते। रियासत की समस्त शक्ति भी तुम्हारी रक्षा न कर सकती। उन लोगों को तुम्हारी एक-एक बात की खबर मिलती रहती है। यह समझ लो कि तुम्हारी जान उनकी मुट्ठी में है। इतने प्रजा-द्रोह के बाद अगर तुम अभी ज़िंदा हो, तो यह मिस सोफ़िया की कृपा है। अगर मिस सोफ़िया को तुमसे मिलने की इच्छा होती, तो इससे ज्यादा आसान कोई काम न था, लेकिन उनकी तो यह हालत है कि तुम्हारे नाम ही से चिढ़ती हैं। अगर अब भी उनसे मिलने की अभिलाषा हो, तो मेरे साथ आओ।"

विनयसिंह को अपनी विचार-परिवर्तक शक्ति पर विश्वास था। इसकी उन्हें लेश-मात्र भी शंका न थी कि सोफ़ी मुझसे बातचीत न करेगी। हाँ, खेद इस बात का था कि मैंने सोफ़ी ही के लिये अधिकारियों को जो सहायता दी, उसका परिणाम यह हुआ। काश मुझे पहले ही मालूम हो जाता कि सोफ़ी मेरी नीति को पसंद नहीं करती, वह मित्रों के हाथ में है, और सुखी है, तो मैं यह अनीति करता ही क्यों? मुझे प्रजा से कोई वैर तो था नहीं। सोफ़ी पर भी तो इसकी कुछ-न-कुछ ज़िम्मेदारी है। वह मेरी मनोवृत्तियों को जानती थी। क्या वह एक पत्र भेजकर मुझे अपनी स्थिति की सूचना न दे सकती थी? जब उसने ऐसा नहीं किया, तो उसे अब मुझ पर त्योरियाँ चढ़ाने का क्या अधिकार है?

यह सोचते हुए इंद्रदत्त के पीछे-पीछे चलने लगे। भूरा-श्याम हुआ

चलते-चलते संध्या हो गई। पहाड़ों की संध्या मैदान की रातों से कहीं भयानक होती है। तीनो आदमी चले जाते थे; किंतु अभी ठिकाने का पता न था। पहाड़ियों के साए लंबे हो गए। सूर्य डूबने से पहले ही दिन डूब गया। रास्ता न सुझाई देता था। दोनो आदमी बार-बार इंद्रदत्त से पूछते, अब कितनी दूर है, पर यही जवाब मिलता कि चले आओ, अब पहुँचे जाते हैं। यहाँ तक कि विनयसिंह ने एक बार झुँझलाकर कहा—"इंद्रदत्त, अगर तुम हमारे ख़ून के प्यासे हो, तो साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते? इस भाँति कुदा-कुदाकर क्यों मारते हो!" इंद्रदत्त ने इसका भी यही जवाब दिया कि चले आओ, अब दूर नहीं है; हाँ, ज़रा सतर्क रहना, रास्ता दुर्गम है।

विनय को अब बार-बार पछतावा हो रहा था कि इंद्रदत्त के साथ क्यों आया, क्यों न पहले उसके हाथों सोफ़िया को एक पत्र भेज दिया! पत्र का उत्तर मिलने पर जब सोफ़िया की लिपि पहचान लेता, तो निश्चिंत होकर इधर आता। सोफ़ी इतनी वज्र-हृदया तो है नहीं कि पत्र का उत्तर ही न देती। यह उतावली करने में मुझसे बड़ी भूल हुई। इंद्रदत्त की नीयत अच्छी नहीं मालूम होती। इन शंकाओं से उसका मार्ग और कठिन हो रहा था। लोग ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते थे, रास्ता बीहड़ और विषम होता जाता था। कभी टीलों पर चढ़ना पड़ता, और कभी इतना नीचे उतरना पड़ता कि मालूम होता, रसातल को चले जा रहे हैं। कभी दाएँ-बाएँ गहरे खड्डों के बीच में एक पतली-सी पगडंडी मिल जाती। आँखें बिलकुल काम न देती थीं, केवल अटकल का सहारा था, जो वास्तव में अंतर्दृष्टि है। विनय पिस्तौल चढ़ाए हुए थे, मन में निश्चय कर लिया था कि ज़रा भी कोई शंका हुई, तो पहला वार इंद्रदत्त पर करूँगा।

सहसा इंद्रदत्त रुक गए, और बोले—"लीजिए, आ गए। बस, आप लोग यहीं ठहरिए, मैं जाकर उन लोगों को सूचना दे दूँ।"

विनय ने चकित होकर पूछा—"यहाँ पर तो कोई नज़र नहीं आता, बस सामने एक वृक्ष है।"

इंद्रदत्त—"राजद्रोहियों के लिये ऐसे ही गुप्त स्थानों की ज़रूरत होती है, जहाँ यमराज के दूत भी न पहुँच सकें।"

विनय—"भई, यों अकेले छोड़कर मत जाओ। क्यों न यहीं से आवाज़ दो? या चलो, मैं भी चलता हूँ।"

इंद्रदत्त—"यहाँ से तो शायद शंख की ध्वनि भी न पहुँचे, और दूसरों को ले चलने का मुझे अधिकार नहीं; क्योंकि घर मेरा नहीं है, और दूसरों के घर में आपको क्योंकर ले जा सकता हूँ? इन बागियों के पास यहाँ कोई सेना या दुर्ग नहीं, केवल मार्ग की दुर्गमता ही उनकी रक्षा करती है। मुझे देर न लगेगी।"

यह कहकर वह वेग से चला, और कई पग चलकर उसी वृक्ष के नीचे अदृश्य हो गया। विनयसिंह कुछ देर तक तो संशय में पड़े हुए उसकी राह देखते रहे, फिर नायकराम से बोले—"इस धूर्त ने तो बुरा फँसाया। यहाँ इस निर्जन स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया कि बिना मौत ही मर जायँ। अभी तक लौटकर नहीं आया।"

नायकराम—"तुम्हें क्या चिंता, आसिक लोग तो जान हथेली पर लिए ही रहते हैं, मरे तो हम कि सूखे ही पर रहे।"

विनय—"मैं इसकी नीयत को ताड़ गया था।"

नायकराम—"तो फिर क्यों बिना कान-पूँछ हिलाए चले आए? अपने साथ मुझे भी डुबाया! क्या इस्क में अक्किल घनचक्कर हो जाती है?"

विनय—"आधा घंटा तो हुआ, अभी तक किसी का पता ही नहीं! यहाँ से भागना भी चाहें, तो कहाँ जायँ। इसने ज़रूर दगा की। ज़िंदगी का यहीं तक साथ था।"

नायकराम—"आसिक होकर मरने से डरते हो! मरना तो एक दिन है ही, आज हो सही। डर क्या! जब ओखली में सिर दिया, तो मूसलों का क्या गम; मारे उसका जितना जी चाहे।"

विनय—"कहीं सचमुच सोफ़िया आ जाय!"

नायकराम—"फिर क्या कहने, लपककर टाँग लेना, मज़ा तो जब आए कि तुम हाय-हाय करके रोने लगो, और वह अंचल से तुम्हारे आँसू पोछे।"

विनय—"भई देखना, मैं उसे देखकर रो पड़ूँ, तो हँसना मत। उसे देखते ही दौड़ूँगा, और ऐसे ज़ोर से पकड़ूँगा कि छुड़ा न सके।"

नायकराम—"यह मेरा अँगोछा ले लो, चट उसके पैर बाँध देना।"

विनय—"तुम हँसी उड़ा रहे हो, और मेरा हृदय धड़क रहा है कि न-जाने क्या होनेवाला है। आहा! मैं समझ गया! मैं इधर से एक बार गया हूँ। हम जसवंतनगर के आस-पास कहीं हैं। इंद्रदत्त हमें भ्रम में डालने के लिये इतना चक्कर देकर लाया है।"

नायकराम—"जसवंतनगर यही हो, तो हमें क्या। हम चिल्लाएँ, तो कौन सुने!"

विनय—"क्या सचमुच इसने धोखा किया क्या? मेरा तो जी चाहता है कि यहाँ से किसी ओर को चल दूँ। अगर सोफ़ी ने कठोर बातें कहनी शुरू कीं, तो मेरा दिल फट जायगा। जिसके हित के लिये इतने अधर्म और अकर्म किए, उसकी निर्दयता कैसे सही जायगी। ऐसी ही बातों से संसार से जी खट्टा हो जाता है। जिसके लिये चोर बने, वही पुकारे चोर!"

नायकराम—"स्त्रियों का यही हाल है।"

विनय—"हाँ, जो सुना करता था, वह आँखों के आगे आया।"

नायकराम—"मैं यह अँगोछा बिछाए देता हूँ, पत्थर ठंडा हो गया है, आराम से लेटो। मिस साहब आएँ, तो हरि-इच्छा; नहीं तो तड़के

यहाँ से चल देंगे। कहीं-न-कहीं राह मिल ही जायगी। मैं यह पिस्तौल लिए बैठा हूँ; कोई खटका हुआ, तो देखी जायगी। मेरा तो अब यहाँ से जी भर गया, न-जाने वह कौन दिन होगा कि फिर घर के दर्शन होंगे।"

विनय—"मेरा तो घर से नाता ही टूट गया। सोफ़िया के साथ जाऊँगा, तो घुसने ही न पाऊँगा; सोफिया न मिली, तो जाऊँगा ही नहीं। यहीं धूनी रमाऊँगा।"

नायकराम—"भैया, तुम्हारे सामने बोलना छोटा मुँह बड़ी बात है, पर साथ रहते-रहते ढीठ हो गया हूँ। मुझे तो मिस साहब ऐसी कोई बड़ी अप्सरा नहीं मालूम होतीं। यहाँ तो भगवान् की दया से नित्य ही ऐसी-ऐसी सूरतें देखने में आती हैं कि मिस साहब उनके सामने पानी भरें। मुखड़ा देखो, तो जैसे हीरा दप-दप कर रहा हो। और, उनके लिये तुम राज-पाट त्यागने पर तैयार हो! सच कहता हूँ, रानीजी को बड़ा कलक होगा। मा का दिल दुखाना महापाप है। कुछ हालचाल भी तो नहीं मिला, न-जाने चल बसीं कि हैं।"

विनय—"पंडाजी, मैं सोफ़ी के रूप का उपासक नहीं हूँ। मैं स्वयं नहीं जानता कि उसमें वह कौन-सी बात है, जो मुझे इतना आकर्षित कर रही है। मैं उसके लिये राज-पाट तो क्या, अपना धर्म तक त्याग सकता हूँ। अगर सारा संसार मेरे अधीन होता, तो भी मैं उसे सोफ़िया की भेंट कर देता। अगर आज मुझे मालूम हो जाय कि सोफ़ी इस संसार में नहीं है, तो तुम मुझे जीता न पाओगे। उससे मिलने की आशा ही मेरा जीवन-सूत्र है। उसके चरणों पर प्राण दे देना ही मेरे जीवन की प्रथम और अंतिम अभिलाषा है।"

वृक्ष की ओर लालटेन का प्रकाश दिखाई दिया। दो आदमी आ रहे थे। एक के हाथ में लालटेन थी, दूसरे के हाथ में जाजम। विनय ने दोनो को पहचान लिया। एक तो वीरपालसिंह था, दूसरा उसका साथी। वीरपाल ने समीप आकर लालटेन रख दी, और विनय को प्रणाम करके

दोनो चुपचाप जाजम बिछाने लगे। जाजम बिछाकर वीरपाल बोला—"आइए, बैठ जाइए, आपको बड़ा कष्ट हुआ। मिस साहब अभी आ रही हैं।"

आशा और निराशा की द्विविध तरंगों में विनय का दिल बैठा जाता था। उन्हें लज्जा आ रही थी कि जिन मनुष्यों को मैंने अधिकारियों की मदद से मिटा देने का प्रयत्न किया, अंत में उन्हीं के द्वार का मुझे भिक्षुक बनना पड़ा। मज़ा तो जब आता कि ये सब हथकड़ियाँ पहने हुए मेरे सामने आते, और मैं इन्हें क्षमा प्रदान करता। वास्तव में विजय का सेहरा इन्हीं के सिर रहा। आह! जिन्हें मैं पामर और हत्यारा समझता था, वे ही आज मेरे भाग्य के विधाता बने हुए हैं।

जब वह जाजम पर जा बैठे, और नायकराम सजग होकर टहलने लगे, तो वीरपाल ने कहा—"कुँअर साहब, मेरा परम सौभाग्य है कि आज आपको अपने सामने अदालत की कुर्सी पर बैठे न देखकर अपने द्वार पर बैठे देख रहा हूँ, नहीं तो उन अभागों के साथ मेरी गरदन पर भी छुरी चल जाती, जिन्होंने मार खाकर रोने के सिवा और कोई अपराध नहीं किया था।"

विनय—"वीरपालसिंह, उन दुष्कृत्यों की चर्चा करके मुझे लज्जित न करो। अगर उनका कुछ प्रायश्चित्त हो सकता है, तो मैं करने को तैयार हूँ।"

वीरपाल—"सच्चे दिल से?"

विनय—"हाँ, अगर मिस सोफ़िया की तुमने रक्षा की है।"

वीरपाल—"उन्हें तो आप अभी प्रत्यक्ष देख लेंगे।"

विनय—"तो मैं भी तुम्हें मुआफ़ कराने का यथासाध्य उद्योग करूँगा।"

वीरपाल—"आप जानते हैं, मैं मिस साहब को क्यों लाया? इसीलिये कि हम उन्हीं की सेवा और सिफ़ारिश से अपनी रक्षा की आशा रखते

थे। हमें आशा थी कि मिस साहब के द्वारा हम प्राण-दान पाने में सफल हो जायँगे, पर दुर्भाग्य-वश उन्हें हमारे अनुमान से कहीं ज़्यादा गहरा घाव लगा था, और उसके भरने में पूरे नौ महीने लग गए। अपने मुँह से क्या कहूँ, पर जितनी श्रद्धा से हमने उनकी सेवा की, वह हमीं जानते हैं। यही समझ लीजिए कि मुझे छ महीने तक घर से निकलने का मौक़ा न मिला। इतने दिनों तक जसवंतनगर में नर-हत्या और न्याय-हत्या का बाज़ार गर्म था; रोज़-रोज़ की ख़बरें सुनता था, और माथा ठोककर रह जाता था। मिस साहब को अपनी रक्षा के लिये लाया था। उनके पीछे सारा इलाक़ा तबाह हो गया। ख़ैर, जो कुछ परमात्मा को मंज़ूर था, हुआ। अब मेरी आपसे यही विनय है कि हमारे ऊपर दया-दृष्टि होनी चाहिए। आपको परमात्मा ने प्रभुता दी है। आपके एक इशारे से हम लोगों की जान बच जायगी।"

विनय ने मुक्त हृदय से कहा—"मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि दरबार तुम्हारे अपराध क्षमा कर देगा। हाँ, तुम्हें भी यह वचन देना पड़ेगा कि अब से तुम रियासत के प्रति द्रोह-भाव न रक्खोगे।"

वीरपाल—"मैं इसकी प्रतिज्ञा लेने को तैयार हूँ। कुँअर साहब, सच तो यह है कि आपने हमें बिलकुल अशक्त कर दिया। यह आप ही का दमन है, जिसने हमें इतना कमज़ोर बना दिया। जिन-जिन आदमियों पर हमें भरोसा था, वे सब दग़ा दे गए। शत्रु मित्र में भेद करना कठिन हो गया। प्रत्येक प्राणी अपनी प्राण-रक्षा के लिये, अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये, अथवा अधिकारियों का विश्वास-पात्र बनने के लिये, हमारी आस्तीन का साँप हो गया। वही मैं हूँ, जिसने जसवंतनगर में सरकारी ख़ज़ाना लूटा था, और वही मैं हूँ कि आज चूहे की भाँति बिल में छिपा हुआ हूँ। प्रतिक्षण यही डर रहता है कि कहीं पुलिस न आ जाय।"

विनय—"मिस सोफ़िया कभी मुझे याद करती हैं?"

वीरपाल—"मिस साहब को आपसे जितना प्रेम है, उसकी आप कल्पना

भी नहीं कर सकते। (अपने साथी की ओर संकेत करके) इनके आघात से आपको मिस साहब ही ने बचाया था, और मिस साहब ही की ख़ातिर से आप इतने दिनों हमारे हाथों से बचे रहे। हमें आपसे भेंट करने का अवसर न था, पर हमारी बंदूकों को था। मिस साहब आपको याद करके घंटों रोया करती थीं, पर अब उनका हृदय आपसे ऐसा फट गया है कि आपका कोई नाम भी लेता है, तो चिढ़ जाती हैं। वह तो कहती हैं, मुझे ईश्वर ने अपना धर्म परित्याग करने का यह दंड दिया है। पर मेरा विचार है कि अब भी आपके प्रति उनके हृदय में असीम श्रद्धा है। प्रेम की भाँति मान भी घनिष्ठता ही से उत्पन्न होता है। आप उनसे निराश न हूजिएगा। आप राजा हैं, आपके लिये सब कुछ क्षम्य है। धर्म का बंधन तो छोटे आदमियों के लिये है।"

सहसा उसी वृक्ष की ओर दूसरी लालटेन का प्रकाश दिखाई दिया। एक वृद्धा लोटा लिए आ रही थी। उसके पीछे सोफ़ी थी—हाथ में एक थाली लिए हुए, जिसमें एक घी का दीपक जल रहा था। वही सोफ़िया थी, वही तेजस्वी सौंदर्य की प्रतिमा, कांति की मंदता ने उसे एक अवर्णनीय शुभ्र, आध्यात्मिक लावण्य प्रदान कर दिया था, मानो उसकी सृष्टि पंचभूत के नहीं, निर्मल ज्योत्स्ना के परमाणुओं से हुई हो।

उसे देखते ही विनय के हृदय में ऐसा उद्गार उठा कि दौड़कर इसके चरणों पर गिर पड़ूँ। सौंदर्य-प्रतिमा मोहित नहीं करती, वशीभूत कर लेती है।

बुढ़िया ने लोटा रख दिया, और लालटेन लिए चली गई। वीरपालसिंह और उसका साथी भी वहाँ से हटकर दूर चले गए। नायकराम भी उन्हीं के साथ हो गए थे।

विनय ने कहा—"सोफ़िया, आज मेरे जीवन का lucky day है, मैं तो निराश हो चला था।"

सोफ़िया—"मेरा परम सौभाग्य था कि आपके दर्शन हुए। आपके दर्शन बदे थे, नहीं तो मरने में कोई कसर न रह गई थी।"

विनय की आशंकाएँ निर्मूल होती हुई नज़र आईं। इंद्रदत्त और वीरपाल ने मुझे अनायास ही चिंता में डाल दिया था! सम्मिलन प्रेम को सजग कर देता है। मनोल्लास के प्रवाह में उनकी सरल बुद्धि किसी पुष्पमाला के समान बहती चली जाती थी। इस वाक्य में कितना तीव्र व्यंग्य था, यह उनकी समझ में न आया।

सोफ़ी ने थाल में से दही और चावल निकालकर विनय के मस्तक पर तिलक लगाया, और मुस्किराकर बोली—"अब आरती करूँगी।"

विनय ने गद्गद होकर कहा—"प्रिये, यह क्या ढकोसला कर रही हो? तुम भी इन रस्मों के जाल में फँस गईं!"

सोफ़ी—"वाह! आपका आदर-सत्कार कैसे न करूँ! आप मेरे मुक्तिदाता हैं, मुझे इन डाकुओं और वधिकों के पंजे से छुड़ा रहे हैं, आपका स्वागत कैसे न करूँ! मेरे कारण आपने रियासत में अँधेर मचा दिया, सैकड़ों निरपराधियों का खून कर दिया, कितने ही घरों के चिराग़ गुल कर दिए, माताओं को पुत्र-शोक का मज़ा चखा दिया, रमणियों को वैधव्य की गोद में बैठा दिया, और सबसे बड़ी बात यह कि अपनी आत्मा का, अपने सिद्धांतों का, अपने जीवन के आदर्श का मलियामेट कर दिया। इतनी कीर्ति लाभ करने के बाद भी आपका अभिवादन न करूँ? मैं इतनी कृतघ्न नहीं हूँ। अब आप एक तुच्छ सेवक नहीं, रियासत के दाहने हाथ हैं। राजे-महाराजे आपका सम्मान करते हैं, मैं आपका सम्मान न करूँ?"

अब विनय की आँखें खुलीं। व्यंग्य का एक-एक शब्द शर के समान लगा। बोले—"सोफ़ी, मैं तुम्हारा वही भक्त और जाति का वही पुराना सेवक हूँ। तुम इस भाँति मेरा उपहास करके मुझ पर अन्याय कर रही हो। संभव है, भ्रम-वश मेरी ज़ात से दूसरों का अहित हुआ हो, पर मेरा उद्देश्य केवल तुम्हारी रक्षा करना था।"

सोफ़िया ने उत्तेजित होकर कहा—"बिलकुल झूठ है, मिथ्या है, कलंक है, यह सब मेरी ख़ातिर नहीं, अपनी ख़ातिर था। इसका उद्देश्य केवल उस नीच निरंकुशता को तृप्त करना था, जो तुम्हारे अंतःस्थल में सेवा का रूप धारण किए हुए बैठी हुई है। मैंने तुम्हारी प्रभुताशीलता पर अपने को समर्पित नहीं किया था, बल्कि तुम्हारी सेवा, सहानुभूति और देशानुराग पर। मैंने इसलिये तुम्हें अपना उपास्य देव बनाया था कि तुम्हारे जीवन का आदर्श उच्च था, तुममें प्रभु मसीह की दया, भगवान् बुद्ध के विराग और लूथर की सत्यनिष्ठा की झलक थी। क्या दुखियों को सतानेवाले, निर्दय, स्वार्थप्रिय अधिकारियों की संसार में कमी थी? तुम्हारे आदर्श ने मुझे तुम्हारे क़दमों पर झुकाया। जब मैं प्राणिमात्र को स्वार्थ में लिप्त देखते-देखते संसार से घृणा करने लगी थी, तुम्हारी निस्स्वार्थता ने मुझे अनुरक्त कर लिया। लेकिन काल-गति के एक ही पलटे ने तुम्हारा यथार्थ रूप प्रकट कर दिया। मेरा पता लगाने के लिये तुमने धर्माधर्म का विचार भी त्याग दिया। जो प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये इतना अत्याचार कर सकता है, वह घोर-से-घोर कुकर्म भी कर सकता है। तुम अपने आदर्श से उसी समय पतित हुए, जब तुमने उस विद्रोह को शांत करने के लिये शांत उपायों की अपेक्षा क्रूरता और दमन से काम लेना उपयुक्त समझा। शैतान ने पहली बार तुम पर वार किया, और तुम फिर न सँभले, गिरते ही चले गए। ठोकरों-पर-ठोकरें खाते-खाते अब तुम्हारा इतना पतन हो गया है कि तुममें सज्जनता, विवेक और पुरुषार्थ का लेशांश भी शेष नहीं रहा। तुम्हें देखकर मेरा मस्तक आप-ही-आप झुक जाता था। मेरे प्रेम का आधार भक्ति थी। वह आधार जड़ से हिल गया। तुमने मेरे जीवन का सर्वनाश कर दिया। आह! मुझे जितना मुग़ालता हुआ है, उतना किसी को कभी न हुआ होगा! जिस प्राणी के लिये अपने माता-पिता से विमुख हुई, देश छोड़ा, जिस पर अपने चिरसंचित सिद्धांतों का बलिदान किया, जिसके लिये अपमान, अपवाद, अपकार, सब कुछ

शिरोधार्य किया, वह इतना स्वार्थभक्त, इतना आत्मसेवी, इतना विवेकहीन निकला! कोई दूसरी स्त्री तुम्हारे इन गुणों पर मुग्ध हो सकती है, प्रेम के विषय में नारियाँ आदर्श और त्याग का विचार नहीं करतीं। लेकिन मेरी शिक्षा, मेरी संगति, मेरा अध्ययन और सबसे अधिक मेरे मन की प्रवृत्ति ने मुझे इन गुणों का आदर करना नहीं सिखाया। अगर आज तुम रियासत के हाथों पीड़ित, दलित, अपमानित और दंडित होकर मेरे सम्मुख आते, तो मैं तुम्हारी बलाएँ लेती, तुम्हारे चरणों की रज मस्तक पर लगाती, और अपना धन्य भाग समझती। किंतु मुझे उस वस्तु से घृणा है, जिसे लोग सफल जीवन कहते हैं। सफल-जीवन पर्याय है खुशामद, अत्याचार और धूर्तता का। मैं जिन महात्माओं को संसार में सर्वश्रेष्ठ समझती हूँ, उनके जीवन सफल न थे। सांसारिक दृष्टि से वे लोग साधारण मनुष्यों से भी गए-गुज़रे थे, जिन्होंने कष्ट झेले, निर्वासित हुए, पत्थरों से मारे गए, कोसे गए, और अंत में संसार ने उन्हें बिना आँसू की एक बूँद गिराए विदा कर दिया, सुरधाम को भेज दिया। तुम पुलिस का एक दल लेकर मुझे खोजने निकले हो। इसका उद्देश्य यही तो है कि प्रजा पर आतंक जमाया जाय। मेरी दृष्टि में जिस राज्य का अस्तित्व अन्याय पर हो, उसका निशान जितनी जल्द मिट जाय, उतना ही अच्छा। खैर, अब इन बातों से क्या लाभ! तुम्हें अपना सम्मान और प्रभुत्व मुबारक रहे, मैं इसी दशा से संतुष्ट हूँ। जिनके साथ हूँ, वे सहृदय हैं, वे किसी दीन प्राणी की रक्षा प्राण-पण से कर सकते हैं, उनमें तुमसे कहीं अधिक सेवा और उपकार के भाव मौजूद हैं।"

विनय खिन्न होकर बोले—"सोफ़ी, ईश्वर के लिये मुझ पर इतना अन्याय मत करो। अगर मैं प्रभुता और मान-सम्मान का इच्छुक होता, तो मेरी दशा ऐसी हीन न होती। मैंने वही किया, जो मुझे न्याय-संगत जान पड़ा। मैं यथासाध्य एक क्षण के लिये भी न्याय-विमुख नहीं हुआ।"

सोफ़ी—"यही तो शोक है कि तुम्हें वह बात क्यों न्याय-संगत जान

पड़ी, जो न्याय-विरुद्ध थी! इससे तुम्हारी आंतरिक प्रवृत्ति का पता मिलता है। तुम स्वभावतः स्वार्थसेवी हो। मनुष्यों को सभी पदार्थ एक-से प्रिय नहीं होते। कितने ही ऐसे प्राणी हैं, जो कीर्ति के लिये धन को ठीकरों की भाँति लुटाते हैं। वे अपने को स्वार्थरहित नहीं कह सकते। स्वार्थपरता ऊँचे आदर्श से मेल नहीं खाती। जिसकी मनोवृत्ति इतनी दुर्बल है, उसकी कम-से-कम मैं इज़्ज़त नहीं कर सकती, और इज़्ज़त के बिना प्रेम कलंक का टीका बन जाता है।"

विनय उन मनुष्यों में न थे, जिन पर प्रतिकूल दशाओं का कोई असर नहीं होता। उन पर निराशा का शीघ्र ही आधिपत्य हो जाता था। विकल होकर बोले—"सोफ़ी, मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मैंने जो कुछ किया है, न्याय समझकर या परिस्थिति से विवश होकर ही किया है।"

सोफ़ी—"संसार में जितने अकर्म होते हैं, व भ्रम या परिस्थिति ही के कारण होते हैं। कोई तीसरा कारण मैंने आज तक नहीं सुना।"

विनय—"सोफ़ी, अगर मैं जानता कि मेरी ओर से तुम्हारा हृदय इतना कठोर हो गया है, तो तुम्हें मुख न दिखाता।"

सोफ़ी—"मैं तुम्हारे दर्शनों के लिये बहुत उत्सुक न थी!"

विनय—"यह मुझे नहीं मालूम था। मगर मान लो, मैंने अन्याय ही किए, तो क्या मुझे तुम्हारे हाथों यह दंड मिलना चाहिए? इसका भय मुझे माताजी से था, तुमसे न था। आह सोफ़ी! इस प्रेम का यों अंत न होने दो, यों मेरे जीवन का सर्वनाश न करो। उसी प्रेम के नाते, जो कभी तुम्हें मुझसे था, मुझ पर यह अन्याय न करो। यह वेदना मेरे लिये असह्य है। तुम्हें विश्वास न आएगा, क्योंकि इस समय तुम्हारा हृदय मेरी तरफ़ से पत्थर हो गया है, पर यह आघात मेरे लिये प्राणघातक होगा, और अगर मृत्यु के पश्चात् भी कोई जीवन है, तो उस जीवन में भी यही वेदना मेरे हृदय को तड़पाती रहेगी। सोफ़ी, मैं

मौत से नहीं डरता, भाले की नोक को हृदय में ले सकता हूँ, पर तुम्हारी यह निष्ठुर दृष्टि, तुम्हारा यह निर्दय आघात मेरे अंतस्तल को छेदे डालता है। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि तुम मुझे विष दे दो। मैं उस प्याले को आँखें बंद करके यों पी जाऊँगा, जैसे कोई भक्त चरणामृत पी जाता है। मुझे यह संतोष हो जायगा कि ये प्राण, जो तुम्हें भेंट कर चुका था, तुम्हारे काम आ गए।"

ये प्रेम-उच्छृंखल शब्द कदाचित् और किसी समय विनय के मुँह से न निकलते, कदाचित् इन्हें फिर स्मरण करके उन्हें आश्चर्य होता कि ये वाक्य कैसे मेरे मुख से निकले, पर इस समय भावोद्गार ने उन्हें प्रगल्भ बना दिया था। सोफ़ी उदासीन भाव से सिर झुकाए खड़ी रही। तब बेदरदी से बोली—"विनय, मैं तुमसे याचना करती हूँ, ऐसी बातें न करो। मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति अभी जो कुछ आदर रह गया है, उसे भी पैरों से न कुचलो; क्योंकि मैं जानती हूँ, ये शब्द तुम्हारे अंतःकरण से नहीं निकल रहे हैं। इसके विरुद्ध तुम इस समय सोच रहे हो कि क्योंकर इससे इस तिरस्कार का बदला लूँ। मुझे आश्चर्य होगा, अगर सूर्योदय के समय यह स्थान ख़ुफ़िया-पुलिस के सिपाहियों का विहारस्थल न बन जाय, यहाँ के रहनेवाले हिरासत में न ले लिए जायँ, और उन्हें प्राण-दंड न दे दिया जाय। मेरे दंड के लिये तुमने कोई और ही युक्ति सोच रक्खी होगी। उसके रूप की मैं कल्पना नहीं कर सकती, लेकिन इतना कह सकती हूँ कि अगर मेरी निंदा करके, मेरे आचरण पर आक्षेप करके, तुम मुझे शारीरिक या मानसिक पीड़ा पहुँचा सकोगे, तो तुम्हें उसमें लेश-मात्र भी विलंब न होगा। संभव है, मेरा यह अनुमान अन्याय पूर्ण हो, पर मैं इसे दिल से नहीं निकाल सकती। कोई ऐसी विभूति, कोई ऐसी सिद्धि नहीं, जो तुम्हें फिर मेरा सम्मान-पात्र बना सके। जिसके हाथ रक्त से रँगे हुए हों, उसके लिये मेरे हृदय में स्थान नहीं। यह न समझो कि मुझे इन बातों से दुःख नहीं हो रहा

है। एक-एक शब्द मेरे हृदय को आरे की भाँति चीरे डालता है। यह भी न समझो कि तुम्हें हृदय से निकालकर मैं फिर किसी दूसरी मूर्ति को यहाँ मर्यादित करूँगी, हालाँकि तुम्हारे मन में यह दुष्कल्पना हो, तो मुझे कुतूहल न होगा। नहीं, यही मेरी प्रथम और अंतिम प्रेम-प्रदक्षिणा है। अब यह जीवन किसी दूसरे ही मार्ग का अवलंबन करेगा, कौन जाने, ईश्वर ने मुझे कर्तव्य-पथ से विचलित होने का तुम्हारे हाथों यह दंड दिलाया हो। तुम्हारे लिये मैंने वह सब कुछ किया, जो न करना चाहिए था। छल, कपट, कौशल, माया, त्रिया-चरित्र, एक से भी बाज़ नहीं आई; क्योंकि मेरी सरल दृष्टि में तुम एक दिव्य, निष्काम, पवित्र आत्मा थे। तुम अंदाज़ा नहीं कर सकते कि मि० क्लार्क के साथ आने में मुझे कितनी आत्मवेदना सहनी पड़ी। मैंने समझा था, तुम मेरे जीवन-मार्ग के दीपक बनोगे, मेरे जीवन को सुधारोगे, सँवारोगे, सफल बनाओगे। आख़िर मुझमें कौन-सा ऐसा गुण है, जिस पर तुम रीझे हुए हो? अगर सौंदर्य के इच्छुक हो, तो संसार में सौंदर्य का अभाव नहीं, तुम्हें मुझसे कहीं रूपवती कन्या मिल सकती है। अगर मेरे वचन कर्ण-मधुर लगते हैं, तो तुम्हें मुझसे कहीं मृदुभाषिणी स्त्रियाँ मिल सकती हैं। निराश होने की कोई बात नहीं। जल्द या देर में तुम्हें अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार कोई रमणी मिल जायगी, जिसके साथ तुम अपने ऐश्वर्य और वैभव का आनंद उठा सकोगे, क्योंकि सेवक बनने की क्षमता तुममें नहीं है, और न हो सकती है। मेरा चित्त तो भूलकर भी प्रणय की आँख उठाकर न देखेगा। मैं अब फिर यह रोग न पालूँगी। तुमने मुझे संसार से विरक्त कर दिया, मेरी भोग-तृष्णा को शांत कर दिया। धार्मिक ग्रंथों के निरंतर पढ़ने से जो मार्ग न मिला, वह नैराश्य ने दिखा दिया। इसके लिये मैं तुम्हारी अनुगृहीत हूँ। धर्म और सत्य की सेवा करके कौन-सा रत्न पाया? अधम। अब अधम की सेवा करूँगी। जानते हो, क्या करूँगी? उन पापियों से ख़ून का बदला लूँगी, जिन्होंने प्रजा की गरदन पर छुरियाँ

चलाई हैं। एक-एक को जहन्नुम की आग में झोंक दूँगी, तब मेरी आत्मा तृप्त होगी। जो लोग आज निरपराधियों की हत्या करके सम्मान और कीर्ति का उपभोग कर रहे हैं, उन्हें नरक के अग्निकुंड में जलाऊँगी, और जब तक अत्याचारियों के इस जत्थे का मूलोच्छेद न कर दूँगी, चैन न लूँगी, चाहे इस अनुष्ठान में मुझे प्राणों ही से क्यों न हाथ धोना पड़े, चाहे रियासत में विप्लव ही क्यों न हो जाय, चाहे रियासत का निशान ही क्यों न मिट जाय। मेरे दिल में यह दुरुत्साह तुम्हीं ने पैदा किया है, और इसका इल्ज़ाम तुम्हारी ही गरदन पर है। ईसा की क्षमा और दया, बुद्ध के धैर्य और संयम, कृष्ण के प्रेम और वैराग्य की अमर कीर्तियाँ भी अब इस रक्त-पिपासा को नहीं बुझा सकतीं। बरसों का मनन और चिंतन, विचार और स्वाध्याय तुम्हारे कुकर्मों की बदौलत निष्फल हो गया। बस, अब जाओ। मैं जो कुछ करूँगी, वह तुमसे कह चुकी। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह तुम करो। मैं आज से क्रांतिकारियों के दल में जाती हूँ, तुम खुफ़िया पुलिस की शरण लो। जाओ, ईश्वर फिर हमें न मिलाए।"

यह कहकर सोफ़ी ने थाल उठा लिया, और चली गई, जैसे आशा हृदय से निकल जाय। विनय ने एक ठंडी साँस ली, जो आर्त-ध्वनि से कम करुण न थी, और ज़मीन पर बैठ गए, जैसे कोई हतभागिनी विधवा पति की मृत देह उठ जाने के बाद एक आह भरकर बैठ जाय।

तीनो आदमी, जो दूर खड़े थे, आकर विनय के पास खड़े हो गए। नायकराम ने कहा—"भैया, आज तो ख़ूब-ख़ूब बातें हुईं। तुमने भी पकड़ पाया, तो इतने दिनों की कसर निकाल ली। आ गई पंजे में न? वह तो मैंने पहले ही कहा था, आसिक लोग बड़े चकमेबाज होते हैं। पहले तो ख़ूब आरती उतारी, दही-चावल का टीका लगाया। मेम हैं तो क्या, हम लोगों का तौर-तरीका जानती हैं। कब चलना तय हुआ? जल्दी चलो, मेरा भी घर बसे।"

विनय के नेत्र सजल थे, पर इस वाक्य पर हँस पड़े। बोले—"बस, अब देर नहीं, घर चिट्ठी लिख दो, तैयारी करें।"

नायकराम—"भैया, आनंद तो जब आए कि दोनो बरातें साथ ही निकलें।"

विनय—"हाँ जी, साथ ही निकलेंगी, पहले तुम्हारी पीछे मेरी।"

नायकराम—"ठाकुर, अब सवारी-सिकारी का इंतजाम करो, जिसमें हम लोग कल सबेरे ठंडे-ठंडे निकल जायँ। यहाँ पालकी तो मिल जायगी न?"

वीरपाल—"सब इंतज़ाम हो जायगा। अब भोजन करके आराम कीजिए, देर हो गई।"

विनय—"यहाँ से जसवंतनगर कितनी दूर है?"

वीरपाल—"यह पूछकर क्या कीजिएगा?"

विनय—"मुझे इसी वक्त वहाँ पहुँचना चाहिए।"

वीरपाल—(सशंक होकर) "आप दिन-भर के थके-माँदे हैं, रास्ता खराब है।"

विनय—"कोई चिंता नहीं, चला जाऊँगा।"

नायकराम—"भैया, मिस साहब भी रहेंगी न, रात को कैसे चलोगे?"

विनय—"तुम तो सनक गए हो, मिस साहब मेरी कौन होती हैं, और मेरे साथ क्यों जाने लगीं। अगर आज मैं मर जाऊँ, तो शायद उनसे ज़्यादा ख़ुशी और किसी को न होगी। तुम्हें थकावट आ गई हो, तो आराम करो; पर मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। मुझे काँटों की राह भी यहाँ की सेज से अधिक सुखकर होगी। आप लोगों में से कोई रास्ता दिखा सकता है?"

वीरपाल—"चलने को तो मैं ख़ुद हाज़िर हूँ, पर रास्ता अत्यंत भयानक है।"

विनय—"कोई मुज़ायक़ा नहीं। मुझे इसी वक्त पहुँचा दीजिए, और

हो सके, तो आँखों पर पट्टी बाँध दीजिए। मुझे अब अपने ऊपर ज़रा भी विश्वास नहीं रहा।"

वीरपाल—"भोजन तो कर लीजिए। इतना आतिथ्य तो स्वीकार कीजिए।"

विनय—"अगर मेरा आतिथ्य करना है, तो मुझे गोली मार दीजिए। इससे बढ़कर आप मेरा आतिथ्य नहीं कर सकते। मैंने आपका जितना अपकार किया है, यदि आपने उसका शतांश भी मेरे साथ किया होता, तो मुझे किसी प्रेरणा की ज़रूरत न पड़ती। मैं पिशाच हूँ, हत्यारा हूँ; पृथ्वी मेरे बोझ से जितनी जल्द हल्की हो जाय, उतना ही अच्छा!"

नायकराम—"मालूम होता है, मिस साहब सचमुच फिरंट हो गईं। मगर मैं कहे देता हूँ, दो-ही-चार दिन में तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ती फिरेंगी। आसिक की हाय बुरी होती है।"

वीरपाल—"कुँअर साहब, मेरा इतना कहना मानिए, अभी न जाइए। मुझे डर है, कहीं मिस साहब आपके यों चले जाने से घबरा न जायँ। मैं वादा करता हूँ, कल सूर्योदय तक आप जसवंतनगर पहुँच जायँगे। इस वक्त कुछ भोजन कर लीजिए।"

विनय—"मेरे लिये अब यहाँ का पानी भी हराम है। अगर तुम्हें नहीं चलना है, तो न सही; मुझे तुमसे इतनी खातिरदारी कराने का अधिकार नहीं। मैं अकेला ही चला जाऊँगा।"

वीरपाल विवश होकर साथ चलने को तैयार हुआ। नायकराम का भूख के मारे बुरा हाल था; पर क्या करते, विनय को चलते देखकर उठ खड़े हुए। तीनो आदमी रवाना हुए।

आध घंटे तक तीनो आदमी चुपचाप चलते रहे। विनय को सोफ़िया की और सब बातें तो याद न थीं, पर उनकी नीयत पर उसने जो आक्षेप किए थे, और उनके विषय में जो द्वेष-पूर्ण भविष्यवाणी की थी, उसका एक-एक शब्द उनके कानों में गूँज रहा था। सोफ़िया मुझे इतना नीच

समझती है ! परिस्थिति पर ज़रा भी विचार नहीं करना चाहती, मन की दशा के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ती ।

सहसा उन्होंने वीरपाल से पूछा—"तुम्हारे विचार में मैं आवेश में आकर यह अन्याय कर बैठा, या जैसा मिस सोफ़िया कहती हैं, मैं स्वभाव ही का नीच हूँ ?"

वीरपाल—"कुँअर साहब, मिस सोफ़िया की इस वक़्त की बातों को ज़रा भी बुरा न मानिए । जैसे आप आवेश में विवेक-हीन हो गए थे, वैसे ही वह भी आवेश में अनर्गल बातें कर गई होंगी । जब आपने सेवा-धर्म और परोपकार के लिये राज्य त्याग दिया, तो किसका मुँह है, जो आपको स्वार्थी कह सके ।"

विनय—"न-जाने इसने इतने कटु शब्द कहाँ सीख लिए । आदमी भिखारी को भी जवाब दे, तो नम्रता से । इसने तो मुझे इस तरह दुत्कारा, मानो कोई कुत्ता हो ।"

नायकराम—"किसी अँगरेज़ को ब्याहेगी और क्या । यहाँ काले आदमियों के पास क्या धरा है । मुरगी का अंडा कहाँ मिलेगा ?"

विनय—"तुम निरे मूर्ख हो, तुम्हें मुर्ग़ी के अंडे ही की पड़ी है ।"

नायकराम—"एक बात कहता था । तुम्हारे साथ वह आजादी कहाँ ! ले जाकर रानी बना दोगे, परदे में बैठा दोगे । घोड़ी पर सवार कराकर शिकार खेलने तो न जाओगे ! कमर में हाथ डालकर टमटम पर तो न बैठाओगे ! टोपी उतारकर हुरे-हुरे न करोगे !"

विनय—"फिर वही उपज । अरे पोंगा महराज, सोफ़िया को तुमने क्या समझा है?हमारे धर्म का जितना ज्ञान उसे है,उतना किसी पंडित को भी न होगा । वह हमारे यहाँ की देवियों से किसी भाँति कम नहीं । उसे तो किसी राजा के घर जन्म लेना चाहिए था, न-जाने ईसाई-खानदान में क्यों पैदा हुई । मुझसे मुँह फेरकर वह अब किसी को मुँह नहीं

लगा सकती। इसका मुझे उतना ही विश्वास है, जितना अपनी आँखों का। वह अब विवाह ही न करेगी।"

वीरपाल—"आप बहुत सत्य कहते हैं, वास्तव में देवी हैं।"

विनय—"सच कहना, कभी मेरी चर्चा भी करती थीं?"

वीरपाल—"इसके सिवा तो उन्हें और कोई बात ही न थी। घाव गहरा था, अचेत पड़ी रहती थीं, पर चौंक-चौंककर आपको पुकारने लगतीं। कहतीं—विनय को बुला दो, उन्हें देखकर तब मरूँगी। कभी-कभी तो दिन-के-दिन आप ही की रट लगाती रह जाती थीं। जब किसी को देखतीं, यही पूछतीं, विनय आए? कहाँ हैं? मेरे सामने लाना। उनके चरण कहाँ हैं? हम लोग उनकी बेकसी देख-देखकर रोने लगते थे। जर्राह ने ऐसी चीड़-फाड़ की कि आपसे क्या बताऊँ, याद करके रोएँ खड़े हो जाते हैं! उसे देखते ही सूख जाती थीं; लेकिन ज्यों ही कह देते कि आज विनयसिंह के आने की खबर है; बस, तुरत दिल मज़बूत करके मरहम-पट्टी करा लेती थीं। जर्राह से कहतीं—जल्दी करो, वह आनेवाले हैं; ऐसा न हो, आ जायँ। यह समझिए, आपके नाम ने उन्हें मृत्यु के मुख से निकाल लिया..."

विनय अवरुद्ध कंठ से बोले—"बस करो, अब और कुछ न कहो। यह करुण कथा नहीं सुनी जाती। कलेजा मुँह को आता है।"

वीरपाल—"एक दिन उसी दशा में आपके पास जाने को तैयार हो गईं। रो-रोकर कहने लगीं, उन्हें लोगों ने गिरफ़्तार कर लिया है, मैं उन्हें छुड़ाने जा रही हूँ..."

विनय—"रहने दो वीरपाल, नहीं तो हृदय फट जायगा, उसके टुकड़े हो जायँगे। मुझे ज़रा कहीं लिटा दो, न-जाने क्यों जी डूबा जाता है। आह! मुझ-जैसे अभागे का यही उचित दंड है। देवतों से मेरा सुख न देखा गया। इनसे किसी का कभी कल्याण नहीं हुआ। चले चलो, न लेटूँगा। मुझे इसी वक़्त जसवंतनगर पहुँचना है।"

फिर लोग चुपचाप चलने लगे। विनय इतने वेग से चल रहे थे, मानो दौड़ रहे हैं। पीड़ित अंगों में एक विलक्षण स्फूर्ति आ गई थी। बेचारे नायकराम दौड़ते-दौड़ते हाँप रहे थे। रात के दो बजे होंगे। वायु में प्राणप्रद शीतलता का समावेश हो गया था। निशा-सुंदरी प्रौढ़ा हो गई थी, जब उसकी चंचल छवि माधुर्य का रूप ग्रहण कर लेती है, जब उसकी मायाविनी शक्ति दुर्निवार्य हो जाती है। नायकराम तो कई बार ऊँघकर गिरते-गिरते बच गए। विनय को भी विश्राम करने की इच्छा होने लगी कि वीरपाल बोले—"लीजिए, जसवंतनगर पहुँच गए।"

विनय—"अरे! इतनी जल्द! अभी तो चलते हुए कुल चार घंटे हुए होंगे।"

वीरपाल—"आज सीधे आए।"

विनय—"आओ, आज यहाँ के अधिकारियों से तुम्हारी सफ़ाई करा दूँ।"

वीरपाल—"आपसे सफ़ाई हो गई, तो अब किसी का ग़म नहीं। अब मुझे यहीं से रुख़सत कीजिए।"

विनय—"एक दिन के लिये तो मेरे मेहमान हो जाइए।"

वीरपाल—"ईश्वर ने चाहा, तो जल्द ही आपके दर्शन होंगे। मुझ पर कृपा रखिएगा।"

विनय—"सोफ़िया से मेरा कुछ ज़िक्र न कीजिएगा।"

वीरपाल—"जब तक वह ख़ुद न छेड़ेगी, मैं न कहूँगा।"

विनय—"मेरी यह घबराहट, यह बावलापन, इसका ज़िक्र भूलकर भी न कीजिएगा। मैं न-जाने क्या-क्या बक रहा हूँ, अपनी भाषा और विचार, एक पर भी मुझे विश्वास नहीं रहा, संज्ञाहीन-सा हो रहा हूँ। आप उनसे इतना ही कह दीजिएगा कि मुझसे 'कुछ नहीं बोले। इसका वचन दीजिए।"

वीरपाल—"अगर वह मुझसे कुछ न पूछेंगी, तो मैं कुछ न कहूँगा।"

विनय—"मेरी ख़ातिर से इतना ज़रूर कह दीजिएगा कि आपका ज़रा भी ज़िक्र न करते थे।"

वीरपाल—"झूठ तो न बोलूँगा।"

विनय—"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

---

[३१]

भैरों के घर से लौटकर सूरदास अपनी झोपड़ी में आकर सोचने लगा, क्या करूँ कि सहसा दयागिरि आ गए, और बोले—"सूरदास, आज तो लोग तुम्हारे ऊपर बहुत गरम हो रहे हैं, कहते हैं, इसे घमंड हो गया है। तुम इस माया-जाल में क्या पड़े हो, क्यों नहीं मेरे साथ कहीं तीर्थ-यात्रा करने चलते?"

सूरदास—"यही तो मैं भी सोच रहा हूँ। चलो, तो मैं भी निकल पड़ूँ।"

दयागिरि—"हाँ चलो, तब तक मैं भी मंदिर का कुछ ठिकाना कर लूँ। यहाँ कोई नहीं, जो मेरे पीछे यहाँ दिया-बत्ती तक कर दे, भोग-भाग लगाना तो दूर रहा।"

सूरदास—"तुम्हें मंदिर से कभी छुट्टी न मिलेगी।"

दयागिरि—"भाई, यह भी तो नहीं होता कि मंदिर को यों ही निराधार छोड़कर चला जाऊँ, फिर न-जाने कब लौटूँ, तब तक तो यहाँ घास जम जायगी।"

सूरदास—"तो जब तुम आप ही अभी इस माया में फँसे हुए हो, तो मेरा उद्धार क्या करोगे?"

दयागिरि—"नहीं, अब जल्दी ही चलूँगा। ज़रा पूजा के लिये फूल लेता आऊँ।"

दयागिरि चले गए, तो सूरदास फिर सोच में पड़ा—"संसार की भी क्या लीला है कि होम करते हाथ जलते हैं। मैं तो नेकी करने गया था। उसका यह फल मिला। मुहल्लेवालों को विश्वास आ गया। बुरी बातों पर लोगों को कितनी जल्द विश्वास आ जाता है! मगर नेकी-बदी कभी छिपी

नहीं रहती। कभी-न-कभी तो असली बात मालूम हो ही जायगी। हार-जीत तो जिंदगानी के साथ लगी हुई है, कभी जीतूँगा, तो कभी हारूँगा, इसकी चिंता ही क्या। अभी कल बड़े-बड़ों से जीता था, आज जीत में भी हार गया। यह तो खेल में हुआ ही करता है। अब बेचारी सुभागी कहाँ जायगी? मुहल्लेवाले तो अब उसे यहाँ रहने न देंगे, और रहेगी किसके आधार पर? कोई अपना तो हो। मैके में भी कोई नहीं है। जवान औरत अकेली कहीं रह भी नहीं सकती। जमाना ऐसा खराब आया हुआ है, उसकी आबरू कैसे बचेगी? भैरों को कितना चाहती है! समझती थी कि मैं उसे मारने गया हूँ, उसे सावधान रहने के लिये कितना जोर दे रही थी! वह तो इतना प्रेम करती है, और भैरों का कभी मुँह ही सीधा नहीं होता, अभागिनी है और क्या। कोई दूसरा आदमी होता, तो उसके चरन धो-धोकर पीता; पर भैरों को जब देखो, उस पर तलवार ही खींचे रहता है। मैं कहीं चला गया, तो उसका कोई पुछत्तर भी न रहेगा। मुहल्ले के लोग उसकी छीछालेदर होते देखेंगे, और हँसेंगे। कहीं-न-कहीं डूब मरेगी, कहाँ तक संतोष करेगी। इस आँखोंवाले अंधे भैरों को तनिक भी खयाल नहीं कि मैं इसे निकाल दूँगा, तो कहाँ जायगी। कल को मुसलमान या किरिसतान हो जायगी, तो सारे सहर में हलचल पड़ जायगी; पर अभी उसके आदमी को कोई समझानेवाला नहीं। कहीं भरतीवालों के हाथ पड़ गई, तो पता भी न लगेगा कि कहाँ गई। सभी लोग जानकर अनजान बनते हैं।"

वह यही सोचता-विचारता सड़क की ओर चला था कि सुभागी आकर बोली—"सूरे, मैं कहाँ रहूँगी?"

सूरदास ने कृत्रिम उदासीनता से कहा—"मैं क्या जानूँ, कहाँ रहेगी! अभी तू ही तो भैरों से कह रही थी कि लाठी लेकर जाओ। तू यह क्या समझती थी कि मैं भैरों को मारने गया हूँ?"

सुभागी—"हाँ सूरे, झूठ क्यों बोलूँ, मुझे यह खटका तो हुआ था।"

सूरदास—"जब तेरी समझ में मैं इतना बुरा हूँ, तो फिर मुझसे क्यों बोलती है? अगर वह लाठी लेकर आता, और मुझे मारने लगता, तो तू तमाशा देखती और हँसती क्यों? तुझसे तो भैरों ही अच्छा कि लाठी-लबेद लेकर नहीं आया। जब तूने मुझसे वैर ठान रक्खा है, तो मैं तुझसे क्यों न वैर ठानूँ?"

सुभागी—(रोती हुई) "सूरे, तुम भी ऐसा कहोगे, तो यहाँ कौन है, जिसकी आड़ में मैं छिन-भर भी बैठूँगी। उसने अभी मारा है, मगर पेट नहीं भरा, कह रहा है कि जाकर पुलिस में लिखाए देता हूँ। मेरे कपड़े-लत्ते सब बाहर फेंक दिए हैं। इस झोपड़ी के सिवा अब मुझे और कहीं सरन नहीं।"

सूरदास—"मुझे तो अपने साथ मुहल्ले से निकलवाएगी क्या?"

सुभागी—"तुम जहाँ जाओगे, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।"

सूरदास—"तब तो तू मुझे कहीं मुँह दिखाने-लायक न रक्खेगी। सब यही कहेंगे कि अंधा उसे बहकाकर ले गया।"

सुभागी—"तुम तो बदनामी से बच जाओगे, लेकिन मेरी आबरू कैसे बचेगी? है कोई मुहल्ले में ऐसा, जो किसी की इज्जत-आबरू जाते देखे, तो उसकी बाँह पकड़ ले? यहाँ तो एक टुकड़ा रोटी भी माँगूँ, तो न मिले। तुम्हारे सिवा अब मेरा और कोई नहीं है। पहले मैं तुम्हें आदमी समझती थी, अब देवता समझती हूँ। चाहो, तो रहने दो; नहीं तो कह दो, कहीं मुँह में कालिख लगाकर डूब मरूँ।"

सूरदास ने देर तक चिंता में मग्न रहने के बाद कहा—"सुभागी, तू आप समझदार है, जैसा जी में आए, कर। मुझे तेरा खिलाना-पहनाना भारी नहीं है। अभी सहर में इतना मान है कि जिसके द्वार पर खड़ा हो जाऊँगा, वह नाहीं न करेगा। लेकिन मेरा मन कहता है कि तेरे यहाँ रहने से हमारा कल्यान न होगा। हम दोनो ही बदनाम हो जायँगे। मैं तुझे अपनी बहन समझता हूँ, लेकिन अंधा संसार तो किसी की नियत

नहीं देखता। अभी तूने देखा, लोग कैसी-कैसी बातें करते रहे। पहले भी गाली उठ चुकी है। जब तू खुल्लमखुल्ला मेरे घर में रहेगी, तब तो अनरथ ही हो जायगा। लोग गरदन काटने पर उतारू हो जायँगे। बता, क्या करूँ ?"

सुभागी—"जो चाहे करो, पर मैं तुम्हें छोड़कर कहीं न जाऊँगी।"

सूरदास—"यही तेरी मरजी है, तो यही सही। मैं तो सोच रहा था, कहीं चला जाऊँ। न आँखों देखूँगा, न पीर होगी ; लेकिन तेरी बिपत देखकर अब जाने की इच्छा नहीं होती। आ, पड़ी रह। जैसी कुछ सिर पर आएगी, देखी जायगी। तुझे मँझधार में छोड़ देने से बदनाम होना अच्छा है।"

यह कहकर सूरदास भीख माँगने चला गया। सुभागी झोपड़ी में आ बैठी। देखा, तो उस मुख्तसर घर की मुख्तसर गृहस्थी इधर-उधर फैली पड़ी थी। कहीं लुटिया औंधी पड़ी थी, कहीं घड़े लुढ़के हुए थे। महीनों से अंदर सफ़ाई न हुई थी, ज़मीन पर मनों धूल बैठी हुई थी। फूस के छप्पर में मकड़ियों ने जाले लगा लिए थे। एक चिड़िया का घोंसला भी बन गया था। सुभागी सारे दिन झोपड़ी की सफ़ाई करती रही। शाम को वही घर, जो "बिन घरनी घर भूत का डेरा" को चरितार्थ कर रहा था, साफ़-सुथरा, लिपा पुता नज़र आता था कि उसे देखकर देवतों का रहने के लिये जी ललचाए। भैरों तो अपनी दूकान पर चला गया था, सुभागी घर जाकर अपनी गठरी उठा लाई। सूरदास संध्या-समय लौटा, तो सुभागी ने थोड़ा-सा चबेना उसे जल-पान करने को दिया, लुटिया में पानी लाकर रख दिया, और उसे अंचल से हवा करने लगी। सूरदास को अपने जीवन में कभी यह सुख और शांति न नसीब हुई थी। गृहस्थी के दुर्लभ आनंद का उसे पहली बार अनुभव हुआ। दिन-भर सड़क के किनारे लू और लपट में जलने के बाद यह सुख उसे स्वर्गोपम जान पड़ा। एक क्षण के लिये उसके मन में एक नई इच्छा अंकुरित हो आई। सोचने

लगा—"मैं कितना अभागा हूँ। काश यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनंद से जीवन व्यतीत होता! अब तो भैरों ने इसे घर से निकाल ही दिया; मैं रख लूँ, तो इसमें कौन-सी बुराई है! इससे कहूँ कैसे, न-जाने अपने दिल में क्या सोचे मैं। अंधा हूँ, तो क्या आदमी नहीं हूँ! बुरा तो न मानेगी? मुझसे इसे प्रेम न होता, तो मेरी इतनी सेवा क्यों करती?"

मनुष्य-मात्र को, जीव-मात्र को, प्रेम की लालसा रहती है। भोग-लिप्सी प्राणियों में यह वासना का प्रकट रूप है, सरल हृदय दीन प्राणियों में शांति-भोग का।

सुभागी ने सूरदास की पोटली खोली, तो उसमें गेहूँ का आटा निकला, थोड़ा-सा चावल, कुछ चने और तीन आने पैसे। सुभागी बनिए के यहाँ से दाल लाई, और रोटियाँ बनाकर सूरदास को भोजन करने को बुलाया।

सूरदास—"मिठुआ कहाँ है?"

सुभागी—"क्या जानूँ, कहीं खेलता होगा। दिन में एक बार पानी पीने आया था, मुझे देखकर चला गया।"

सूरदास—"तुमसे सरमाता होगा। देख, मैं उसे बुलाए लाता हूँ।"

यह कहकर सूरदास बाहर जाकर मिठुआ को पुकारने लगा। मिठुआ और दिन जब जी चाहता था, घर में जाकर दाना निकाल लाता, भुनवा-कर खाता; आज सारे दिन भूखों मरा, इस वक़्त मंदिर में प्रसाद के लालच में बैठा हुआ था। आवाज़ सुनते ही दौड़ा। दोनो खाने बैठे। सुभागी ने सूरदास के सामने चावल और रोटियाँ रख दीं, और मिठुआ के सामने सिर्फ़ चावल। आटा बहुत कम था, केवल दो रोटियाँ बन सकी थीं।

सूरदास ने कहा—"मिट्ठू, और रोटी लोगे?"

मिट्ठू—"मुझे तो रोटी मिली ही नहीं।"

सूरदास—"तो मुझसे ले लो। मैं चावल ही खा लूँगा।"

यह कहकर सूरदास ने दोनो रोटियाँ मिट्ठू को दे दीं। सुभागी कुछ

होकर मिट्ठू से बोली—"दिन-भर साँड़ की तरह फिरते हो, कहीं मजूरी क्यों नहीं करते ? इसी चक्की-घर में काम करो, तो पाँच-छ आने रोज मिलें।"

सूरदास—"अभी वह कौन काम करने लायक है। इसी उमिर में मजूरी करने लगेगा, तो कलेजा टूट जायगा !"

सुभागी—"मजूरों के लड़कों का कलेजा इतना नरम नहीं होता। सभी तो काम करने जाते हैं, किसी का कलेजा नहीं टूटता।"

सूरदास—"उसका जब जी चाहेगा, आप काम करेगा।"

सुभागी—"जिसे बिना हाथ-पैर हिलाए खाने को मिल जाय, उसकी बला काम करने जाती है।"

सूरदास—"ऊँह, मुझे कौन किसी रीन-धन का सोच है। माँगकर लाता हूँ, खाता हूँ। जिस दिन पौरुख न चलेगा, उस दिन देखी जायगी। उसकी चिंता अभी से क्यों करूँ ?"

सुभागी—"मैं इसे काम पर भेजूँगी। देखूँ, कैसे नहीं जाता। यह मुटमरदी है कि अंधा माँगे, और आँखोंवाले मुसंडे बैठे खायँ। सुनते हो मिट्ठू, कल से काम करना पड़ेगा।"

मिट्ठू—"तेरे कहने से न जाऊँगा; दादा कहेंगे, तो जाऊँगा।"

सुभागी—"मूसल की तरह घूमना अच्छा लगता है। इतना नहीं सूझता कि अंधा आदमी तो माँगकर लाता है, और मैं चैन से खाता हूँ। जनम-भर कुमार ही बने रहोगे ?"

मिट्ठू—"तुझसे क्या मतलब, मेरा जी चाहेगा, जाऊँगा, न जी चाहेगा, न जाऊँगा।"

इसी तरह दोनो में देर तक वाद-विवाद हुआ, यहाँ तक कि मिठुआ झल्लाकर चौके से उठ गया। सूरदास ने बहुत मनाया, पर वह खाने न बैठा। आखिर सूरदास भी आधा ही भोजन करके उठ गया।

जब वह लेटा, तो गृहस्थी का एक दूसरा चित्र उसके सामने था। यहाँ

न वह शांति थी, न वह सुषमा, न वह मनोल्लास। पहले ही दिन यह कलह आरंभ हुआ, बिस्मिल्लाह ही गलत हुई, तो आगे कौन जाने, क्या होगा। उसे सुभागी की यह कठोरता अनुचित प्रतीत होती थी। जब तक मैं कमाने को तैयार हूँ, लड़के पर क्यों गृहस्थी का बोझ डालूँ? जब मर जाऊँगा, तो उसके सिर पर जैसी पड़ेगी, वैसी झेलेगा।

वह अंकुर, वह नन्ही-सी आकांक्षा, जो संध्या-समय उसके हृदय में उगी थी, इस ताप के झोंके से जल गई, अंकुर सूख गया।

सुभागी को नई चिंता सवार हुई—"मिठुआ को काम पर कैसे लगाऊँ? मैं कुछ उसकी लौंडी तो हूँ नहीं कि उसकी थाली धोऊँ, उसका खाना पकाऊँ, और वह मटरगस करे। मुझे भी कोई बैठाकर न खिलाएगा। मैं खाऊँ ही क्यों! जब सब काम करेंगे, तो यह क्यों छैला बना घूमेगा!"

प्रातःकाल जब वह झोपड़ी से घड़ा लेकर पानी भरने निकली, तो घीसू की मा ने देखकर छाती पर हाथ रख लिया, और बोली—"क्यों री, आज रात तू यहीं रही थी क्या?"

सुभागी ने कहा—"हाँ, रही तो फिर!"

जमुनी—"अपना घर नहीं था?"

सुभागी—"अब लात खाने का बूता नहीं है।"

जमुनी—"तो तू दो-चार सिर कटाकर तब चैन लेगी। इस अंधे की भी मत मारी गई है कि जान-बूझकर साँप के मुँह में उँगली देता है। भैरों गला काट लेनेवाला आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, चली जा घर।"

सुभागी—"उस घर में तो अब पाँव न रक्खूँगी, चाहे कोई मार ही डाले। सूरे में इतनी दया तो है कि डूबते हुए की बाँह पकड़ ली, और दूसरा यहाँ कौन है?"

जमुनी—"जिस घर में कोई मेहरिया नहीं, वहाँ तेरा रहना अच्छा नहीं।"

सुभागी—"जानती हूँ, पर किसके घर जाऊँ? तुम्हारे घर आऊँ, रहने दोगी? जो कुछ करने को कहोगी, करूँगी, गोबर पाथूँगी, भैंसों को घास-चारा दूँगी, पानी डालूँगी, तुम्हारा आटा पीसूँगी। रक्खोगी?"

जमुनी—"न बाबा, यहाँ कौन बैठे-बिठाए रार मोल ले! अपना खिलाऊँ भी, उस पर बद्दू भी बनूँ।"

सुभागी—"रोज गाली-मार खाया करूँ?"

जमुनी—"अपना मरद है, मारता ही है, तो क्या घर छोड़कर कोई निकल जाता है।"

सुभागी—"क्यों बहुत बढ़-बढ़कर बातें करती हो जमुना! मिल गया है बैल, जिस कल चहती हो, बैठाती हो। रात-दिन डंडा लिए सिर पर सवार रहता, तो देखती कि कैसे घर में रहतीं। अभी उस दिन दूध में पानी मिलाने के लिये मारने उठा था, तो चादर लेकर मैके भागी जाती थीं। दूसरों को उपदेश करना सहज है। जब अपने सिर पड़ती है, तो आँखें खुलती हैं।"

यह कहती हुई सुभागी कुएँ पर पानी भरने चली गई। वहाँ भी उसने टीकाकारों को ऐसा ही अक्खड़ जवाब दिया। पानी लाकर बर्तन धोए, चौका लगाया, और सूरदास को सड़क पर पहुँचाने चली गई। अब तक वह लाठी से टटोलता हुआ अकेले ही चला जाता था, लेकिन सुभागी से यह न देखा गया। अंधा आदमी, कहीं गिर पड़े, तो लड़के ही दिक़ करते हैं। मैं बैठी ही तो हूँ। उससे फिर किसी ने कुछ न पूछा। यह स्थिर हो गया कि सूरदास ने उसे घर डाल लिया। अब व्यंग्य, निंदा, उपहास की गुंजाइश न थी। हाँ, सूरदास सबकी नज़रों में गिर गया। लोग कहते—"रुपए न लौटा देता, तो क्या करता। डरता होगा कि सुभागी एक दिन भैरों से कह ही देगी, मैं पहले ही से क्यों न चौकन्ना हो जाऊँ। मगर सुभागी क्यों अपने घर से रुपए उड़ा ले गई? वाह! इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है। भैरों उसे रुपए पैसे नहीं देता, मालकिन

तो बुढ़िया है। सोचा होगा, रुपए उड़ा लूँ, मेरे पास कुछ पूँजी तो हो जायगी, अपने पास कहाँ। कौन जाने, दोनो में पहले ही से साठ-गाँठ रही हो। सूरे को भला आदमी समझकर उसके पास रख आई हो। या सूरदास ने रुपए उठा लिए हों, फिर लौटा आया हो कि इस तरह मेरा भरम बना रहेगा। अंधे पेट के बड़े गहर होते हैं, इन्हें बड़ी दूर की सूझती है।"

इस भाँति कई दिनों तक गद्देबाज़ियाँ हुआ कीं।

परंतु लोगों में किसी विषय पर बहुत दिनों तक आलोचना करते रहने की आदत नहीं होती। न उन्हें इतना अवकाश होता है कि इन बातों में सिर खपाएँ, न इतनी बुद्धि ही कि इन गुत्थियों को सुलझाएँ। मनुष्य स्वभावतः क्रियाशील होते हैं, उसमें विवेचन-शक्ति कहाँ? सुभागी से बोलने-चालने, उसके साथ उठने-बैठने में किसी को आपत्ति न रही; न कोई उससे कुछ पूछता, न आवाज़े कसता। हाँ, सूरदास को मान-प्रतिष्ठा गायब हो गई। पहले मुहल्ले-भर में उसकी धाक थी, लोगों का उसकी हैसियत से कहीं अधिक उस पर विश्वास था। उसका नाम अदब के साथ लिया जाता था। अब उसकी गणना भी सामान्य मनुष्यों में होने लगी, कोई विशेषता न रही।

किंतु भैरों के हृदय में सदैव यह काँटा खटका करता था। वह किसी भाँति इस सजीव अपमान का बदला लेना चाहता था। दूकान पर बहुत कम जाता। अफ़सरों से शिकायत भी की गई कि यह ठेकेदार दूकान नहीं खोलता, ताड़ी-सेवियों को निराश होकर जाना पड़ता है। मादक-वस्तु-विभाग के कर्मचारियों ने भैरों को निकाल देने की धमकी भी दी; पर उसने कहा, मुझे दूकान का डर नहीं, आप लोग जिसे चाहें रख लें। पर वहाँ कोई दूसरा पासी न मिला, और अफ़सरों ने एक दूकान टूट जाने के भय से कोई सख़्ती करनी उचित न समझी।

धीरे-धीरे भैरों को सूरदास ही से नहीं, मुहल्ले-भर से अदावत हो गई। उसके विचार में मुहल्लेवालों का यह धर्म था कि मेरी हिमायत के लिये

खड़े हो जाते, और सूरे को कोई ऐसा दंड देते कि वह आजीवन याद रखता—"ऐसे मुहल्ले में कोई क्या रहे, जहाँ न्याय और अन्याय एक ही भाव बिकता है। कुकर्मियों से कोई बोलता ही नहीं। सूरदास अकड़ता हुआ चला जाता है। यह चुड़ैल आँखों में काजल लगाए फिरा करती है। कोई इन दोनो के मुँह में कालिख नहीं लगाता। ऐसे गाँव में तो आग लगा देनी चाहिए।" मगर किसी कारण उसकी क्रियात्मक शक्ति शिथिल पड़ गई थी। वह मार्ग में सुभागी को देख लेता, तो कतराकर निकल जाता। सूरदास को देखता, तो ओठ चबाकर रह जाता। वार करने की हिम्मत न होती। वह अब कभी मंदिर में भजन गाने न जाता, मेलों-तमाशों से भी उसे अरुचि हो गई, नशे का चस्का आप-ही-आप छूट गया। अपमान की तीव्र वेदना निरंतर होती रहती। उसने सोचा था, सुभागी मुँह में कालिख लगाकर कहीं निकल जायगी, मेरे कलंक का दाग़ मिट जायगा। मगर वह अभी तक वहाँ उसकी छाती पर मूँग ही नहीं दल रही थी, बल्कि उसी पुरुष के साथ विलास कर रही थी, जो उसका प्रतिद्वंद्वी था। सबसे बढ़कर दुःख उसे इस बात का था कि मुहल्ले के लोग उन दोनो के साथ पहले ही का-सा व्यवहार करते थे, कोई उन्हें न रगेदता था, न लताड़ता था। उसे अपना अपमान सामने बैठा मुँह चिढ़ाता हुआ मालूम होता था। अब उसे गाली-गलौज से तस्कीन न हो सकती थी। वह इस फ़िक्र में था कि इन दोनो का काम तमाम कर दूँ। इस तरह मारूँ कि एँड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरें, पानी की बूँद भी न मिले। लेकिन अकेला आदमी क्या कर सकता है। चारो ओर निगाह दौड़ाता, पर कहीं से सहायता मिलने की आशा न दिखाई देती। मुहल्ले में ऐसे जीवट का कोई आदमी न था। सोचते-सोचते उसे खयाल आया कि अंधे ने चतारी के राजा साहब को बहुत बदनाम किया था। कारखानेवाले साहब को भी बदनाम करता फिरता था। इन्हीं लोगों से चलकर फ़रियाद करूँ। अंधे से दिल में तो दोनो

खार खाते ही होंगे, छोटे के मुँह लगना अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझकर चुप रह गए होंगे। मैं जो सामने खड़ा हो जाऊँगा, तो मेरी आह से वे ज़रूर निशाना मारेंगे। बड़े आदमी हैं, वहाँ तक पहुँचना मुश्किल है; लेकिन जो कहीं मेरी पहुँच हो गई, और उन्होंने मेरी सुन ली, तो फिर इन बचा की ऐसी खबर लेंगे कि सारा अंधापन निकल जायगा। (अंधेपन के सिवा यहाँ और रक्खा ही क्या था!)

कई दिनों तक वह इसी हैसबैस में पड़ा रहा कि उन लोगों के पास कैसे पहुँचूँ। जाने की हिम्मत न पड़ती थी। कहीं उलटे मुझी को मार बैठें, निकलवा दें, तो और भी भद्द हो। आखिर एक दिन दिल मज़बूत करके वह राजा साहब के मकान पर गया, और साइस के द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। साइस ने देखा, तो कर्कश कंठ से बोला—"कौन हो? यहाँ क्या उचक्कों की तरह झाँक रहे हो?"

भैरों ने बड़ी दीनता से कहा—"भैया, डाटो मत, गरीब-दुखी आदमी हूँ।"

साइस—"गरीब-दुखियारे हो, तो किसी सेठ-साहूकार के घर जाते, यहाँ क्या रक्खा है?"

भैरों—"गरीब हूँ, लेकिन भिखमंगा नहीं हूँ। इज्जत-आबरू सभी की होती है। तुम्हारी ही बिरादरी में कोई किसी की बहू-बेटी लेकर निकल जाय, तो क्या उसे पंचाइत यों ही छोड़ देगी? कुछ-न-कुछ दंड तो देगी ही। पंचाइत न देगी, तो अदालत-कचहरी से तो कुछ होगा।"

साइस ज़ात का चमार था, जहाँ ऐसी दुर्घटनाएँ आएदिन होती रहती हैं, और बिरादरी को उनकी बदौलत नशा-पानी का सामान साथ आता रहता है। उसके घर में नित्य यही चर्चा रहती थी, और इन बातों में उसे जितनी दिलचस्पी थी, उतनी और किसी बात से न हो सकती थी। बोला—"आओ, बैठो, चिलम पियो, कौन भाई हो?"

भैरों—"पासी हूँ, यहीं पाँड़ेपुर में रहता हूँ।"

वह साईस के पास जा बैठा, और दोनो में सायँ-सायँ बातें होने लगीं, मानो वहाँ कोई कान लगाए उनकी बातें सुन रहा हो। भैरों ने अपना संपूर्ण वृत्तांत सुनाया, और कमर से एक रुपया निकालकर साईस के हाथ में रखता हुआ बोला—"भाई, कोई ऐसी जुगुत निकालो कि राजा साहब के कानों में यह बात पड़ जाय। फिर तो मैं अपना सब हाल आप ही कह लूँगा। तुम्हारी दया से बोलने-चालने में ऐसा बुद्धू नहीं हूँ, दरोगा से तो कभी डरा ही नहीं।"

साईस को रौप्य मुद्रा के दर्शन हुए, तो मगन हो गया। आज सबेरे-सबेरे अच्छी बोहनी हुई। बोला—"मैं राजा साहब से तुम्हारी इत्तला कराए देता हूँ। बुलाहट होगी, तो चले जाना। राजा साहब को घमंड तो छू ही नहीं गया। मगर देखना, बहुत देर न लगाना, नहीं तो मालिक चिढ़ जायँगे। बस, जो कुछ कहना हो, साफ साफ कह डालना। बड़े आदमियों को बातचीत करने की फुरसत नहीं रहती। मेरी तरह थोड़े ही हैं कि दिन-भर बैठे गप्पें लड़ाया करें।"

यह कहकर वह चला गया। राजा साहब इस वक्त बाल बनवा रहे थे, जो उनका नित्य का नियम था। साईस ने पहुँचकर सलाम किया।

राजा—"क्या कहते हो? मेरे पास तलब के लिये मत आया करो।"

साईस—"नहीं हजूर, तलब के लिये नहीं आया था। वह जो सूरदास पाँड़ेपुर में रहता है।"

राजा—"अच्छा, वह दुष्ट अंधा!"

साईस—"हाँ हजूर, वह एक औरत को निकाल ले गया है।"

राजा—"अच्छा! उसे तो लोग कहते थे, बड़ा भला आदमी है। अब यह स्वाँग रचने लगा!"

साईस—"हाँ हजूर, उसका आदमी फरियाद करने आया है। हुकुम हो, तो लाऊँ।"

राजा साहब ने सिर हिलाकर अनुमति दी, और एक क्षण में भैरों दबकता हुआ आकर खड़ा हो गया।

राजा—"तुम्हारी औरत है ?"

भैरों—"हाँ हजूर, अभी कुछ दिन पहले तो मेरी ही थी।"

राजा—"पहले से कुछ आमद-रफ़्त थी ?"

भैरों—"होगी सरकार, मुझे मालूम नहीं।"

राजा—लेकर कहाँ चला गया ?"

भैरों—"कहीं गया नहीं सरकार, अपने घर में है।"

राजा—"बड़ा ढीठ है। गाँववाले कुछ नहीं बोलते ?"

भैरों—"कोई नहीं बोलता हजूर !"

राजा—"औरत को मारते बहुत हो ?"

भैरों—"सरकार, औरत से भूल-चूक होती है, तो कौन नहीं मारता ?"

राजा—"बहुत मारते हो कि कम ?"

भैरों—"हजूर, क्रोध में यह विचार कहाँ रहता है।"

राजा—"कैसी औरत है, सुंदर ?"

भैरों—"हाँ हजूर, देखने-सुनने में बुरी नहीं है।"

राजा—"समझ में नहीं आता, सुंदर स्त्री ने अंधे को क्यों पसंद किया ! ऐसा तो नहीं हुआ कि तुमने दाल में नमक ज़्यादा हो जाने पर स्त्री को मारकर निकाल दिया हो, और अंधे ने रख लिया हो ?"

भैरों—"सरकार, औरत मेरे रुपए चुराकर सूरदास को दे आई। सबेरे सूरदास रुपए लौटा गया। मैंने चकमा देकर पूछा, तो उसने चोर को भी बता दिया। इस बात पर मारता न, तो क्या करता ?"

राजा—"और कुछ हो, अंधा है दिल का साफ़।"

भैरों—"हजूर, नीयत का अच्छा नहीं।"

यद्यपि महेंद्रकुमारसिंह बहुत न्यायशील थे, और अपने कुत्सित मनोविचारों को प्रकट करने में बहुत सावधान रहते थे, ख्याति-प्रिय मनुष्य को

निकाल दे, उसका जहाँ जी चाहे, चली जाय, मेरी आँखों के सामने से दूर हो जाय। पर देखता हूँ, तो दिन-दिन उसकी पेंग बढ़ती ही जाती है। अंधा छैला बना जाता है। महीनों देह पर पानी नहीं पड़ता था; अब नित्य स्नान करता है। वह पानी लाती है, उसकी धोती छाँटती है, उसके सिर में तेल मलती है। यह अंधेर नहीं देखा जाता।"

बजरंगी—"अंधेर तो है ही, आँखों से देख रहा हूँ। सूरे को इतना छिछोरा न समझता था। पर मैं कहीं गवाही-साखी करने न जाऊँगा।"

जमुनी—"क्यों, कचहरी में कोई तुम्हारे कान काट लेगा?"

बजरंगी—"अपना मन है, नहीं जाते।"

जमुनी—"अच्छा तुम्हारा मन है! भैरों, तुम मेरी गवाही लिखा दो। मैं चलकर गवाही दूँगी। साँच को आँच क्या!"

बजरंगी—(हँसकर) "तू कचहरी जायगी?"

जमुनी—"क्या करूँगी, जब मरदों की वहाँ जाते चूड़ियाँ मैली होती हैं, तो औरत ही जायगी। किसी तरह इस कसबिन के मुँह में कालिख तो लगे।"

बजरंगी—"भैरों, बात यह है कि सूरे ने बुराई जरूर की, लेकिन तुम भी तो अनीत ही पर चलते थे। कोई अपने घर के आदमी को इतनी बेदरदी से नहीं मारता। फिर तुमने मारा ही नहीं, मारकर निकाल भी दिया। जब गाय की पगहिया न रहेगी, तो वह दूसरों के खेत में जायगी ही। इसमें उसका क्या दोस?"

जमुनी—"तुम इन्हें बकने दो भैरों, मैं तुम्हारी गवाही करूँगी।"

बजरंगी—"तू सोचती होगी, यह धमकी देने से मैं कचहरी जाऊँगा; यहाँ इतने बुद्धू नहीं हैं। और, सच्ची बात तो यह है कि सूरे लाख बुरा हो, मगर अब भी हम सबों से अच्छा है। रुपयों की थैली लौटा देना कोई छोटी बात नहीं।"

जमुनी—"बस चुप रहो, मैं तुम्हें खूब समझती हूँ। तुम भी जाकर चार गाल हँस-बोल आते हो न, क्या इतनी यारी भी न निभाओगे? सुभागी को सजा हो गई, तो तुम्हें भी तो नजर लड़ाने को कोई न रहेगा।"

बजरंगी यह लांछन सुनकर तिलमिला उठा। जमुनी उसका आसन पहचानती थी। बोला—"मुँह में कीड़े पड़ जायँगे।"

जमुनी—"तो फिर गवाही देते क्यों कोर दबती है?"

बजरंगी—"लिखा दो भैरों, मेरा नाम, यह चुड़ैल मुझे जीने न देगी। मैं अगर हारता हूँ, तो इसी से। मेरी पीठ में अगर धून लगाती है, तो यह। नहीं तो यहाँ कभी किसी से दबकर नहीं चले। जाओ, लिखा दो।"

भैरों यहाँ से ठाकुरदीन के पास गया, और वही प्रस्ताव किया। ठाकुरदीन ने कहा—"हाँ-हाँ, मैं गवाही करने को तैयार हूँ। मेरा नाम सबसे पहले लिखा दो। अंधे को देखकर मेरी तो अब आँखें फूटती हैं। अब मुझे मालूम हो गया कि उसे जरूर कोई सिद्धि है; नहीं तो क्या सुभागी उसके पीछे यों दौड़ी-दौड़ी फिरती।"

भैरों—"चक्की पीसेंगे, तो बचा को मालूम होगा।"

ठाकुरदीन—"ना भैया, उसका अकबाल भारी है, वह कभी चक्की न पीसेगा, वहाँ से भी बेदाग लौट आएगा। हाँ, गवाही देना मेरा धरम है, वह मैं दे दूँगा। जो आदमी सिद्धि से दूसरों का अनभल करे, उसकी गरदन काट लेनी चाहिए। न-जाने क्यों भगवान संसार में चोरों और पापियों को जनम देते हैं। यही समझ लो कि जब से मेरी चोरी हुई, कभी नींद-भर नहीं सोया। नित्य वही चिंता बनी रहती है। यही खटका लगा रहता है कि कहीं फिर न वही नौबत आ जाय। तुम तो एक हिसाब से मजे में रहे कि रुपए सब मिल गए, मैं तो कहीं का न रहा।"

भैरों—"तो तुम्हारी गवाही पक्की रही?"

ठाकुरदीन—"हाँ, एक बार नहीं, सौ बार पक्की। अरे, मेरा बस चलता, तो इसे खोदकर गाड़ देता। यों मुझसे सीधा कोई नहीं है,

लेकिन दुष्टों के हक में मुझसे टेढ़ा भी कोई नहीं है। इनको सजा दिलाने के लिये मैं झूठी गवाही देने को भी तैयार हूँ। मुझे तो अचरज होता है कि इस अंधे को क्या हो गया। कहाँ तो धरम-करम का इतना विचार, इतना परोपकार, इतना सदाचार, और कहाँ यह कुकर्म !"

भैरों यहाँ से जगधर के पास गया, जो अभी खोंचा बेचकर लौटा था, और धोती लेकर नहाने आ रहा था।

भैरों—"तुम भी मेरे गवाह हो न ?"

जगधर—"तुम हक-नाहक सूरे पर मुकदमा चला रहे हो। सूरा निरपराध है।"

भैरों—"कसम खाओगे ?"

जगधर—"हाँ, जो कसम कहो, खा जाऊँ। तुमने सुभागी को अपने घर से निकाल दिया, सूरे ने उसे अपने घर में जगह दे दी। नहीं तो अब तक वह न-जाने किस घाट लगी होती। जवान औरत है, सुंदर है, उसके सैकड़ों गाहक हैं। सूरे ने तो उसके साथ नेकी की कि उसे कहीं बहकने न दिया। अगर तुम फिर उसे घर में लाकर रखना चाहो, और वह उसे आने न दे, तुमसे लड़ने पर तैयार हो जाय, तब मैं कहूँगा कि उसका कसूर है। मैंने अपने कानों से उसे सुभागी को समझाते सुना है। वह आती ही नहीं, तो बेचारा क्या करे ?"

भैरों समझ गया कि यह एक लोटे जल से प्रसन्न हो जानेवाला देवता नहीं, इसे कुछ भेंट करनी पड़ेगी। उसकी लोभी प्रकृति से वह परिचित था। बोला—"भाई, मुआमला इज्जत का है। ऐसी उड़नघाइयाँ न बताओ। पड़ोसी का हक बहुत कुछ होता है; पर मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ, जो कुछ दस-बीस कहो, हाजिर है। पर गवाही तुम्हें देनी पड़ेगी।"

जगधर—"भैरों, मैं बहुत नीच हूँ, लेकिन इतना नीच नहीं कि जान-सुनकर किसी भले आदमी को बेकसूर फँसाऊँ।"

भैरों ने [illegible] कहा—"तो क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे ही

नाम खुदाई लिख गई है। जिस बात को सारा गाँव कहेगा, उसे एक तुम न कहोगे, तो क्या बिगड़ जायगा। टिट्टी के रोके आँधी नहीं रुक सकती।"

जगधर—"तो भाई, उसे पीसकर पी जाओ, मैं कब कहता हूँ कि मैं उसे बचा लूँगा। हाँ, मैं उसे पीसने में तुम्हारी मदद न करूँगा।"

भैरों तो उधर गया, इधर वही स्वार्थी, लोभी, ईर्ष्यालु, कुटिल जगधर उसके गवाहों को फोड़ने का प्रयत्न करने लगा। उसे सूरदास से इतनी भक्ति न थी, जितनी भैरों से ईर्ष्या। भैरों अगर किसी सत्कार्य में भी उसकी सहायता माँगता, तो भी वह इतनी ही तत्परता से उसकी उपेक्षा करता।

उसने बजरंगी के पास जाकर कहा—"क्यों बजरंगी, तुम भी भैरों की गवाही कर रहे हो?"

बजरंगी—"हाँ, जाता तो हूँ।"

जगधर—"तुमने अपनी आँखों कुछ देखा है?"

बजरंगी—"कैसी बातें करते हो, रोज ही देखता हूँ, कोई बात छिपी थोड़े ही है।"

जगधर—"क्या देखते हो? यही न कि सुभागी सूरदास के झोपड़े में रहती है? अगर कोई एक अनाथ औरत का पालन करे, तो बुराई है? अंधे आदमी के जीवट का बखान तो न करोगे कि जो काम किसी से न हो सका, वह उसने कर दिखाया, उल्टे उससे और बैर साधते हो। जानते हो, सूरदास उसे घर से निकाल देगा, तो उसकी क्या गत होगी? मुहल्ले की आबरू पुतलीघर के मजूरों के हाथ बिकेगी। देख लेना। मेरा कहना मानो, गवाही-साखी के फेर में न पड़ो, भलाई के बदले बुराई हो जायगी। भैरों तो सुभागी से इसलिये जल रहा है कि उसने उसके चुराए हुए रुपए सूरदास को क्यों लौटा दिए। बस, सारी जलन इसी की है। हम बिना जाने-बूझे क्यों किसी की बुराई करें। हाँ, गवाही देने ही जाते हो, तो पहले खूब पता लगा लो कि दोनो कैसे रहते हैं……"

बजरंगी—(जमुनी की तरफ़ इशारा करके)इसी से पूछो, यही अंतरजामी है, इसी ने मुझे मजबूर किया है।"

जमुनी—"हाँ। किया तो है, क्या अब भी दिल काँप रहा है?"

जगधर—"अदालत में जाकर गवाही देना क्या तुमने हँसी समझ ली है। गंगाजली उठानी पड़ती है, तुलसी-दल लेना पड़ता है, बेटे के सिर पर हाथ रखना पड़ता है। इसी से बाल बच्चेवाले डरते हैं कि और कुछ।"

जमुनी—"सच कहो, ये सब कसमें भी खानी पड़ती हैं?"

जगधर—"बिना कसम खाए तो गवाही होती ही नहीं।"

जमुनी—"तो भैया, बाज आई ऐसी गवाही से, कान पकड़ती हूँ। चूल्हे में जाय सूरा और भाड़ में जाय भैरों, कोई बुरे दिन काम न आएगा। तुम रहने दो।"

बजरंगी—"सूरदास को लड़कपन से देख रहे हैं, ऐसी आदत तो उसमें न थी।"

जगधर—"न थी, न है, और न होगी। उसकी बड़ाई नहीं करता, पर उसे लाख रुपए भी दो, तो बुराई में हाथ न डालेगा। कोई दूसरा होता, तो गया हुआ धन पाकर चुपके से रख लेता, किसी को कानोंकान खबर भी न होता। नहीं तो जाकर सब रुपए दे आया। उसकी सफ़ाई तो इतने ही से हो जाती है।"

बजरंगी को तोड़कर जगधर ने ठाकुरदीन को घेरा। पूजा करके भोजन करने जा रहा था। जगधर की आवाज़ सुनकर बोला—"बैठो, खाना खाकर आता हूँ।"

जगधर—"मेरी बात सुन लो, तो खाने बैठो। खाना कहीं भागा नहीं जाता है। तुम भी भैरों की गवाही देने जा रहे हो?"

ठाकुरदीन—"हाँ, जाता हूँ। भैरों ने कहा होता, तो आप ही जाता। मुझसे यह अनीत नहीं देखी जाती। जमाना दूसरा है, नहीं

नवाबी होती, तो ऐसे आदमी का सिर काट लिया जाता। किसी की बहू-बेटी को निकाल ले जाना कोई हँसी-ठट्ठा है ?"

जगधर—"जान पड़ता है, देवतों की पूजा करते-करते तुम भी अंतरजामी हो गए हो। पूछता हूँ, किस बात की गवाही दोगे ?"

ठाकुरदीन—"कोई लुकी-छिपी बात है, सारा देस जानता है।"

जगधर—"सूरदास बड़ा गबरू जवान है, इसी से सुंदरी का मन उस पर लोट-पोट हो गया होगा, या उसके घर रुपए-पैसे, गहने-जेवर के ढेर लगे हुए हैं, इसी से औरत लोभ में पड़ गई होगी। भगवान को देखा नहीं, लेकिन अक्कल से तो पहचानते हो। आखिर क्या देखकर सुभागी ने औरों को छोड़ दिया, और सूरे के घर पड़ गई ?"

ठाकुरदीन—"कोई किसी के मन की बात क्या जाने, और औरत के मन की बात तो भगवान भी नहीं जानते, देवता लोग तक उससे त्राह-त्राह करते हैं !"

जगधर—"अच्छा, तो जाओ, मगर यह कहे देता हूँ कि इसका फल भोगना पड़ेगा। किसी गरीब पर झूठा अपराध लगाने से बड़ा दूसरा पाप नहीं होता।"

ठाकुरदीन—"झूठा अपराध है ?"

जगधर—"झूठा है, सरासर झूठा; रत्ती-भर भी सच नहीं। बेकस की वह हाय पड़ेगी कि जिंदगानी-भर याद करोगे। जो आदमी अपना गया हुआ धन पाकर लौटा दे, वह इतना नीच नहीं हो सकता।"

ठाकुरदीन—(हँसकर) "यही तो अंधे की चाल है। कैसी दूर की सूझी है कि जो सुने, चक्कर में आ जाय।"

जगधर—"मैंने जता दिया, आगे तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। रक्खोगे सुभागी को अपने घर में ? मैं उसे सूरे के घर से लिवाए लाता हूँ। अगर फिर कभी सूरे को उससे बातें करते देखना, तो जो चाहना, सो करना। रक्खोगे ?"

बजरंगी—(जमुनी की तरफ़ इशारा करके)इसी से पूछो, यही अंतरजामी है, इसी ने मुझे मजबूर किया है।"

जमुनी—"हाँ। किया तो है, क्या अब भी दिल काँप रहा है?"

जगधर—"अदालत में जाकर गवाही देना क्या तुमने हँसी समझ ली है। गंगाजली उठानी पड़ती है, तुलसी-दल लेना पड़ता है, बेटे के सिर पर हाथ रखना पड़ता है। इसी से बाल बच्चेवाले डरते हैं कि और कुछ।"

जमुनी—"सच कहो, ये सब कसमें भी खानी पड़ती हैं?"

जगधर—"बिना कसम खाए तो गवाही होती ही नहीं।"

जमुनी—"तो भैया, बाज आई ऐसी गवाही से, कान पकड़ती हूँ। चूल्हे में जाय सूरा और भाड़ में जाय भैरों, कोई बुरे दिन काम न आएगा। तुम रहने दो।"

बजरंगी—"सूरदास को लड़कपन से देख रहे हैं, ऐसी आदत तो उसमें न थी।"

जगधर—"न थी, न है, और न होगी। उसकी बड़ाई नहीं करता, पर उसे लाख रुपए भी दो, तो बुराई में हाथ न डालेगा। कोई दूसरा होता, तो गया हुआ धन पाकर चुपके से रख लेता, किसी को कानोंकान खबर भी न होती। नहीं तो जाकर सब रुपए दे आया। उसकी सफ़ाई तो इतने ही से हो जाती है।"

बजरंगी को तोड़कर जगधर ने ठाकुरदीन को घेरा। पूजा करके भोजन करने जा रहा था। जगधर की आवाज़ सुनकर बोला—"बैठो, खाना खाकर आता हूँ।"

जगधर—"मेरी बात सुन लो, तो खाने बैठो। खाना कहीं भागा नहीं जाता है। तुम भी भैरों की गवाही देने जा रहे हो?"

ठाकुरदीन—"हाँ, जाता हूँ। भैरों ने कहा होता, तो आप ही जाता। मुझसे यह अनीत नहीं देखी जाती। जमाना दूसरा है, नहीं

जवाबी होती, तो ऐसे आदमी का सिर काट लिया जाता। किसी की बहू-बेटी को निकाल ले जाना कोई हँसी-ठट्ठा है ?"

जगधर—"जान पड़ता है, देवतों की पूजा करते-करते तुम भी अंतर-यामी हो गए हो। पूछता हूँ, किस बात की गवाही दोगे ?"

ठाकुरदीन—"कोई लुकी-छिपी बात है, सारा देस जानता है।"

जगधर—"सूरदास बड़ा गबरू जवान है, इसी से सुंदरी का मन उस पर लोट-पोट हो गया होगा, या उसके घर रुपए-पैसे, गहने-जेवर के ढेर लगे हुए हैं, इसी से औरत लोभ में पड़ गई होगी। भगवान को देखा नहीं, लेकिन अक्ल से तो पहचानते हो। आखिर क्या देखकर सुभागी ने भैरों को छोड़ दिया, और सूरे के घर पड़ गई ?"

ठाकुरदीन—"कोई किसी के मन की बात क्या जाने, और औरत के मन की बात तो भगवान भी नहीं जानते, देवता लोग तक उससे त्राह-त्राह करते हैं !"

जगधर—"अच्छा, तो जाओ, मगर यह कहे देता हूँ कि इसका फल भोगना पड़ेगा। किसी गरीब पर झूठा अपराध लगाने से बड़ा दूसरा पाप नहीं होता।"

ठाकुरदीन—"झूठा अपराध है ?"

जगधर—"झूठा है, सरासर झूठा; रत्ती-भर भी सच नहीं। बेकस की वह हाय पड़ेगी कि जिंदगानी-भर याद करोगे। जो आदमी अपना गया हुआ धन पाकर लौटा दे, वह इतना नीच नहीं हो सकता।"

ठाकुरदीन—(हँसकर) "यही तो अंधे की चाल है। कैसी दूर की सूझी है कि जो सुने, चक्कर में आ जाय।"

जगधर—"मैंने जता दिया, आगे तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। रक्खोगे सुभागी को अपने घर में ? मैं उसे सूरे के घर से लिवाए लाता हूँ। अगर फिर कभी सूरे को उससे बातें करते देखना, तो जो चाहना, सो करना। रक्खोगे ?"

बजरंगी—(जमुनी की तरफ़ इशारा करके)इसी से पूछो, यही अंतरजामी है, इसी ने मुझे मजबूर किया है।"

जमुनी—"हाँ। किया तो है, क्या अब भी दिल काँप रहा है?"

जगधर—"अदालत में जाकर गवाही देना क्या तुमने हँसी समझ ली है। गंगाजली उठानी पड़ती है, तुलसी-दल लेना पड़ता है, बेटे के सिर पर हाथ रखना पड़ता है। इसी से बाल बच्चेवाले डरते हैं कि और कुछ।"

जमुनी—"सच कहो, ये सब कसमें भी खानी पड़ती हैं?"

जगधर—'बिना कसम खाए तो गवाही होती ही नहीं।"

जमुनी—"तो भैया, बाज आई ऐसी गवाही से, कान पकड़ती हूँ। चूल्हे में जाय सूरा और भाड़ में जाय भैरों, कोई बुरे दिन काम न आएगा। तुम रहने दो।"

बजरंगी—'सूरदास को लड़कपन से देख रहे हैं, ऐसी आदत तो उसमें न थी।"

जगधर—"न थी, न है, और न होगी। उसकी बड़ाई नहीं करता, पर उसे लाख रुपए भी दो, तो बुराई में हाथ न डालेगा। कोई दूसरा होता, तो गया हुआ धन पाकर चुपके से रख लेता, किसी को कानोंकान खबर भी न होती। नहीं तो जाकर सब रुपए दे आया। उसकी सफ़ाई तो इतने ही से हो जाती है।"

बजरंगी को तोड़कर जगधर ने ठाकुरदीन को घेरा। पूजा करके भोजन करने जा रहा था। जगधर की आवाज़ सुनकर बोला—"बठो, खाना खाकर आता हूँ।"

जगधर—"मेरी बात सुन लो, तो खाने बैठो। खाना कहीं भागा नहीं जाता है। तुम भी भैरों की गवाही देने जा रहे हो?"

ठाकुरदीन—"हाँ, जाता हूँ। भैरों ने कहा होता, तो आप ही जाता। मुझसे यह अनीत नहीं देखी जाती। जमाना दूसरा है, नहीं

पिलाता था। कोई पाँच रुपए भी देता, तो उतने सबेरे पेड़ पर न चढ़ता। मटकों ताड़ी पिला दी होगी। तमाखू पीना होता है, तो यहीं आता है। रुपए-पैसे का काम लगता है, तो मैं ही काम आता हूँ, और मेरे साथ यह घात! ज़माना ही ऐसा है।"

जगधर का घर मिला हुआ था। यह सब सुन रहा था, और मुँह न खोलता था। वह सामने से वार करने में नहीं, पीछे से वार करने में कुशल था।

इतने में मिल का एक मिस्त्री, नीम-आस्तीन पहने कोयले की भभूत लगाए, और कोयले ही का-सा रंग, हाथ में हथौड़ा लिए, चमरौधा जूता डाटे, आकर बोला—"चलते हो दूकान पर कि इसी झंझट में पड़े रहोगे? देर हो रही है, अभी साहब के बँगले पर जाना है।"

भैरो—"अजी जाओ, तुम्हें दूकान की पड़ी हुई है। यहाँ ऐसा जी जल रहा है कि गाँव में आग लगा दूँ।"

मिस्त्री—"क्या है क्या? किस बात पर बिगड़ रहे हो, मैं भी सुनूँ।"

भैरो ने संक्षिप्त रूप से सारी कथा सुना दी, और गाँववालों की कायरता और असज्जनता का दुखड़ा रोने लगा।

मिस्त्री—"गाँववालों को मारो गोली। तुम्हें कितने गवाह चाहिए? जितने गवाह कहो, दे दूँ, एक-दो, दस-बीस। भले आदमी, पहले ही क्यों न कहा? आज ही ठीक-ठाक किए देता हूँ। बस, सबों को भर-भर पेट पिला देना।"

भैरो की बाछें खिल गईं, बोला—"ताड़ी की कौन बात है, दूकान तुम्हारी है, जितनी चाहो, पियो, पर ज़रा मोतबर गवाह दिलाना।"

मिस्त्री—"अजी, कहो तो बाबू लोगों को हाजिर कर दूँ। बस, ऐसी पिला देना कि सब यहीं से गिरते हुए घर पहुँचें।"

भैरो—"अजी, कहो तो इतनी पिला दूँ कि दो-चार लाशें उठ जायँ।"

ठाकुरदीन—"मैं क्यों रखने लगा !"

जगधर—"तो अगर शिवजी ने संसार-भर का विस माथे चढ़ा लिया, तो क्या बुरा किया ! जिसके लिये कहीं ठिकाना नहीं था, उसे सूरे ने अपने घर में जगह दी। इस नेकी की उसे यह सज़ा मिलनी चाहिए ? यही न्याय है ? अगर तुम लोगों के दबाव में आकर सूरे ने सुभागी को घर से निकाल दिया, और उसकी आबरू बिगड़ी, तो उसका पाप तुम्हारे सिर भी पड़ेगा। याद रखना।"

ठाकुरदीन देवभीरु आत्मा था। दुविधा में पड़ गया। जगधर ने आसन पहचाना, इसी ढंग की दो-चार बातें और कीं। आखिर ठाकुरदीन गवाही देने से इनकार करने लगा। जगधर की ईर्ष्या किसी साधु के उपदेश का काम कर गई। संध्या होते होते भैरों को मालूम हो गया कि मुहल्ले में कोई गवाह न मिलेगा। दाँत पीसकर रह गया। चिराग़ जल रहे थे। बाज़ार की ओर दूकानें बंद हो रही थीं। ताड़ी की दूकान खोलने का समय आ रहा था। गाहक जमा होते जाते थे। बुढ़िया खिलौने के लिये मटर के दालमोट और चटपटे पकौड़े बना रही थी, और भैरों द्वार पर बैठा हुआ जगधर को, मुहल्लेवालों को और सारे संसार को गालियाँ सुना रहा था—"सब-के-सब नामरदे हैं, आँख के अंधे, जभी तो यह दुरदसा हो रही है। कहते हैं, सूखा क्यों पड़ता है, प्लेग क्यों आता है, हैजा क्यों फैलता है, जहाँ ऐसे-ऐसे बेईमान, पापी, दुष्ट बसेंगे, वहाँ और होगा ही क्या। भगवान इस देश को गारत क्यों नहीं कर देते, यही अचरज है। ख़ैर, जिंदगानी है, तो हम और जगधर इसी जगह रहते हैं, देखी जायगी।"

क्रोध के आवेश में अपनी नेकियाँ बहुत याद आती हैं। भैरों उन उपकारों का वर्णन करने लगा, जो उसने जगधर के साथ किए थे—"इसकी घरवाली मर रही थी। किसी ने बता दिया, ताज़ी ताड़ी पिए, तो बच जाय। मुँह-अँधेरे पेड़ पर चढ़ता था, और ताजी ताड़ी उतारकर उसे

सूरदास—"बदनामी की चिंता नहीं, जब तक वह तुझे रखने को राजी न होगा, मैं तुझे जाने ही न दूँगा।"

सुभागी—"वह राजी भी होगा, तो उसके घर न जाऊँगी। वह मन का बड़ा मैला आदमी है, इसकी कसर जरूर निकालेगा। तुम्हारे घर से भी चली जाऊँगी।"

सूरदास—"मेरे घर से क्यों चली जायगी? मैं तो तुझे नहीं निकालता।"

सुभागी—"मेरे कारन तुम्हारी कितनी जगहँसाई होगी। मुहल्लेवालों का तो मुझे कोई डर न था। मैं जानती थी कि किसी को तुम्हारे ऊपर संदेह न होगा, और होगा भी, तो छिन-भर में दूर हो जायगा। लेकिन ये पुतलीघर के उजड्ड मजूरे तुम्हें क्या जानें। भैरों के यहाँ सब-के-सब ताड़ी पीते हैं। वह उन्हें मिलाकर तुम्हारी आबरू बिगाड़ देगा। मैं यहाँ न रहूँगी, तो उसका कलेजा ठंडा हो जायगा। विष की गाँठ तो मैं हूँ।"

सूरदास—"जायगी कहाँ?"

सुभागी—"जहाँ उसके मुँह में कालिख लगा सकूँ, जहाँ उसकी छाती पर मूँग दल सकूँ?"

सूरदास—"उसके मुँह में कालिख लगेगी, तो मेरे मुँह में पहले ही न लग जायगी। तू मेरी बहन ही तो है।"

सुभागी—"नहीं, मैं तुम्हारी कोई नहीं हूँ। मुझे बहन-बेटी न बनाओ।"

सूरदास—"मैं कहे देता हूँ, इस घर से न जाना।"

सुभागी—"मैं अब तुम्हारे साथ रहकर तुम्हें बदनाम न करूँगी।"

सूरदास—"मुझे बदनामी कबूल है, लेकिन जब तक यह न मालूम हो जाय कि तू कहाँ जायगी, तब तक मैं तुझे जाने ही न दूँगा।"

भैरों ने रात तो किसी तरह काटी। प्रातःकाल कचहरी दौड़ा। वहाँ अभी द्वार बंद थे, मेहतर झाड़ू लगा रहे थे, अतएव वह एक वृक्ष के

यों बातें करते हुए दोनो दूकान पहुँचे। वहाँ २०-२५ आदमी, जो इसी कारखाने के नौकर थे, बड़ी उत्कंठा से भैरों की राह देख रहे थे। भैरों ने तो पहुँचते ही ताड़ी नापनी शुरू की, और इधर मिस्त्री ने गवाहों को तैयार करना शुरू किया। कानों में बातें होने लगीं।

एक—"मौका अच्छा है। अंधे के घर से निकलकर जायगी कहाँ! भैरों अब उसे न रक्खेगा।"

दूसरा—"आखिर हमारे दिल-बहलाव का भी तो कोई सामान होना चाहिए।"

तीसरा—"भगवान ने आप ही भेज दिया। बिल्ली के भागों छींका टूटा।"

इधर तो यह मिसकौट हो रही थी, उधर सुभागी सूरदास से कह रही थी—"तुम्हारे ऊपर दावा हो रहा है।"

सूरदास ने घबराकर पूछा—"कैसा दावा?"

सुभागी—"मुझे भगा लाने का। गवाह ठीक किए जा रहे हैं। गाँव का तो कोई आदमी नहीं मिला, लेकिन पुतलीघर के बहुत-से मजूरे तैयार हैं। मुझसे अभी जगधर कह रहे थे, पहले गाँव के सब आदमी गवाही देने जा रहे थे।"

सूरदास—"फिर रुक कैसे गए?"

सुभागी—"जगधर ने सबको समझा-बुझाकर रोक लिया।"

सूरदास—"जगधर बड़ा भलामानुस है, मुझ पर बड़ी दया करता रहता है।"

सुभागी—"तो अब क्या होगा?"

सूरदास—"दावा करने दे, डरने की कोई बात नहीं। तू यही कह देना कि मैं भैरों के साथ न रहूँगी। कोई कारन पूछे, तो साफ़-साफ़ कह देना, वह मुझे मारता है।"

सुभागी—"लेकिन इसमें तुम्हारी कितनी बदनामी होगी!"

सूरदास—"बदनामी की चिंता नहीं, जब तक वह तुझे रखने को राजी न होगा, मैं तुझे जाने ही न दूँगा।"

सुभागी—"वह राजी भी होगा, तो उसके घर न जाऊँगी। वह मन का बड़ा मैला आदमी है, इसकी कसर जरूर निकालेगा। तुम्हारे घर से भी चली जाऊँगी।"

सूरदास—"मेरे घर से क्यों चली जायगी? मैं तो तुझे नहीं निकालता।"

सुभागी—"मेरे कारन तुम्हारी कितनी जगहँसाई होगी। मुहल्लेवालों का तो मुझे कोई डर न था। मैं जानती थी कि किसी को तुम्हारे ऊपर संदेह न होगा, और होगा भी, तो छिन-भर में दूर हो जायगा। लेकिन ये पुतलीघर के उजड्ड मजूरे तुम्हें क्या जानें। भैरों के यहाँ सब-के-सब ताड़ी पीते हैं। वह उन्हें मिलाकर तुम्हारी आबरू बिगाड़ देगा। मैं यहाँ न रहूँगी, तो उसका कलेजा ठंडा हो जायगा। बिस की गाँठ तो मैं हूँ।"

सूरदास—"जायगी कहाँ?"

सुभागी—"जहाँ उसके मुँह में कालिख लगा सकूँ, जहाँ उसकी छाती पर मूँग दल सकूँ।"

सूरदास—"उसके मुँह में कालिख लगेगी, तो मेरे मुँह में पहले ही न लग जायगी। तू मेरी बहन ही तो है।"

सुभागी—"नहीं, मैं तुम्हारी कोई नहीं हूँ। मुझे बहन-बेटी न बनाओ।"

सूरदास—"मैं कहे देता हूँ, इस घर से न जाना।"

सुभागी—"मैं अब तुम्हारे साथ रहकर तुम्हें बदनाम न करूँगी।"

सूरदास—"मुझे बदनामी कबूल है, लेकिन जब तक यह न मालूम हो जाय कि तू कहाँ जायगी, तब तक मैं तुझे जाने ही न दूँगा।"

भैरों ने रात तो किसी तरह काटी। प्रातःकाल कचहरी दौड़ा। वहाँ अभी द्वार बंद थे, मेहतर झाड़ू लगा रहे थे, अतएव वह एक वृक्ष के

नीचे ध्यान लगाकर बैठ गया। नौ बजे से अमले, बस्ते बग़ल में दबाए, आने लगे, और भैरो दौड़-दौड़कर उन्हें सलाम करने लगा। ग्यारह बजे राजा साहब इजलास पर आए, और भैरो ने मुहर्रिर से लिखाकर अपना इस्तग़ासा दायर कर दिया। संध्या-समय घर आया, तो बफलने लगा—"अब देखना हूँ, कौन माई का लाल इनकी हिमायत करता है। दोनो के मुँह में कालिख लगवाकर यहाँ से निकाल न दिया, तो बाप का नहीं।"

पाँचवें दिन सूरदास और सुभागी के नाम सम्मन आ गया। तारीख़ पड़ गई। ज्यों-ज्यों पेशी का दिन निकट आता-जाता था, सुभागी के होश उड़े जाते थे। बार-बार सूरदास से उलझती—"तुम्हीं यह सब करा रहे हो, अपनी मिट्टी ख़राब कर रहे हो, और अपने साथ मुझे भी घसीट रहे हो। मुझे चला जाने दिया होता, तो कोई तुमसे क्यों बैर ठानता। वहाँ भरी कचहरी में जाना, सबके सामने खड़ा होना मुझे ज़हर ही-सा लग रहा है। मैं उसका मुँह न देखूँगी, चाहे अदालत मुझे मार ही डाले।"

आख़िर पेशी की नियत तिथि आ गई। मुहल्ले में इस मुक़दमे की इतनी धूम थी कि लोगों ने अपने-अपने काम बंद कर दिए, और अदालत में जा पहुँचे। मिल के श्रमजीवी सैकड़ों की संख्या में गए। शहर में सूरदास को कितने ही आदमी जान गए थे। उनकी दृष्टि में सूरदास निरपराध था। हज़ारों आदमी कुतूहल-वश अदालत में आए; प्रभु सेवक पहले ही पहुँच चुके थे, इंदु रानी और इंद्रदत्त भी मुक़द्दमा पेश होते-होते आ पहुँचे। अदालत में यों ही क्या कम भीड़ रहती है, और छो का आना तो मंदर में वज्र का आना है। अदालत में एक बाज़ार-सा लगा हुआ था। इजलास पर दो महाशय विराजमान थे—एक तो चतारी के राजा साहब, दूसरे एक मुसलमान, जिन्होंने योरपीय महासमर में रँगरूट भरती करने में बड़ा उत्साह दिखाया था। भैरो की तरफ़ से एक वकील भी था।

भैरों का बयान हुआ। गवाहों का बयान हुआ। तब उसके वकील ने उनसे अपना पक्ष-समर्थन करने के लिये जिरह की।

तब सूरदास का बयान हुआ। उसने कहा—"मेरे साथ इधर कुछ दिनों से भैरों की घरवाली रहती है। मैं किसी को क्या खिलाऊँ-पिलाऊँगा, पालनेवाला भगवान है। वह मेरे घर में रहती है, अगर भैरों उसे रखना चाहे, और वह रहना चाहे, तो आज चली जाय, यही तो मैं चाहता हूँ। इसीलिये मैंने उसे अपने यहाँ रक्खा है, नहीं तो न-जाने कहाँ होती।"

भैरों के वकील ने मुस्किराकर कहा—"सूरदास, तुम बड़े उदार मालूम होते हो; लेकिन युवती सुंदरियों के प्रति उदारता का कोई महत्त्व नहीं रहता।"

सूरदास—"इसी से न यह मुकदमा चला है। मैंने कोई बुराई नहीं की। हाँ, संसार जो चाहे, समझे। मैं तो भगवान को जानता हूँ। वही सबकी करनी का देखनेवाला है। अगर भैरों उसे अपने घर न रक्खेगा, और न सरकार कोई ऐसी जगह बतावेगी, जहाँ यह औरत इज्जत-आबरू के साथ रह सके, तो मैं उसे अपने घर से निकलने न दूँगा। वह निकलना भी चाहेगी, तो न जाने दूँगा। इसने तो जबसे इस मुकदमे की खबर सुनी है, यही कहा करती है कि मुझे जाने दो, पर मैं उसे जाने नहीं देता।"

वकील—"साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते कि मैंने उसे रख लिया है।"

सूरदास—"हाँ, रख लिया है, जैसे भाई अपनी बहन को रख लेता है, बाप बेटी को रख लेता है। अगर सरकार ने उसे जबरदस्ती मेरे घर से निकाल दिया, तो उसकी आबरू की जिम्मेदारी उसी के सिर होगी।"

सुभागी का बयान हुआ—"भैरों मुझे बेकसूर मारता है, गालियाँ देता है। मैं उसके साथ न रहूँगी। सूरदास भला आदमी है, इसीलिये

उसके पास रहती हूँ। भैरों यह नहीं देख सकता, सूरदास के घर से मुझे निकालना चाहता है।"

वकील—"तू पहले भी सूरदास के घर आती-जाती थी?"

सुभागी—"जभी अपने घर मार खाती थी, तभी जान बचाकर उसके घर भाग जाती थी। वह मेरे आड़े आ जाता था। मेरे कारन उसके घर में आग लगी, मार पड़ी, कौन-कौन सी दुर्गत नहीं हुई। अदालत की कसर थी, वह भी पूरी हो गई।"

राजा—"भैरों, तुम अपनी औरत को रक्खोगे?"

भैरों—"हाँ सरकार, रक्खूँगा।"

राजा—"मारोगे तो नहीं?"

भैरों—"कुचाल न चलेगी, तो क्यों मारूँगा।"

राजा—"सुभागी, तू अपने आदमी के घर क्यों नहीं जाती? वह तो कह रहा है, न मारूँगा।"

सुभागी—"उस पर मुझे विश्वास नहीं। आज ही मार-मारकर बेहाल कर देगा।"

वकील—"हुजूर, मुआमला साफ़ है, अब मजीद सबूत की जरूरत नहीं रही। सूरदास पर जुर्म साबित हो गया।"

अदालत ने फ़ैसला सुना दिया—"सूरदास पर २००) जुर्माना, और जुर्माना न अदा करे, तो ६ महीने की कड़ी क़ैद। सुभागी पर १००) जुर्माना, जुर्माना न दे सकने पर ३ महीने की कड़ी क़ैद। हरज वसूल हो तो भैरों को दिए जायँ।

दर्शकों में इस फ़ैसले पर आलोचनाएँ होने लगीं।

एक—"मुझे तो सूरदास बेकसूर मालूम होता है।"

दूसरा—"सब राजा साहब की कारस्तानी है। सूरदास ने ज़मीन के बारे में उन्हें बदनाम किया था न। यह उसी की कसर निकाली गई है।"

ये हमारे [illegible] लोगों के हक है।"

तीसरा—"औरत तो चरबाँक नहीं मालूम होती।"

चौथा—"भरी अदालत में बातें कर रही है, चरबाँक नहीं, तो और क्या है?"

पाँचवाँ—"वह तो यही कहती है कि मैं भैरों के पास न रहूँगी।'

सहसा सूरदास ने उच्च स्वर से कहा—"मैं इस फ़ैसले की अपील करूँगा।"

वकील—"इस फ़ैसले की अपील नहीं हो सकती।"

सूरदास—"मेरी अपील पंचों से होगी। एक आदमी के कहने से मैं अपराधी नहीं हो सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा आदमी हो। हाकिम ने सजा दे दी, सजा काट लूँगा; पर पंचों का फ़ैसला भी सुन लेना चाहता हूँ।"

यह कहकर उसने दर्शकों की ओर मुँह फेरा, और मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा—"दुहाई है पंचो, आप इतने आदमी जमा हैं। आप लोगों ने भैरों और उसके गवाहों के बयान सुने, मेरा और सुभागी का बयान सुना, हाकिम का फ़ैसला भी सुन लिया। अब आप लोगों से मेरी बिनती है कि क्या आप भी मुझे अपराधी समझते हैं? क्या आपको विश्वास आ गया कि मैंने सुभागी को बहकाया, और अब अपनी स्त्री बनाकर रक्खे हुए हूँ? अगर आपको विश्वास आ गया है, तो मैं इसी मैदान में सिर झुकाकर बैठता हूँ, आप लोग मुझे पाँच-पाँच लात मारें। अगर मैं लात खाते-खाते मर भी जाऊँ, तो मुझे दुःख न होगा। ऐसे पापी का यही दंड है। कैद से क्या होगा! और अगर आपकी समझ में बेकसूर हूँ, तो पुकारकर कह दीजिए, *हम तुझे निरपराध समझते हैं।* फिर मैं कड़ी-से-कड़ी कैद भी हँसकर काट लूँगा।"

अदालत के कमरे में सन्नाटा छा गया। राजा साहब, वकील, अमले, दर्शक, सब-के-सब चकित हो गए। किसी को होश न रहा कि इस समय क्या करना चाहिए। सिपाही दर्जनों थे, पर चित्र-लिखित-से खड़े थे।

परिस्थिति ने एक विचित्र रूप धारण कर लिया था, जिसकी अदालत के इतिहास में कोई उपमा न थी। शत्रु ने ऐसा छापा मारा था कि उसकी प्रतिपक्षी सेना का पूर्व-निश्चित क्रम भंग हो गया।

सबसे पहले राजा साहब सँभले। हुक्म दिया, इन्हें बाहर ले जाओ। सिपाहियों ने दोनो अभियुक्तों को घेर लिया, और अदालत के बाहर ले चले। हज़ारों दर्शक पीछे-पीछे चले।

कुछ दूर चलकर सूरदास ज़मीन पर बैठ गया, और बोला—"मैं पंचों का हुक्म सुनकर तभी आगे जाऊँगा।"

अदालत के बाहर अदालत की मर्यादा-भंग होने का भय न था। कई हज़ार कंठों से ध्वनि उठी—"तुम बेकसूर हो, हम सब तुम्हें बेक़सूर समझते हैं।"

इंद्रदत्त—"अदालत बेईमान है!"

कई हज़ार आवाज़ों ने दुहराया—"हाँ, अदालत बेईमान है!"

इंद्रदत्त—"अदालत नहीं है, दीनों की बलि-वेदी है।"

कई हज़ार कंठों से प्रतिध्वनि निकली—"अमीरों के हाथ में अत्याचार का यंत्र है!"

चौकीदारों ने देखा, प्रतिक्षण भीड़ बढ़ती और लोग उत्तेजित होते जाते हैं, तो लपककर एक बग्घीवाले को पकड़ा, और दोनो को उसमें बैठाकर ले चले। लोगों ने कुछ दूर तक तो गाड़ी का पीछा किया, उसके बाद अपने-अपने घर लौट गए।

इधर भैरों अपने गवाहों के साथ घर चला, तो राह में अदालत के अरदली ने घेरा। उसे दो रुपए निकालकर दिए। दूकान में पहुँचते ही मटके खुल गए, और ताड़ी के दौर चलने लगे। बुढ़िया पकौड़ियाँ और पूरियाँ पकाने लगी।

एक बोला—"भैरों, यह बात ठीक नहीं, तुम भी बैठो, पियो और पिलाओ। हम-तुम बद-बदकर पिएँ।"

दूसरा—"आज इतनी पियूँगा कि चाहे यहीं ढेर हो जाऊँ। भैरों, यह कुल्हड़ भर-भर क्या देते हो, हाँडी ही बढ़ा दो।"

भैरों—"अजी, मटके में मुँह डाल दो, हाँडी-कुल्हड़ की क्या बिसात है! आज मुद्दई का सिर नीचा हुआ है।"

तीसरा—"दोनो हिरासत में पड़े रो रहे होंगे। मगर भई, सूरदास को सजा हो गई, तो क्या, वह है बेकसूर।"

भैरों—"आ गए तुम भी उसके धोखे में। इसी स्वाँग की तो वह रोटी खाता है। देखो, बात-की-बात में कैसा हजारों आदमियों का मन फेर दिया।"

चौथा—"उसे किसी देवता का इष्ट है।"

भैरों—"इष्ट तो तब जानें कि जेहल से निकल आए।"

पहला—"मैं बदकर कहता हूँ, वह कल जरूर जेहल से निकल आएगा।"

दूसरा—"बुढ़िया, पकौड़ियाँ ला।"

तीसरा—"अबे, बहुत न पी, नहीं मर जायगा। है कोई घर पर रोनेवाला?"

चौथा—"कुछ गाना हो, उतारो ढोल-मँजीरा।"

सबों ने ढोल-मँजीरा सँभाला, और खड़े होकर गाने लगे—

"छत्तीसी, क्या नैना झमकावे!"

थोड़ी देर में एक बुड्ढा मिस्त्री उठकर नाचने लगा। बुढ़िया से अब न रहा गया। उसने भी घूँघट निकाल लिया, और नाचने लगी। शूद्रों में नृत्य और गान स्वाभाविक गुण हैं, सीखने की ज़रूरत नहीं। बुड्ढा और बुढ़िया, दोनो अश्लील भाव से कमर हिला-हिलाकर थिरकने लगे। उनके अंगों की चपलता आश्चर्यजनक थी।

भैरों—"मुहल्लेवाले समझते थे, मुझे गवाह ही न मिलेंगे।"

एक—"सब गीदड़ हैं गीदड़।"

भैरों—"चलो, ज़रा सबों के मुँह में कालिख लगा आएँ।"

सब-के-सब चिल्ला उठे—"हाँ-हाँ, नाच होता चले।"

एक क्षण में जुलूस चला। सब-के-सब नाचते-गाते, ढोल पीटते, ऊल-जलूल बकते, हू हा करते, लड़खड़ाते हुए चले। पहले बजरंगी का घर मिला। यहाँ सब रुक गए, और गाया—

"ग्वालिन की गैया हिरानी, तब दूध मिलावै पानी।"

रात ज़्यादा भीग चुकी थी, बजरंगी के द्वार बंद थे। लोग यहाँ से ठाकुरदीन के द्वार पर पहुँचे, और गाया—

"तमोलिन के नैना रसीले, यारों से नजर मिलावै।"

ठाकुरदीन भोजन कर रहा था, पर डर के मारे बाहर न निकला। जुलूस आगे बढ़ा, तो सूरदास की झोपड़ी मिली।

भैरों बोला—"बस, यहीं डट जाओ।"

"ढोल-ढीली पड़ गई।"

"सेंको, सेंको। झोपड़े में से फूस ले लो।"

एक आदमी ने थोड़ा-सा फूस निकाला, दूसरे ने और ज़्यादा निकाला, तीसरे ने एक बोझ खींच लिया। फिर क्या था, नशे की सनक मशहूर ही है, एक ने जलता हुआ फूस झोपड़ी पर डाल दिया, और बोला—"होली है होली है!" कई आदमियों ने कहा—"होली है, होली है!"

भैरों—"यारो, यह तुम लोगों ने बुरा किया। भाग चलो, नहीं तो धर लिए जाओगे।"

भय नशे में भी हमारा पीछा नहीं छोड़ता। सब-के-सब भागे।

इधर ज्वाला प्रचंड हुई, तो मुहल्ले के लोग दौड़ पड़े। लेकिन फूस की आग किसके बस की थी। झोपड़ा जल रहा था, और लोग खड़े दुःख और क्रोध की बातें कर रहे थे।

ठाकुरदीन—"मैं तो भोजन पर बैठा, तभी सबों को आते देखा।"

बजरंगी—"ऐसा जी चाहता है कि जाकर भैरों को मारते-मारते बेदम कर दूँ।"

जगधर—"जब तक एक दफे अच्छी तरह मार न खा जायगा, इसके सिर से भूत न उतरेगा।"

बजरंगी—"हाँ, अब यही होगा। घिसुआ, जरा लाठी तो निकाल ला। आज दो-चार खून हो जायँगे, तभी आग बुझेगी।"

जमुनी—"तुम्हें क्या पड़ी है, चलकर लेटो। जो जैसा करेगा, उसका फल आप भगवान से पाएगा।"

बजरंगी—"भगवान चाहे फल दें, या न दें, पर मैं तो अब नहीं मानता, जैसे देह में आग लगी हुई है।"

जगधर—"आग लगने की बात ही है। ऐसे पापी का तो सिर काट लेना भी पाप नहीं है।"

ठाकुरदीन—"जगधर, आग पर तेल छिड़कना अच्छी बात नहीं। अगर तुमको भैरों से वैर है, तो आज जाकर उसे क्यों नहीं ललकारते, दूसरों को क्यों उकसाते हो? यही चाहते हो कि ये दोनों लड़ मरें, और मैं तमासा देखूँ। हो बड़े नीच!"

जगधर—"अगर कोई बात कहना उकसाना है, तो लो, चुप रहूँगा।"

ठाकुरदीन—"हाँ, चुप रहना ही अच्छा है। तुम भी जाकर सोओ बजरंगी! भगवान आप पापी को दंड देंगे। उन्होंने तो रावन-जैसे प्रतापी को न छोड़ा, यह किस खेत की मूली है! यह अंधेर उनसे भी न देखा जायगा।"

बजरंगी—"मारे घमंड के पागल हो गया है। चलो जगधर, जरा इन सबों से दो-दो बातें कर लें।"

जगधर—"न भैया, मुझे साथ न ले जाओ। कौन जाने, वहाँ मार-पीट हो जाय, तो सारा इलजाम मेरे सिर जाय कि इसी ने लड़ा दिया। मैं तो आप झगड़े से कोसों दूर रहता हूँ।"

इतने में मिठुआ दौड़ा हुआ आया। बजरंगी ने पूछा—"कहाँ सोया था रे?"

मिट्ठू—"पंडाजी की दालान में तो। अरे, यह तो मेरी झोपड़ी जल रही है! किसने आग लगाई?"

ठाकुरदीन—"इतनी देर में जागे हो! सुन नहीं रहे हो, गाना-बजाना हो रहा है?"

मिट्ठू—"भैरों ने लगाई है क्या? अच्छा बचा, समझूँगा।"

जब लोग अपने-अपने घर लौट गए, तो मिठुआ धीरे-धीरे भैरों की दूकान की तरफ़ गया। महफ़िल उठ चुकी थी। अँधेरा छाया हुआ था। जाड़े की रात, पत्ता तक न खड़कता था। दूकान के द्वार पर उपले जल रहे थे। ताड़ीख़ानों में आग कभी नहीं बुझती, पारसी पुरोहित भी इतनी सावधानी से आग की रक्षा न करता होगा। मिठुआ ने एक जलता हुआ उपला उठाया, और दूकान के छप्पर पर फेक दिया। छप्पर में आग लग गई, तो मिठुआ बगटुट भागा, और पंडाजी की दालान में मुँह ढाँपकर सो रहा, मानो उसे कुछ ख़बर ही नहीं। ज़रा देर में ज्वाला प्रचंड हुई, सारा मुहल्ला आलोकित हो गया, चिड़ियाँ वृक्षों पर से उड़-उड़कर भागने लगीं, पेड़ों की डालें हिलने लगीं, तालाब का पानी सुनहरा हो गया, और बाँसों की गाँठें ज़ोर-ज़ोर से चिटकने लगीं। आध घंटे तक लंकादहन होता रहा, पर यह सारा शोर वन्य रोदन के सदृश था। दूकान बस्ती से हटकर थी। भैरों नशे में बेसुध पड़ा था, बुढ़िया नाचते-नाचते थक गई थी। और कौन था, जो इस वक़्त आग बुझाने जाता? अग्नि ने निर्विघ्न अपना काम समाप्त किया। मटके टूट गए, ताड़ी बह गई। जब ज़रा आग ठंडी हुई, तो कई कुत्तों ने आकर वहाँ विश्राम किया।

प्रातःकाल भैरों उठा, तो दूकान सामने न दिखाई दी। दूकान और उसके घर के बीच में दो फ़रलांग का अंतर था, पर कोई वृक्ष न होने के कारण दूकान साफ़ नज़र आती थी। उसे विस्मय हुआ, दूकान कहाँ

गई ! ज़रा और आगे बढ़ा, तो राख का ढेर दिखाई दिया। पाँव-तले से मिट्टी निकल गई। दौड़ा। दूकान में ताड़ी के सिवा बिक्री के रुपए भी थे। ढोल-मँजीरा भी वहीं रक्खा रहता था। प्रत्येक वस्तु जलकर राख हो गई। मुहल्ले के लोग उधर तालाब में मुँह-हाथ धोने जाया करते थे। सब आ पहुँचे। दूकान सड़क पर थी। पथिक भी खड़े हो गए। मेला लग गया।

भैरों ने रोकर कहा—"मैं तो मिट्टी में मिल गया।"

ठाकुरदीन—"भगवान की लीला है। उधर वह तमाशा दिखाया, इधर यह तमाशा दिखाया। धन्य हो महाराज !"

बजरंगी—"किसी मिस्त्री की सरारत होगी। क्यों भैरों, किसी से अदावत तो नहीं थी ?"

भैरों—"अदावत सारे मुहल्ले से है, किससे नहीं है। मैं जानता हूँ, जिसकी यह बदमासी है। बँधवा न दिया, तो कहना। अभी एक को लिया है, अब दूसरे की पारी है।"

जगधर दूर ही से आनंद ले रहा था। निकट न आया कि कहीं भैरों कुछ कह न बैठे, तो बात बढ़ जाय। ऐसा हार्दिक आनंद उसे अपने जीवन में कभी न प्राप्त हुआ था।

इतने में मिल के कई मज़दूर आ गए। काला मिस्त्री बोला—"भाई, कोई माने या न माने, मैं तो यही कहूँगा कि अंधे को किसी का इष्ट है।"

ठाकुरदीन—"इष्ट क्यों नहीं है। मैं बराबर यही कहता आता हूँ। उससे जिसने वैर ठाना, उसने नीचा देखा।"

भैरों—"उसके इष्ट को मैं जानता हूँ। जरा थानेदार आ जायँ, तो बता दूँ, कौन इष्ट है।"

बजरंगी जलकर बोला—"अपनी बेर कैसी सूझ रही है ! क्या वह झोपड़ा न था, जिसमें पहले आग लगी। ईंट का जवाब पत्थर मिलता

ही है। जो किसी के लिये गढ़ा खोदेगा, उसके लिये कुआँ तैयार है। क्या उस झोपड़े में आग लगाते समय समझे थे कि सूरदास का कोई है ही नहीं?"

भैरों—"उसके झोपड़े में मैंने आग लगाई?"

बजरंगी—"और किसने लगाई?"

भैरों—"झूठे हो!"

ठाकुरदीन—"भैरों, क्यों सीनेजोरी करते हो! तुमने लगाई या तुम्हारे किसी यार ने लगाई, एक ही बात है। भगवान ने उसका बदला चुका दिया, तो रोते क्यों हो?"

भैरों—"सब किसी से समझूँगा।"

ठाकुरदीन—"यहाँ कोई तुम्हारा दबैल नहीं है।"

भैरों ओठ चबाता हुआ चला गया। मानव-चरित्र कितना रहस्यमय है! हम दूसरों का अहित करते हुए ज़रा भी नहीं झिझकते, किंतु जब दूसरों के हाथों हमें कोई हानि पहुँचती है, तो हमारा ख़ून खौलने लगता है।

---

[३२]

सूरदास के मुकदमे का फ़ैसला सुनने के बाद इंद्रदत्त चले, तो रास्ते में प्रभु सेवक से मुलाक़ात हो गई। बातें होने लगीं।

इंद्रदत्त—"तुम्हारा क्या विचार है, सूरदास निर्दोष है या नहीं?"

प्रभु सेवक—"सर्वथा निर्दोष। मैं तो आज उसकी साधुता का क़ायल हो गया। फ़ैसला सुनाने के वक़्त तक मुझे विश्वास था कि अंधे ने ज़रूर इस औरत को बहकाया है, मगर उसके अंतिम शब्दों ने जादू का-सा असर किया। मैं तो इस विषय पर एक कविता लिखने का विचार कर रहा हूँ।"

इंद्रदत्त—"केवल कविता लिख डालने से काम न चलेगा। राजा साहब की पीठ में धूल लगानी पड़ेगी। उन्हें यह संतोष न होने देना चाहिए कि मैंने अंधे से चक्की पिसवाई। वह समझ रहे होंगे कि अंधा रुपए कहाँ से लाएगा! दोनो पर ३००) जुर्माना हुआ है, हमें किसी तरह जुर्माना आज ही अदा करना चाहिए। सूरदास जेल से निकले, तो सारे शहर में उसका जुलूस निकालना चाहिए। इसके लिये २००) की और ज़रूरत होगी। कुल ५००) हों, तो काम चल जाय। बोलो, क्या देते हो?"

प्रभु सेवक—"जो उचित समझो, लिख लो।"

इंद्रदत्त—"तुम ५०) बिना किसी कष्ट के दे सकते हो?"

प्रभु सेवक—"और तुमने अपने नाम कितना लिखा है?"

इंद्रदत्त—"मेरी हैसियत १०) से अधिक देने की नहीं। रानी जाह्नवी से १००) ले लूँगा। कुँवर साहब ज़्यादा नहीं, तो १०) दे ही देंगे। जो कुछ कमी रह जायगी, वह दूसरों से माँग ली जायगी। संभव है, डॉक्टर गंगुली सब रुपए ख़ुद ही दे देंगे, किसी से माँगना ही न पड़े।"

प्रभु सेवक—"सूरदास के मुहल्लेवालों से भी कुछ मिल जायगा।"

इंद्रदत्त—"उसे सारा शहर जानता है, उसके नाम पर दो-चार हज़ार रुपए मिल सकते हैं ; इस पर छोटी-सी रक़म के लिये मैं दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहता।"

यों बातें करते हुए दोनो आगे बढ़े कि सहसा इंदु अपनी फ़िटन पर आती हुई दिखाई दी। इंद्रदत्त को देखकर रुक गई, और बोली—"तुम कब लौटे ? मेरे यहाँ नहीं आए !"

इंद्रदत्त—"आप आकाश पर हैं, मैं पाताल में हूँ, क्या बातें हों !"

इंदु—"आओ, बैठ जाओ, तुमसे बहुत-सी बातें करनी हैं।"

इंद्रदत्त फ़िटन पर जा बैठा। प्रभु सेवक ने जेब से ५०) का एक नोट निकाला, और चुपके से इंद्रदत्त के हाथ में रखकर क्लब को चल दिए।

इंद्रदत्त—"अपने दोस्तों से भी कहना।"

प्रभु सेवक—"नहीं भई, मैं इस काम का नहीं हूँ। मुझे माँगना नहीं आता। कोई देता भी होगा, तो मेरी सूरत देखकर मुट्ठी बंद कर लेगा।"

इंद्रदत्त—(इंदु से) "आज तो यहाँ ख़ूब तमाशा हुआ।"

इंदु—"मुझे तो ड्रामा का-सा आनंद मिला। सूरदास के विषय में तुम्हारा क्या ख़याल है ?"

इंद्रदत्त—"मुझे तो वह निष्कपट, सच्चा, सरल मनुष्य मालूम होता है।"

इंदु—"बस-बस, यही मेरा भी विचार है। मैं समझती हूँ, उसके साथ अन्याय हुआ। फ़ैसला सुनाते वक़्त तक मैं उसे अपराधी समझती थी, पर उसकी अपील ने मेरे विचार में कायापलट कर दी। मैं अब तक उसे मक्कार, धूर्त, रँगा हुआ सियार समझती थी। उन दिनों उसने हम लोगों को कितना बदनाम किया ! तभी से मुझे उससे घृणा हो गई थी। मैं उसे मज़ा चखाना चाहती थी। लेकिन आज ज्ञात हुआ कि मैंने उसके

चरित्र के समझने में भूल की। वह अपनी धुन का पक्का, निर्भीक, निःस्पृह, सत्यनिष्ठ आदमी है, किसी से दबना नहीं जानता।"

इंद्रदत्त—"तो इस सहानुभूति को क्रिया के रूप में भी लाइएगा? हम लोग आपस में चंदा करके जुर्माना अदा कर देना चाहते हैं। आप भी इस सत्कार्य में योग देंगी?"

इंदु ने मुस्किराकर कहा—"मैं मौखिक सहानुभूति ही काफ़ी समझती हूँ।"

इंद्रदत्त—"आप ऐसा करेंगी, तो मेरा यह विचार पुष्ट हो जायगा कि हमारे रईसों में नैतिक बल नहीं रहा। हमारे राव-रईस हरएक उचित और अनुचित कार्य में अधिकारियों की सहायता करते रहते हैं, इसीलिये जनता का उन पर से विश्वास उठ गया है। वह उन्हें अपना मित्र नहीं, शत्रु समझती है। मैं नहीं चाहता कि आपकी गणना भी उन्हीं रईसों में हो। कम-से-कम मैंने आपको अब तक उन रईसों से अलग समझा है।"

इंदु ने गंभीर भाव से कहा—"इंद्रदत्त, मैं ऐसा क्यों कर रही हूँ, इसका कारण तुम जानते हो। राजा साहब सुनेंगे, तो उन्हें कितना दुःख होगा! मैं उनसे छिपाकर कोई काम नहीं करना चाहती।"

इंद्रदत्त—"राजा साहब से इस विषय में अभी मुझसे बातचीत नहीं हुई। लेकिन मुझे विश्वास है कि उनके भाव भी हमीं लोगों-जैसे होंगे। उन्होंने इस वक्त, क़ानूनी फ़ैसला किया है। सच्चा फ़ैसला उनके हृदय ने किया होगा। कदाचित् उनकी तरह न्याय-पद पर बैठकर मैं भी वही फ़ैसला करता, जो उन्होंने किया है। लेकिन वह मेरे ईमान का फ़ैसला नहीं, केवल क़ानून का विधान होता। मेरी उनसे घनिष्ठता नहीं है, नहीं तो उनसे भी कुछ-कुछ ले मरता। उनके लिये भागने का कोई रास्ता नहीं था।"

इंदु—"संभव है, राजा साहब के विषय में तुम्हारा अनुमान सत्य हो। मैं आज उनसे पूछूँगी।"

इंद्रदत्त—"पूछिए, लेकिन मुझे भय है कि राजा साहब इतनी आसानी से न खुलेंगे।"

इंदु—"तुम्हें भय है, और मुझे विश्वास है। लेकिन यह जानती हूँ कि हमारे मनोभाव समान दशाओं में एक-से होते हैं, इसलिये आपको इंतज़ार के कष्ट में नहीं डालना चाहती। यह लीजिए, यह मेरी तुच्छ भेट है।"

यह कहकर इंदु ने एक सावरेन निकालकर इंद्रदत्त को दे दिया।

इंद्रदत्त—"इसे लेते हुए शंका होती है।"

इंदु—"किस बात की?"

इंद्रदत्त—"कि कहीं राजा साहब के विचार कुछ और ही हों।"

इंदु ने गर्व से सिर उठाकर कहा—"इसकी कुछ परवा नहीं।"

इंद्रदत्त—"हाँ, इस वक्त आपने रानियों की-सी बात कही। यह सावरेन सूरदास के नैतिक विजय का स्मारक है। आपको अनेक धन्यवाद! अब मुझे आज्ञा दीजिए। अभी बहुत चक्कर लगाना है। जुर्माने के अतिरिक्त और जो कुछ मिल जाय, उसे भी नहीं छोड़ना चाहता।"

इंद्रदत्त उतरकर जाना ही चाहते थे कि इंदु ने जेब से दूसरा सावरेन निकालकर कहा—"यह लो, शायद इससे तुम्हारे चक्कर में कुछ कमी हो जाय।"

इंद्रदत्त ने सावरेन जेब में रक्खा, और खुश-खुश चले। लेकिन इंदु कुछ चिंतित-सी हो गई। उसे विचार आया—"कहीं राजा साहब वास्तव में सूरदास को अपराधी समझते हों, तो मुझे ज़रूर आड़े हाथों लेंगे। खैर, होगा, मैं इतना दबना भी नहीं चाहती। मेरा कर्तव्य है सत्कार्य में उनसे दबना। अगर कुविचार में पड़कर वह प्रजा पर अत्याचार करने लगें, तो मुझे उनसे मतभेद रखने का पूरा अधिकार है। बुरे कामों में उनसे दबना मनुष्य के पद से गिर जाना है। मैं पहले मनुष्य हूँ, पत्नी, भ्राता, बहन, बेटी पीछे।"

इंदु इन्हीं विचारों में मग्न थी कि मि० जॉन सेवक और उनकी स्त्री मिल गईं।

जॉन सेवक ने टोप उतारा। मिसेज़ सेवक बोलीं—"हम लोग तो आप ही की तरफ़ जा रहे थे। इधर कई दिन से मुलाक़ात न हुई थी। जी लगा हुआ था। अच्छा हुआ, राह ही में मिल गईं।"

इंदु—"जी नहीं, मैं राह में नहीं मिली। यह देखिए, जाती हूँ; आप जहाँ जाती हैं, वहीं जाइए।"

जॉन सेवक—"मैं तो हमेशा Compromise पसंद करता हूँ। यह आगे पार्क आता है। आज बैंड भी होगा, वहीं जा बैठें।"

इंदु—"वह Compromise पक्षपात-रहित तो नहीं है, लेकिन ख़ैर!"

पार्क में तीनो आदमी उतरे, और कुर्सियों पर जा बैठे। इंदु ने पूछा—"सोफ़िया का कोई पत्र आया था?"

मिसेज़ सेवक—"मैंने तो समझ लिया कि वह मर गई। मि० क्लार्क-जैसा आदमी उसे न मिलेगा। जब तक यहाँ रही, टालमटोल करती रही। वहाँ जाकर विद्रोहियों से मिल बैठी। न-जाने उसकी तक़दीर में क्या है। क्लार्क से संबंध न होने का दुख मुझे हमेशा रुलाता रहेगा।"

जॉन सेवक—"मैं तुमसे हज़ार बार कह चुका, वह किसी से विवाह न करेगी। वह दांपत्य जीवन के लिये बनाई ही नहीं गई। वह आदर्श-वादिनी है, और आदर्शवादी सदैव आनंद के ही स्वप्न देखा करता है, उसे आनंद की प्राप्ति नहीं होती। अगर कभी विवाह करेगी भी, तो कुँवर विनयसिंह से।"

मिसेज़ सेवक—"तुम मेरे सामने कुँवर विनयसिंह का नाम न लिया करो। क्षमा कीजिएगा, रानी इंदु, मुझे ऐसे बेजोड़ और अस्वाभाविक विवाह पसंद नहीं।"

जॉन सेवक—"पर ऐसे बेजोड़ और अस्वाभाविक विवाह कभी-कभी हो जाते हैं।"

मिसेज़ सेवक—"मैं तुमसे कहे देती हूँ, और रानी इंदु, आप गवाह रहिएगा कि सोफ़ी की शादी कभी विनयसिंह से न होगी।"

जॉन सेवक—"आपका इस विषय में क्या विचार है रानी इंदु? दिल की बात कहिएगा।"

इंदु—"मैं समझती हूँ, लेडी सेवक का अनुमान सत्य है। विनय को सोफ़ी से कितना ही प्रेम हो, पर वह माताजी की इतनी उपेक्षा न करेंगे। माताजी-सी दुखी स्त्री आज संसार में न होगी। ऐसा मालूम होता है, उन्हें जीवन में अब कोई आशा ही नहीं रही। नित्य गुमसुम रहती हैं। अगर किसी ने भूलकर भी विनय का ज़िक्र छेड़ दिया, तो मारे क्रोध के उनकी त्योरियाँ बदल जाती हैं। अपने कमरे से विनय का चित्र उतरवा डाला है। उनके कमरे का द्वार बंद करा दिया है, न कभी आप उसमें जाती हैं, न और किसी को जाने देती हैं, और मिस सोफ़िया का नाम लेना तो उन्हें चुटकी काट लेने के बराबर है। पिताजी को भी स्वयंसेवकों की संस्था से अब कोई प्रेम नहीं रहा। जातीय कामों से उन्हें कुछ अरुचि हो गई है। अहा! आज बहुत अच्छी साइत में घर से चली थी। वह डॉक्टर गंगुली चले आ रहे हैं। कहिए, डॉक्टर साहब, शिमले से कब लौटे?"

गंगुली—"सरदी पड़ने लगी। अब वहाँ से सब कोई कूच हो गया। हम तो अभी आपकी माताजी के पास गया था। कुँवर विनयसिंह के हाल पर उनको बड़ा दुख है।"

जॉन सेवक—"अब की तो आपने काउंसिल में धूम मचा दी।"

गंगुली—"हाँ, अगर वहाँ भाषण करना, प्रश्न करना, बहस करना काम है, तो आप हमारा जितना बड़ाई करना चाहता है, करे; पर मैं उसे काम नहीं समझता, यह तो पानी चारना है। काम उसको कहना चाहिए,

जिससे देश और जाति का कुछ उपकार हो। ऐसा तो हमने कोई काम नहीं किया। हमारा तो अब वहाँ मन नहीं लगता। पहले तो सब आदमी एक नहीं होता, और कभी हो भी गया, तो गवर्नमेंट हमारा प्रस्ताव खारिज कर देता है। हमारा मेहनत खराब हो जाता है। यह तो लड़कों का खेल है, हमको नए कानून से बड़ी आशा थी, पर तीन-चार साल उसका अनुभव करके देख लिया कि इससे कुछ नहीं होता। हम जहाँ तब था, वहीं अब भी है। मिलिटरी का खरच बढ़ता जाता है; उस पर कोई शंका करे, तो सरकार बोलता है, आपको ऐसा बात नहीं कहना चाहिए। बजट बनाने लगता है, तो हरएक आइटेम में दो-चार लाख ज्यादा लिख देता है। हम काउंसिल में जब जोर देता है, तो हमारा बात रखने के लिये वही फालतू रुपया निकाल देता है। मेंबर खुशी के मारे फूल जाता है—हम जीत गया, हम जीत गया! पूछो, तुम क्या जीत गया? तुम क्या जीतेगा? तुम्हारे पास जीतने का साधन ही नहीं है, तुम कैसे जीत सकता है? कभी हमारे बहुत जोर देने पर किफायत किया जाता है, तो हमारे ही भाइयों का नुकसान होता है। जैसे अब की हमने पुलीस-विभाग में ५ लाख काट दिया। मगर यह कमी बड़े-बड़े हाकिमों के भत्ते या तलब में नहीं किया गया बिचारा चौकीदार, कांसटेबल, थानेदार का तलब घटावेगा, जगह तोड़ेगा। इससे अब किफायत का बात कहते हुए भी डर लगता है कि इससे हमारे ही भाइयों का गरदन कटता है। सारा काउंसिल जोर देता रहा कि बंगाल की बाढ़ के सताए हुए आदमियों के सहायतार्थ २० लाख मंजूर किया जाय; सारा काउंसिल कहता रहा कि मि० क्लार्क का उदयपूर से बदली कर दिया जाय, पर सरकार ने मंजूर नहीं किया। काउंसिल कुछ नहीं कर सकता। एक पत्ती तक नहीं तोड़ सकता। जो आदमी काउंसिल को बना सकता है, वही उसको बिगाड़ भी सकता है। भगवान जिलाता है, तो भगवान ही मारता है। काउंसिल को सरकार बनाता है, और वह सरकार की मुट्ठी में है। जब जाति द्वारा

काउंसिल बनेगा, तब उससे देस का कल्यान होगा। यह सब जानता है, पर कुछ न करने से तो कुछ करते रहना अच्छा है। मरना भी मरना है, और खाट पर पड़े रहना भी मरना है; लेकिन एक अवस्था में कोई आशा नहीं रहता, दूसरी अवस्था में कुछ आशा रहता है। बस, इतना ही अंतर है, और कुछ नहीं।"

इंदु ने छेड़कर पूछा—"जब आप जानते हैं कि वहाँ जाना व्यर्थ है, तो क्यों जाते हैं? क्या आप बाहर रहकर कुछ नहीं कर सकते?"

गंगुली—(हँसकर) "वही तो बात है इंदुरानी, हम खाट पर पड़ा है, हिल नहीं सकता, बात नहीं कर सकता, खा नहीं सकता, लेकिन बाबा, यमराज को देखकर हम तो उठ भागेगा, रोएगा कि महाराज, कुछ दिन और रहने दो। हमारा जिंदगी काउंसिल में गुजर गया, अब हमको कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखाई देता।"

इंदु—"मैं तो ऐसी ज़िंदगी से मर जाना बेहतर समझूँ। कम-से-कम यह तो आशा होगी कि कदाचित् आनेवाला जीवन इससे अच्छा हो।"

गंगुली—(हँसकर) "हमको कोई कह दे कि मरकर तुम फिर इसी देस में आएगा, और फिर काउंसिल में जा सकेगा, तो हम यमराज से बोलेगा—बाबा, जल्दी कर। पर ऐसा तो कहता नहीं।"

जॉन सेवक—"मेरा विचार है कि नए चुनाव में व्यापार-भवन की ओर से खड़ा हो जाऊँ।"

गंगुली—"आप किस दल में रहेगा?"

जॉन सेवक—"मेरा कोई दल न है, और न होगा। मैं इसी विचार और उद्देश्य से जाऊँगा कि स्वदेशी व्यापार की रक्षा कर सकूँ। मैं प्रयत्न करूँगा कि विदेशी वस्तुओं पर बड़ी कठोरता से कर लगाया जाय, इस नीति का पालन किए बिना हमारा व्यापार कभी सफल न होगा।"

गंगुली—"इँगलैंड को क्या करेगा?"

जॉन सेवक—"उनके साथ भी अन्य देशों का-सा व्यवहार होना चाहिए। मैं इँगलैंड की व्यावसायिक दासता का घोर विरोधी हूँ।"

गंगुली—(घड़ी देखकर) "बहुत अच्छी बात है, आप खड़ा हो। अभी हमको यहाँ से अकेला जाना पड़ता है। तब दो आदमी साथ-साथ जायगा। अच्छा, अब जाता है। कई आदमियों से मिलना है।"

डॉक्टर गंगुली के बाद जॉन सेवक ने भी घर की राह ली। इंदु मकान पर पहुँची, तो राजा साहब बोले—"तुम कहाँ रह गईं ?"

इंदु—"रास्ते में डॉक्टर गंगुली और मि० जॉन सेवक मिल गए, बातें होने लगीं।"

महेंद्र—"गंगुली को साथ क्यों न लाईं ?"

इंदु—"जल्दी में थे। आज तो इस अंधे ने कमाल कर दिया।"

महेंद्र—"एक ही धूर्त है। जो उसके स्वभाव से परिचित न होगा, ज़रूर धोखे में आ गया होगा। अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिये इससे उत्तम और कोई ढंग ध्यान ही में नहीं आ सकता। इसे चमत्कार कहना चाहिए। मानना पड़ेगा कि उसे मानव-चरित्र का पूरा ज्ञान है। निरक्षर होकर भी आज उसने कितने ही शिक्षित और विचारशील आदमियों को अपना भक्त बना लिया। यहाँ लोग उसका जुर्माना अदा करने के लिये चंदा जमा कर रहे हैं। सुना है, जुलूस भी निकालना चाहते हैं। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि उसने उस औरत को बहकाया, और मुझे अफ़सोस है कि और कड़ी सज़ा क्यों न दी।"

इंदु—"तो आपने चंदा भी न दिया होगा ?"

महेंद्र—"कभी-कभी तुम बेसिर-पैर की बातें करने लगती हो। चंदा कैसे देता, अपने मुँह में आप ही थप्पड़ मारता!"

इंदु—"लेकिन मैंने तो दिया है। मुझे........."

महेंद्र—"अगर तुमने दिया है, तो बुरा किया है।"

इंदु—"मुझे यह क्या मालूम था कि.........."

महेंद्र—"व्यर्थ बातें न बनाओ। अपना नाम गुप्त रखने को तो कह दिया है?"

इंदु—"नहीं, मैंने कुछ नहीं कहा।"

महेंद्र—"तो तुमसे ज़्यादा बेसमझ आदमी संसार में न होगा। तुमने इंद्रदत्त को रुपए दिए होंगे। इंद्रदत्त यों बहुत विनयशील और सहृदय युवक है, और मैं उसका दिल से आदर करता हूँ। लेकिन इस अवसर पर वह दूसरों से चंदा वसूल करने के लिये तुम्हारा नाम उछालता फिरेगा। ज़रा दिल में सोचो, लोग क्या समझेंगे। शोक है! अगर इस वक़्त मैं दीवार से सिर नहीं टकरा लेता, तो समझ लो कि बड़े धैर्य से काम ले रहा हूँ। तुम्हारे हाथों मुझे सदैव अपमान ही मिला, और तुम्हारा यह कार्य तो मेरे मुख पर कालिमा का वह चिह्न है, जो कभी मिट नहीं सकता।"

यह कहकर महेंद्रकुमार निराश होकर आरामकुर्सी पर लेट गए, और छत की ओर ताकने लगे। उन्होंने दीवार से सिर न टकराने में चाहे असीम धैर्य से काम लिया या न लिया हो, पर इंदु ने अपने मनोभावों को दबाने में असीम धैर्य से ज़रूर काम लिया। जी में आता था कि कह दूँ, मैं आपकी गुलाम नहीं हूँ, मुझे यह बात संभव ही नहीं मालूम होती कि कोई ऐसा प्राणी भी हो सकता है, जिस पर ऐसी करुण अपील का कुछ असर ही न हो। मगर भय हुआ कि कहीं बात बढ़ न जाय। उसने चाहा कि कमरे से चली जाऊँ, और निर्दय प्रारब्ध को, जिसने मेरी शांति में विघ्न डालने का ठेका-सा ले लिया है, पैरों-तले कुचल डालूँ, और दिखा दूँ कि धैर्य और सहनशीलता से प्रारब्ध के कठोरतम आघातों का प्रतिकार किया जा सकता है, किंतु ज्यों ही वह द्वार की तरफ़ चली कि महेंद्रकुमार फिर तनकर बैठ गए, और बोले—"जाती कहाँ हो, क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई? मैं तुमसे बहुत सफ़ाई से पूछना चाहता हूँ कि तुम इतनी निरंकुशता से क्यों काम करती हो? मैं तुमसे कितनी

बार कह चुका हूँ कि जिन बातों का संबंध मुझसे हो, वे मुझसे पूछे बिना न की जाया करें—हाँ, अपनी निजी बातों में तुम स्वाधीन हो—मगर तुम्हारे ऊपर मेरी अनुनय-विनय का कोई असर क्यों नहीं होता? क्या तुमने क़सम खा ली है कि मुझे बदनाम करके, मेरे सम्मान को धूल में मिलाकर, मेरी प्रतिष्ठा को पैरों से कुचलकर तभी दम लोगी?"

इंदु ने गिड़गिड़ाकर कहा—"ईश्वर के लिये इस वक़्त मुझे कुछ कहने के लिये विवश न कीजिए। मुझसे भूल हुई या नहीं, इस पर मैं बहस नहीं करना चाहती। मैं माने लेती हूँ कि मुझसे भूल हुई, और ज़रूर हुई। मैं उसका प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ। अगर अब भी आपका जी न भरा हो, तो लीजिए, बैठी जाती हूँ। आप जितनी देर तक और जो कुछ चाहें, कहें; मैं सिर न उठाऊँगी।"

मगर क्रोध अत्यंत कठोर होता है। वह देखना चाहता है कि मेरा एक-एक वाक्य निशाने पर बैठता है या नहीं, वह मौन को सहन नहीं कर सकता। उसकी शक्ति अपार है, ऐसा कोई घातक-से-घातक शस्त्र नहीं है, जिससे बढ़कर काट करनेवाले यंत्र उसकी शस्त्रशाला में न हों; लेकिन मौन वह मंत्र है, जिसके आगे उसकी सारी शक्ति विफल हो जाती है। मौन उसके लिये अजेय है। महेंद्रकुमार चिढ़कर बोले—"इसका यह आशय है कि मुझे बकवास का रोग हो गया है, और कभी-कभी उसका दौरा हो जाया करता है।"

इंदु—"यह आप खुद कहते हैं।"

इंदु से भूल हुई कि वह अपने वचन को निभा न सकी। क्रोध को एक चाबुक और मिला। महेंद्र ने आँखें निकालकर कहा—"यह मैं नहीं कहता, तुम कहती हो। आख़िर बात क्या है? मैं तुमसे जिज्ञासा-भाव से पूछ रहा हूँ कि तुम क्यों बार-बार वे ही काम करती हो, जिनसे मेरी निंदा और जग-हँसाई हो, मेरी मान-प्रतिष्ठा धूल में मिल जाय, मैं किसी को मुँह दिखाने-लायक़ न रहूँ। मैं जानता हूँ, तुम ज़िद से ऐसा नहीं

करतीं। मैं यहाँ तक कह सकता हूँ, तुम मेरे आदेशानुसार चलने का प्रयास भी करती हो। किंतु फिर जो यह अपवाद हो जाता है, उसका क्या कारण है? क्या यह बात तो नहीं कि पूर्व जन्म में हम और तुम एक दूसरे के शत्रु थे; या विधाता ने मेरी अभिलाषाओं और मंसूबों का सर्वनाश करने के लिये तुम्हें मेरे पल्ले बाँध दिया है? मैं बहुधा इसी विचार में पड़ा रहता हूँ, पर कुछ रहस्य नहीं खुलता।"

इंदु—"मुझे गुप्त ज्ञान रखने का तो दावा नहीं। हाँ, अगर आपकी इच्छा हो, तो मैं जाकर इंद्रदत्त को ताकीद कर दूँ कि मेरा नाम न ज़ाहिर होने पाए।"

महेंद्र—"क्या बच्चों की-सी बातें करती हो; तुम्हें यह सोचना चाहिए था कि यह चंदा किस नियत से जमा किया जा रहा है। इसका उद्देश्य है मेरे न्याय का अपमान करना, मेरी ख्याति की जड़ खोदना। अगर मैं अपने सेवक की डाट-फटकार करूँ, और तुम उसकी पीठ पर हाथ फेरो, तो मैं इसके सिवा और क्या समझ सकता हूँ कि तुम मुझे कलंकित करना चाहती हो। चंदा तो ख़ैर होगा ही, मुझे उसके रोकने का अधिकार नहीं है—जब तुम्हारे ऊपर कोई बस नहीं है, तो दूसरों का क्या कहना—लेकिन मैं जुलूस कदापि न निकलने दूँगा। मैं उसे अपने हुक्म से बंद कर दूँगा, और अगर लोगों को ज़्यादा तत्पर देखूँगा, तो सैनिक सहायता लेने में भी संकोच न करूँगा।"

इंदु—"आप जो उचित समझें, करें। मुझसे ये सब बातें क्यों कहते हैं?"

महेंद्र—"तुमसे इसलिये कहता हूँ कि तुम भी उस अंधे के भक्तों में हो, कौन कह सकता है कि तुमने उससे दीक्षा लेने का निश्चय नहीं किया है! आख़िर रैदास भगत के चेले ऊँची ज़ातों में भी तो हैं!"

इंदु—"मैं दीक्षा को मुक्ति का साधन नहीं समझती, और शायद कभी दीक्षा न लूँगी। मगर हाँ, आप चाहे जितना बुरा समझें, दुर्भाग्य-

वश मुझे यह पूरा विश्वास हो गया है कि सूरदास निरपराध है। अगर यही उसकी भक्ति है, तो मैं अवश्य उसकी भक्त हूँ।"

महेंद्र—"तुम कल जुलूस में तो न जाओगी?"

इंदु—"जाना तो चाहती थी, पर अब आपकी ख़ातिर से न जाऊँगी। अपने सिर पर नंगी तलवार लटकते नहीं देख कसती।"

महेंद्र—"अच्छी बात है, इसके लिये तुम्हें अनेक धन्यवाद!"

इंदु अपने कमरे में आकर लेट गई। उसका चित्त बहुत खिन्न हो रहा था। वह देर तक राजा साहब की बातों पर विचार करती रही, फिर आप-ही-आप बोली—"भगवान्, यह जीवन असह्य हो गया है। या तो तुम इनके हृदय को उदार कर दो, या मुझे संसार से उठा लो। इंद्रदत्त इस वक्त न-जाने कहाँ होगा। क्यों न उसके पास एक रुक़्क़ा भेज दूँ कि ख़बरदार मेरा नाम ज़ाहिर न होने पाए। मैंने इनसे नाहक़ कह दिया कि चंदा दिया। क्या जानती थी कि यह गुल खिलेगा!"

उसने तुरंत घंटी बजाई, नौकर अंदर आकर खड़ा हो गया। इंदु ने रुक़्क़ा लिखा—"प्रिय इंद्र, मेरे चंदे को किसी पर ज़ाहिर मत करना, नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा। मुझे बहुत विवश होकर ये शब्द लिखने पड़े हैं।"

फिर रुक़्क़े को नौकर को देकर बोली—"इंद्रदत्त बाबू का मकान जानता है?"

नौकर—"होई तो कहूँ सहरै मँ न? पूछ लेवै।"

इंदु—"शहर में तो शायद उम्र-भर उनके घर का पता न लगे।"

नौकर—"आप चिट्ठी तो दें, पता तो हम लगाउब, लगी न का कही।"

इंदु—"ताँगा ले लेना, काम जल्दी का है।"

नौकर—"हमार गोड़ ताँगा से कम थोरे हैं। का हम कौनो ताँगा ससुर से कम चलित है!"

इंदु—"बाज़ार चौक से होते हुए मेरे घर तक जाना। वीस बिस्वे

वह तुम्हें मेरे घर ही पर मिलेंगे। इंद्रदत्त को देखा है? पहचानता है न?"

नौकर—"जेहका एक बेर देख लेई, ओहका जनम-भर न भूली। इंदर बाबू का तो सैकरन बेर देखा है।"

इंदु—"किसी को यह खत मत दिखाना।"

नौकर—"कोऊ देखी कसस, पहले ओकी आँखी न फोरि डारब।"

इंदु ने रुक्का दिया। नौकर लेकर चला गया। तब वह फिर लेट गई, और वे ही बातें सोचने लगी—"मेरा यह अपमान इन्हीं के कारण हो रहा है! इंद्र अपने दिल में क्या सोचेगा? यही न कि राजा साहब ने इसे डाँटा होगा। मानो मैं लौंडी हूँ, जब चाहते हैं, डाँट बता देते हैं। मुझे कोई काम करने की स्वाधीनता नहीं है। उन्हें अख़्त्यार है, जो चाहें करें। मैं उनके इशारों पर चलने के लिये मजबूर हूँ। कितनी अधोगति है!"

यह सोचते ही वह तेज़ी से उठी, और घंटी बजाई। लौंडी आकर खड़ी हो गई। इंदु बोली—"देख, भीखा चला तो नहीं गया। मैंने उसे एक रुक़्क़ा दिया है। जाकर उससे वह रुक़्क़ा माँग ला। अब न भेजूँगी। चला गया हो, तो किसी को साइकिल पर दौड़ा देना। चौक की तरफ़ मिल जायगा।"

लौंडी चली गई, और ज़रा देर में भीखा को लिए हुए आ पहुँची। भीखा बोला—"जो छिन-भर और न जात, तो हम घर माँ न मिलित।"

इंदु—"काम तो तुमने जुर्माने का किया है कि इतना ज़रूरी ख़त और अभी तक घर में पड़े रहे। लेकिन इस वक़्त यही अच्छा हुआ। वह रुक़्क़ा अब न जायगा, मुझे दो।"

उसने रुक़्क़ा लेकर फाड़ डाला। तब आज का समाचार-पत्र खोलकर देखने लगी। पहला ही शीर्षक था—'शास्त्रीजी की महत्त्व-पूर्ण वक्तृता।' इंदु ने पत्र को नीचे डाल दिया—"यह महाशय तो शैतान से ज़्यादा

प्रसिद्ध हो गए। जहाँ देखो, वहीं शास्त्री। ऐसे मनुष्य की योग्यता की चाहे जितनी प्रशंसा की जाय, पर उसका सम्मान नहीं किया जा सकता। शास्त्रीजी का नाम आते ही मुझे इनकी याद आ जाती है। जो आदमी ज़रा-ज़रा-से मतभेद पर सिर हो जाय, दाल में ज़रा-सा नमक ज़्यादा हो जाने पर स्त्री को घर से निकाल दे, जिसे दूसरों के मनोभावों का ज़रा भी लिहाज़ न हो, जिसे ज़रा भी चिंता न हो कि मेरी बातों से किसी के दिल पर क्या असर होगा, वह भी कोई आदमी है! हो सकता है कि कल को कहने लगें, अपने पिता से मिलने मत जाओ। मानो, मैं इनके हाथों बिक गई।"

दूसरे दिन प्रातःकाल उसने गाड़ी तैयार कराई, और दुशाला ओढ़कर घर से निकली। महेंद्रकुमार बाग़ में टहल रहे थे। वह उनका नित्य का नियम था। इंदु को जाते देखा, तो पूछा—"इतने सबेरे कहाँ?"

इंदु ने दूसरी ओर ताकते हुए कहा—"जाती हूँ आपकी आज्ञा का पालन करने। इंद्रदत्त से रुपए वापस लूँगी।"

महेंद्र—"इंदु, सच कहता हूँ, तुम मुझे पागल बना दोगी।"

इंदु—"आप मुझे कठपुतलियों की तरह नचाना चाहते हैं। कभी इधर, कभी उधर।"

सहसा इंद्रदत्त सामने से आते हुए दिखाई दिए। इंदु उनकी ओर लपककर चली, मानो अभिवादन करने जा रही है और फाटक पर पहुँचकर बोली—"इंद्रदत्त, सच कहना, तुमने किसी से मेरे चंदे की चर्चा तो नहीं की?"

इंद्रदत्त सिटपिटा-सा गया, जैसे कोई आदमी दूकानदार को पैसे की जगह रुपया दे आए। बोला—"आपने मुझे मना तो नहीं किया था।"

इंदु—"तुम झूठे हो, मैंने मना किया था।"

इंद्रदत्त—"इंदुरानी, मुझे ख़ूब याद है कि आपने मना नहीं किया

था। हाँ, मुझे स्वयं बुद्धि से काम लेना चाहिए था। इतनी भूल ज़रूर मेरी है।"

इंदु—(धीरे से) "तुम महेंद्र से इतना कह सकते हो कि मैंने इनकी चर्चा किसी से नहीं की, मुझ पर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी। बड़े नैतिक संकट में पड़ी हुई हूँ।"

यह कहते-कहते इंदु की आँखें डबडबा आईं। इंद्रदत्त वातावरण ताड़ गया। बोला—"हाँ, कह दूँगा—आपकी ख़ातिर से।"

एक क्षण में इंद्रदत्त राजा के पास जा पहुँचा। इंदु घर में चली गई।

महेंद्रकुमार ने पूछा—"कहिए महाशय, इस वक़्त कैसे कष्ट किया?"

इंद्रदत्त—"मुझे तो कष्ट नहीं हुआ, आपको कष्ट देने आया हूँ। क्षमा कीजिएगा। यद्यपि यह नियम-विरुद्ध है, पर मेरी आपसे प्रार्थना है कि सूरदास और सुभागी का जुर्माना आप इसी वक़्त मुझसे ले लें, और उन दोनो को रिहा करने का हुक्म दे दें। कचहरी अभी देर में खुलेगी। मैं इसे आपकी विशेष कृपा समझूँगा।"

महेंद्रकुमार—"हाँ, नियम-विरुद्ध तो है, लेकिन तुम्हारा लिहाज़ करना पड़ता है। रुपए मुनीम को दे दो, मैं रिहाई का हुक्म लिखे देता हूँ। कितने रुपए जमा किए?"

इंद्रदत्त—"बस, शाम को चुने हुए सज्जनों के पास गया था। कोई पाँच सौ रुपए हो गए।"

महेंद्रकुमार—"तब तो तुम इस कला में निपुण हो। इंदुरानी का नाम देखकर न देनेवालों ने भी दिए होंगे।"

इंद्रदत्त—"मैं इंदुरानी के नाम का इससे ज्यादा आदर करता हूँ। अगर उनका नाम दिखाता, तो पाँच सौ रुपए न लाता, पाँच हज़ार लाता।"

महेंद्रकुमार—"अगर यह सच है, तो तुमने मेरी आबरू रख ली।"

इंद्रदत्त—"मुझे आपसे एक याचना और करनी है। कुछ लोग सूरदास को इज़्ज़त के साथ उसके घर पहुँचाना चाहते हैं। संभव है, दो-चार सौ दर्शक जमा हो जायँ। मैं आपसे इसकी आज्ञा चाहता हूँ।"

महेंद्रकुमार—"जुलूस निकालने की आज्ञा नहीं दे सकता। शांति-भंग हो जाने की शंका है।"

इंद्रदत्त—"मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि पत्ता तक न हिलेगा।"

महेंद्रकुमार—"यह असंभव है।"

इंद्रदत्त—"मैं इसकी ज़मानत दे सकता हूँ।"

महेंद्रकुमार—"यह नहीं हो सकता।"

इंद्रदत्त समझ गया कि राजा साहब से अब ज़्यादा आग्रह करना व्यर्थ है। जाकर मुनीम को रुपए दिए, और ताँगे की ओर चला। सहसा राजा साहब ने पूछा—"जुलूस तो न निकलेगा न?"

इंद्रदत्त—"निकलेगा। मैं रोकना चाहूँ, तो भी नहीं रोक सकता।"

इंद्रदत्त वहाँ से अपने मित्रों को सूचना देने के लिये चले। जुलूस का प्रबंध करने में घंटों की देर लग गई। इधर उनके जाते ही राजा साहब ने जेल के दारोग़ा को टेलीफ़ोन कर दिया कि सूरदास और सुभागी छोड़ दिए जायँ, और उन्हें बंद गाड़ी में बैठाकर उनके घर पहुँचा दिया जाय। जब इंद्रदत्त सवारी, बाजे आदि लिए हुए जेल पहुँचे, तो मालूम हुआ, पिंजरा ख़ाली है, चिड़ियाँ उड़ गईं। हाथ मलकर रह गए। उन्हीं पाँवों पाँड़ेपुर चले। देखा, तो सूरदास एक नीम के नीचे राख के ढेर के पास बैठा हुआ है। एक ओर सुभागी सिर झुकाए खड़ी है। इंद्रदत्त को देखते ही जगधर और अन्य कई आदमी इधर-उधर से आकर जमा हो गए।

इंद्रदत्त—"सूरदास, तुमने तो बड़ी जल्दी की। वहाँ लोग तुम्हारा जुलूस निकालने की तैयारियाँ किए हुए थे। राजा साहब ने बाज़ी मार

ली। अब बतलाओ, वे रुपए क्या हों, जो जुलूस के ख़र्च के लिये जमा किए गए थे ?"

सूरदास—"अच्छा ही हुआ कि मैं यहाँ चुपके से आ गया। नहीं तो सहर-भर में घूमना पड़ता! जलूस बड़े-बड़े आदमियों का निकलता है कि अंधे भिखारियों का। आप लोगों ने जरीबाना देकर छुड़ा दिया, यही कौन कम धरम किया।"

इंद्रदत्त—"अच्छा बताओ, ये रुपए क्या किए जायँ ? तुम्हें दे दूँ ?"

सूरदास—"कितने रुपए होंगे ?"

इंद्रदत्त—"कोई तीन सौ होंगे।"

सूरदास—"बहुत हैं। इतने में भैरों की दूकान मजे में बन जायगी।"

जगधर को बुरा लगा, बोला—"पहले अपनी झोपड़ी की तो फ़िकिर करो।"

सूरदास—"मैं इसी पेड़ के नीचे पड़ रहा करूँगा, या पंडाजी के दालान में।"

जगधर—"जिसकी दूकान जली है, वह बनवाएगा, तुम्हें क्या चिंता है ?"

सूरदास—"जली तो है मेरे ही कारन!"

जगधर—"तुम्हारा घर भी तो जला है।"

सूरदास—"यह भी बनेगा, लेकिन पीछे से। दूकान न बनी, तो भैरों को कितना घाटा होगा! मेरी भीख तो एक दिन भी बंद न होगी।"

जगधर—"बहुत सराहने से भी आदमी का मन बिगड़ जाता है। तुम्हारी भलमनसी का लोग बखान करने लगे, तो अब तुम सोचते होगे कि ऐसा काम करूँ, जिसमें और बड़ाई हो। इस तरह दूसरों की ताली पर नाचना न चाहिए।"

इंद्रदत्त—"सूरदास, तुम इन लोगों को बकने दो, तुम ज्ञानी हो, ज्ञान

पत्त को मत छोड़ो। ये रुपए तुम्हारे पास रक्खे जाता हूँ; जो इच्छा हो, करना।"

इंद्रदत्त चला गया, तो सुभागी ने सूरदास से कहा—"उसकी दूकान बनवाने का नाम न लेना।"

सूरदास—"मेरे घर से पहले उसकी दूकान बनेगी। यह बदनामी सिर पर कौन ले कि सूरदास ने भैरों का घर जलवा दिया। मेरे मन में यह बात समा गई है कि हमीं में से किसी ने उसकी दूकान जलाई।"

सुभागी—"उससे तुम कितना ही दबो, पर वह तुम्हारा दुश्मन ही बना रहेगा। कुत्ते की पूँछ कभी सीधी नहीं होती।"

सूरदास—"तुम दोनो फिर एक हो जाओगे, तब तुझसे पूछूँगा।"

सुभागी—"भगवान मार डालें, पर उसका मुँह न दिखावें।"

सूरदास—"मैं कहे देता हूँ, एक दिन तू भैरों के घर की देवी बनेगी।"

सूरदास रुपए लिए हुए भैरों के घर की ओर चला। भैरों रपट करने को जाना तो चाहता था; पर शंका हो रही थी कि कहीं सूरदास की झोपड़ी की भी बात चली, तो क्या जवाब दूँगा। बार बार इरादा करके रुक जाता था। इतने में सूरदास को सामने आते देखा, तो हक्का बक्का रह गया। विस्मित होकर बोला—"अरे, क्या जरीबाना दे आया क्या?"

बुढ़िया बोली—"बेटा, इसे जरूर किसी देवता का इष्ट है, नहीं तो वहाँ से [illegible] आता!"

सूरदास [illegible] कहा—"भैरों, मैं ईश्वर को बीच में डालकर कहता हूँ, मुझे [illegible] लूम कि तुम्हारी दूकान किसने जलाई। तुम मुझे [illegible], पर मेरी जानकारी में यह बात कभी न होने [illegible] सकता हूँ कि यह किसी मेरे हितू का काम है।"

[illegible] बताओ कि तुम छूट कैसे आए। मुझे तो यही [illegible]

[illegible] की इच्छा। सहर के कुछ धर्मात्मा आदमियों ने

आपस में चंदा करके मेरा जरीबाना भी दे दिया, और कोई तीन सौ रुपए जो बच रहे हैं, मुझे दे गए हैं। मैं तुमसे यह कहने आया हूँ कि तुम ये रुपए लेकर अपनी दूकान बनवा लो, जिसमें तुम्हारा हरज न हो। मैं सब रुपए ले आया हूँ।"

भैरों भौचक्का होकर उसकी ओर ताकने लगा, जैसे कोई आदमी आकाश से मोतियों की वर्षा होते देखे। उसे शंका हो रही थी कि इन्हें बटोरूँ या नहीं, इनमें कोई रहस्य तो नहीं है, इनमें कोई ज़हरीला कीड़ा तो नहीं छिपा है, कहीं इनको बटोरने से मुझ पर कोई आफ़त तो न आ जायगी। उसके मन में प्रश्न उठा, यह अंधा सचमुच मुझे रुपए देने के लिये लाया है, या मुझे ताना दे रहा है। ज़रा इसका मन टटोलना चाहिए। बोला—"तुम अपने रुपए रक्खो, यहाँ कोई रुपयों के भूखे नहीं हैं। प्यासों मरते भी हों, तो दुश्मन के हाथ से पानी न पिएँ।"

सूरदास—"भैरों, हमारी-तुम्हारी दुसमनी कैसी? मैं तो किसी को अपना दुसमन नहीं देखता! चार दिन की जिंदगानी के लिये क्या किसी से दुसमनी की जाय! तुमने मेरे साथ कोई बुराई नहीं की। तुम्हारी जगह मैं होता, और समझता कि तुम मेरी घरवाली को बहकाए लिए जाते हो, तो मैं भी यही करता, जो तुमने किया। अपनी आबरू किसको प्यारी नहीं होती! जिसे अपनी आबरू प्यारी न हो, उसकी गिनती आदमियों में नहीं, पशुओं में है। तुमसे सच कहता हूँ, तुम्हारे ही लिये मैंने ये रुपए लिए, नहीं तो मेरे लिये तो पेड़ की छाँह बहुत थी। मैं जानता हूं, अभी तुम्हें मेरे ऊपर संदेह हो रहा है, लेकिन कभी-न-कभी तुम्हारा मन मेरी ओर से साफ़ हो जायगा। ये रुपए लो, और भगवान का नाम लेकर दूकान बनवाने में हाथ लगा दो। कम पड़ेंगे [illegible] भगवान ने इतनी मदद की है, वही भगवान और मदद भी कर[illegible]

भैरों को इन वाक्यों में सहृदयता और सज्जनता की झलक दिखाई [illegible] सत्य विश्वासोत्पादक होता है। नरम होकर बोला—"आओ, बैठो, [illegible]

पियो, कुछ बातें हों, तो समझ में आए। तुम्हारे मन का भेद ही नहीं खुलता। दुसमन के साथ तो कोई भलाई नहीं करता, तुम मेरे साथ क्यों इतनी मेहरबानी करते हो?"

सूरदास—"तुमने मेरे साथ कौन-सी दुसमनी की! तुमने वही किया, जो तुम्हारा धरम था। मैं रात-भर हिरासत में बैठा यही सोचता रहा कि तुम क्यों मेरे पीछे पड़े हुए हो, मैंने तो तुम्हारे साथ कोई बुराई नहीं की, तो मुझे मालूम हुआ कि तुम मेरे साथ कोई बुराई नहीं कर रहे हो। यही तुम्हारा धरम है। औरत के पीछे तो खून हो जाता है। तुमने नालिस ही कर दी, तो कौन बुरा काम किया! बस, अब तुमसे मेरी यही विनती है कि जिस तरह कल भरी अदालत में पंचों ने मुझे निरपराध कह दिया, उसी तरह तुम भी मेरी ओर से अपना मन साफ़ कर लो। मेरी इससे भी बड़ी दुर्गत हो, अगर मैंने तुम्हारे साथ कोई घाट किया हो। हाँ, मुझसे एक ही बात नहीं हो सकती। मैं सुभागी को अपने घर से निकाल नहीं सकता। डरता हूँ कि कोई आड़ न रहेगी, तो न-जाने उसकी क्या दशा हो। मेरे यहाँ रहेगी, तो कौन जाने कभी तुम्हीं उसे फिर रख लो।"

भैरों का मलिन हृदय इस आंतरिक निर्मलता से प्रतिबिंबित हो गया। आज पहली बार उसे सूरदास की नेकनीयती पर विश्वास हुआ। सोचा—"अगर इसका दिल साफ़ न होता, तो मुझसे ऐसी बातें क्यों करता। मेरा कोई डर तो इसे है नहीं। मैं जो कुछ कर सकता था, कर चुका। इसके साथ तो सारा सहर है। सबों ने जरीवाना अदा कर दिया। ऊपर से कई सौ रुपए और दे गए। मुहल्ले में भी उसकी धाक फिर बैठ गई। चाहे तो बात-की बात में मुझे बिगाड़ सकता है। नीयत साफ़ न होती, तो अब सुभागी के साथ आराम से रहता। अंधा है, अपाहिज है, भीख माँगता है, पर उसकी कितनी मरजाद है, बड़े-बड़े आदमी आव-भगत करते हैं! मैं कितना अधम, नीच आदमी हूँ, पैसे के लिये रात-दिन दगा-फरेब करता रहता हूँ। कौन-सा पाप है, जो मैंने नहीं किया! इस बिचारे का घर

जलाया, एक बार नहीं, दो बार; इसके रुपए उठा ले गया। यह मेरे साथ नेकी ही करता चला आता है। सुभागी के बारे में मुझे सक-ही-सक था। अगर कुछ नीयत बद होती, तो इसका हाथ किसने पकड़ा था, सुभागी को खुले खजाने रख लेता। अब तो अदालत कचहरी का भी डर नहीं रहा।" यह सोचता हुआ वह सूरदास के पास आकर बोला—"सूरे, अब तक मैंने तुम्हारे साथ जो कुछ बुराई-भलाई की, उसे माफ़ करो। आज से अगर तुम्हारे साथ कोई बुराई करूँ, तो भगवान मुझसे समझें। ये रुपए मुझे मत दो, मेरे पास रुपए हैं। ये भी तुम्हारे ही रुपए हैं। दूकान बनवा लूँगा। सुभागी पर भी मुझे अब कोई संदेह नहीं रहा। मैं भगवान को बीच में डालकर कहता हूँ, अब मैं कभी उसे कोई कड़ी बात तक न कहूँगा। मैं अब तक धोखे में पड़ा हुआ था। सुभागी को मेरे यहाँ आने पर राजी कर दो। वह तुम्हारी बात को नाहीं न करेगी।"

सूरदास—"राजी ही है, बस उसे यही डर है कि तुम फिर मारने-पीटने लगोगे।"

भैरों—"सूरे, अब मैं उसे भी पहचान गया। मैं उसके जोग नहीं था। उसका ब्याह तो किसी धर्मात्मा आदमी से होना चाहिए था। (धीरे से) आज तुमसे कहता हूँ, पहली बार भी मैंने ही तुम्हारे घर में आग लगाई थी, और तुम्हारे रुपए चुराए थे।"

सूरदास—"उन बातों को भूल जाओ भैरों! मुझे सब मालूम है। संसार में कौन है, जो कहे कि मैं गंगाजल हूँ। जब बड़े-बड़े साधू-सन्यासी माया-मोह में फँसे हुए हैं, तो हमारी-तुम्हारी क्या बात है! हमारी बड़ी भूल यही है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाय, तो क्या हाथ आएगा। खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबराए नहीं, ईमान को न छोड़े। जीतकर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिंदगानी के साथ है। हाँ, एक सलाह की बात

कहता हूँ। तुम ताड़ी की दूकान छोड़कर कोई दूसरा रोजगार क्यों नहीं करते ?"

भैरों—"जो कहो, वह करूँ। यह रोजगार है खराब। रात-दिन जुआरी, चोर, बदमाश आदमियों का ही साथ रहता है। उन्हीं की बातें सुनो, उन्हीं के ढंग सीखो। अब मुझे मालूम हो रहा है कि इसी रोजगार ने मुझे चौपट किया। बताओ, क्या करूँ ?"

सूरदास—"लकड़ी का रोजगार क्यों नहीं कर लेते ? बुरा नहीं है। आजकल यहाँ परदेसी बहुत आएँगे, बिक्री भी अच्छी होगी। जहाँ ताड़ी की दूकान थी, वहीं एक बाड़ा बनवा दो, और इन रुपयों से लकड़ी का काम करना शुरू कर दो।"

भैरों—"बहुत अच्छी बात है। मगर ये रुपए अपने ही पास रक्खो। मेरे मन का क्या ठिकाना। रुपए पाकर कोई और बुराई न कर बैठूँ। मेरे-जैसे आदमी को तो कभी आधे पेट के सिवा भोजन न मिलना चाहिए। पैसे हाथ में आए, और सनक सवार हुई।"

सूरदास—"मेरे घर न द्वार, रक्खूँगा कहाँ ?"

भैरों—"इससे तुम अपना घर बनवा लो।"

सूरदास—"तुम्हें लकड़ी की दूकान से नफा हो, तो बनवा देना।"

भैरों—"सुभागी को समझा दो।"

सूरदास—"समझा दूँगा।"

सूरदास चला गया। भैरों घर गया, तो बुढ़िया बोली—"तुमसे मेल करने आया था न ?"

भैरों—"हाँ, क्यों न मेल करेगा, मैं बड़ा लाट हूँ न। बुढ़ापे में तुम्हें और कुछ नहीं सूझता। यह आदमी नहीं, साधू है !"

[३२]

फ़ैक्टरी क़रीब-क़रीब तैयार हो गई थी। अब मशीनें गड़ने लगीं। पहले तो मज़दूर, मिस्त्री आदि प्रायः मिल के बरामदों ही में रहते थे, वहीं पेड़ों के नीचे खाना पकाते और सोते, लेकिन जब उनकी संख्या बहुत बढ़ गई, तो मुहल्ले में मकान ले-लेकर रहने लगे। पाँड़ेपुर छोटी-सी बस्ती तो थी ही, वहाँ इतने मकान कहाँ थे, नतीजा यह हुआ कि मुहल्ले-वाले किराए के लालच से परदेसियों को अपने-अपने घरों में ठहराने लगे। कोई परदे की दीवार खिंचवा लेता था, कोई ख़ुद झोपड़ा बनाकर उसमें रहने लगता, और मकान भड़ैतों को दे देता। भैरों ने लकड़ी की दूकान खोल ली थी। वह अपनी मा के साथ वहीं रहने लगा, अपना घर किराए पर दे दिया। ठाकुरदीन ने अपनी दूकान के सामने एक टट्टी लगाकर गुज़र करना शुरू किया, उसके घर में एक ओवरसियर आ डटे। जगधर सबसे लोभी था, उसने सारा मकान उठा दिया, और आप एक फूस के छप्पर में निर्वाह करने लगा। नायकराम के बरामदे में तो नित्य एक बरात ठहरती थी। यहाँ तक लोभ ने लोगों को घेरा कि बजरंगी ने भी मकान का एक हिस्सा उठा दिया। हाँ, सूरदास ने किसी को नहीं टिकाया। वह अपने नए मकान में, जो इंदुरानी के गुप्त दान से बना था, सुभागी के साथ रहता था। सुभागी अभी तक भैरों के साथ रहने पर राज़ी न हुई थी। हाँ, भैरों की आमदरफ़्त अब सूरदास के घर अधिक रहती थी।

कारख़ाने में अभी मशीनें न गड़ी थीं, पर उसका फैलाव दिन-दिन बढ़ता जाता था। सूरदास की बाक़ी पाँच बीघे ज़मीन भी उसी धारा के अनुसार मिल के अधिकार में आ गई। सूरदास ने सुना, तो हाथ मलकर

रह गया। पछताने लगा कि जॉन साहब ही से क्यों न सौदा कर लिया! पाँच हज़ार देते थे। अब बहुत मिलेंगे, दो-चार सौ रुपए मिल जायँगे। अब कोई आंदोलन करना उसे व्यर्थ मालूम होता था। जब पहले ही कुछ न कर सका, तो अब की क्या कर लूँगा। पहले ही यह शंका थी, वह पूरी हो गई।

दोपहर का समय था। सूरदास एक पेड़ के नीचे बैठा झपकियाँ ले रहा था कि इतने में तहसील के एक चपरासी ने आकर उसे पुकारा, और एक सरकारी परवाना दिया। सूरदास समझ गया कि हो-न-हो ज़मीन ही का कुछ झगड़ा है। परवाना लिए हुए मिल में आया कि किसी बाबू से पढ़-वाए। मगर कचहरी की सुबोध लिपि बाबुओं से क्या चलती। कोई कुछ न बता सका। हारकर लौट रहा था कि प्रभु सेवक ने देख लिया। तुरंत अपने कमरे में बुला लिया, और परवाने को देखा। लिखा हुआ था— अपनी ज़मीन के मुआवज़े के १०००) रुपए तहसील में आकर ले जाओ।

सूरदास—"कुल एक हजार है।"

प्रभु सेवक—"हाँ, इतना ही तो लिखा है।"

सूरदास—"तो मैं रुपए लेने न जाऊँगा। साहब ने पाँच हजार देने कहे थे, उनके एक हजार रहे, घूसघास में सौ-पचास और उड़ जायँगे। सरकार का खजाना खाली है, भर जायगा।"

प्रभु सेवक—"रुपए न लोगे, ज़ब्त हो जायँगे। यहाँ तो सरकार इसी ताक में रहती है कि किसी तरह प्रजा का धन उड़ा ले। कुछ टैक्स के बहाने से, कुछ रोज़गार के बहाने से, कुछ किसी बहाने से हज़म कर लेती है।"

सूरदास—"गरीबों की चीज लेती है, तो बाजार-भाव से दाम न देना चाहिए? एक तो जबरजस्ती जमीन ले ली, उस पर मनमाना दाम दे दिया। यह तो कोई न्याय नहीं है।"

प्रभु सेवक—"सरकार यहाँ न्याय करने नहीं आई है भाई, राज्य करने आई है। न्याय करने से उसे कुछ मिलता है? कोई समय वह था,

जब न्याय को राज्य की बुनियाद समझा जाता था। अब वह ज़माना नहीं है। अब व्यापार का राज्य है, और जो इस राज्य को स्वीकार न करे, उसके लिये तारों का निशाना मारनेवाली तोपें हैं। तुम क्या कर सकते हो? दीवानी में मुकदमा दायर करोगे, वहाँ भी सरकार ही के नौकर-चाकर न्याय-पद पर बैठे हुए हैं।"

सूरदास—"मैं कुछ न लूँगा। जब राजा ही अधर्म करने लगा, तो परजा कहाँ तक जान बचाती फिरेगी?"

प्रभु सेवक—"इससे फ़ायदा क्या? एक हज़ार मिलते हैं, ले लो; भागते भूत की लँगोटी ही भली।"

सहसा इंद्रदत्त आ पहुँचे और बोले—"प्रभु, आज डेरा कूच है, राजपूताना जा रहा हूँ।"

प्रभु सेवक—"व्यर्थ जाते हो। एक तो ऐसी सख़्त गरमी, दूसरे वहाँ की दशा अब बड़ी भयानक हो रही है। नाहक़ कहीं फँसफँसा जाओगे।"

इंद्रदत्त—"बस, एक बार विनयसिंह से मिलना चाहता हूँ। मैं देखना चाहता हूँ कि उनके स्वभाव, चरित्र, आचार-विचार में इतना परिवर्तन, नहीं रूपांतर, कैसे हो गया!"

प्रभु सेवक—"ज़रूर कोई-न-कोई रहस्य है। प्रलोभन में पड़नेवाला आदमी तो नहीं है। मैं तो उनका परम भक्त हूँ। अगर वह विचलित हुए, तो मैं समझ जाऊँगा कि धर्मनिष्ठा का संसार से लोप हो गया।"

इंद्रदत्त—"यह न कहो प्रभु, मानव-चरित्र बहुत ही दुर्बोध वस्तु है। मुझे तो विनय की काया-पलट पर इतना क्रोध आता है कि पाऊँ, तो गोली मार दूँ। हाँ, संतोष इतना ही है कि उनके निकल जाने का इस संस्था पर कोई असर नहीं पड़ सकता। तुम्हें तो मालूम है, हम लोगों ने बंगाल में प्राणियों के उद्धार के लिये कितना भगीरथ प्रयत्न किया। कई-कई दिन तक तो हम लोगों को दाना तक न मयस्सर होता था?"

सूरदास—"भैया, कौन लोग इस भाँति ग़रीबों का पालन करते हैं।"

इंद्रदत्त—"अरे सूरदास! तुम यहाँ कोने में खड़े हो! मैंने तो तुम्हें देखा ही नहीं। कहो, सब कुशल है न?"

सूरदास—"सब भगवान की दया है। तुम अभी किन लोगों की बात कह रहे थे?"

इंद्रदत्त—"अपने ही साथियों की। कुँवर भरतसिंह ने कुछ जवान आदमियों को संगठित करके एक संगत बना दी है, उसके ख़र्च के लिये थोड़ी-सी ज़मीन भी दान कर दी है। आजकल हम लोग कोई सौ आदमी हैं। देश की यथाशक्ति सेवा करना ही हमारा परम धर्म और व्रत है। इस वक़्त हममें से कुछ लोग तो राजपूताना गए हुए हैं, और कुछ लोग पंजाब जहाँ सरकारी फ़ौज ने प्रजा पर गोलियाँ चला दी हैं।"

सूरदास—"भैया, यह तो बड़े पुन्न का काम है। ऐसे महात्मा लोगों के तो दरसन करने चाहिए। तो भैया, तुम लोग चंदे भी उगाहते होगे?"

इंद्रदत्त—"हाँ, जिसकी इच्छा होती है, चंदा भी दे देता है; लेकिन हम लोग ख़ुद नहीं माँगते फिरते।"

सूरदास—"मैं आप लोगों के साथ चलूँ, तो आप मुझे रक्खेंगे? यहाँ पड़े-पड़े अपना पेट पालता हूँ, आपके साथ रहूँगा, तो आदमी हो जाऊँगा।"

इंद्रदत्त ने प्रभु सेवक से अँगरेज़ी में कहा—"कितना भोला आदमी है। सेवा और त्याग की सदेह मूर्ति होने पर भी ग़रूर छू तक नहीं गया, अपने सत्कार्य का कुछ मूल्य नहीं समझता। परोपकार इसके लिये कोई इच्छित कर्म नहीं रहा, इसके चरित्र में मिल गया है।"

सूरदास ने फिर कहा—"और कुछ तो न कर सकूँगा, अपढ़, गँवार ठहरा, हाँ, जिसके सिरहाने बैठा दीजिएगा, पंखा झलता रहूँगा, पीठ पर जो कुछ लाद दीजिएगा, लिए फिरूँगा।"

इंद्रदत्त—"तुम सामान्य रीति से जो कुछ करते हो, वह उससे कहीं

बढ़कर है, जो हम लोग कभी-कभी विशेष अवसरों पर करते हैं। दुश्मन के साथ नेकी करना रोगियों की सेवा से छोटा काम नहीं है।"

सूरदास का मुख-मंडल खिल उठा, जैसे किसी कवि ने किसी रसिक से दाद पाई हो! बोला—"भैया, हमारी क्या बात चलाते हो, जो आदमी पेट पालने के लिये भीख माँगेगा, वह पुन्न-धरम क्या करेगा। बुरा न मानो, तो एक बात कहूँ। छोटा मुँह बड़ी बात है; लेकिन आपका हुकुम हो, तो मुझे मावजे के जो रुपए मिले हैं, उन्हें आपकी संगत की भेट कर दूँ।"

इंद्रदत्त—"कैसे रुपए?"

प्रभु सेवक—"इसकी कथा बड़ी लंबी है। बस, इतना ही समझ लो कि पापा ने राजा महेंद्रकुमार की सहायता से इसकी जो ज़मीन ले ली थी, उसका एक हज़ार रुपया इसे मुआवज़ा दिया गया है। यह मिल उसी लूट के माल पर बन रही है।"

इंद्रदत्त—"तुमने अपने पापा को मना नहीं किया?"

प्रभु सेवक—"ख़ुदा की क़सम, मैं और सोफ़ी, दोनो ही ने पापा को बहुत रोका; पर तुम उनकी आदत जानते ही हो, कोई धुन सवार हो जाती है, तो किसी की नहीं सुनते।"

इंद्रदत्त—"मैं तो अपने बाप से लड़ जाता, मिल बनती या भाड़ में जाती। ऐसी दशा में तुम्हारा कम-से-कम यह कर्तव्य था कि मिल से बिलकुल अलग रहते। बाप की आज्ञा मानना पुत्र का धर्म है, यह मानता हूँ; लेकिन जब बाप अन्याय करने लगे, तो लड़का उसका अनुगामी बनने के लिये बाध्य नहीं। तुम्हारी रचनाओं में तो एक-एक शब्द से नैतिक विकास टपकता है, ऐसी उड़ान भरते हो कि हरिश्चंद्र और हुसैन भी मात हो जायँ; मगर मालूम होता है, तुम्हारी समस्त शक्ति शब्द-योजना ही में उड़ जाती है, क्रियाशीलता के लिये कुछ बाक़ी नहीं बचता। यथार्थ तो यह है कि तुम अपनी रचनाओं की गर्द को भी नहीं पहुँचते। बस, ज़बान

के शेर हो। सूरदास, हम लोग तुम-जैसे ग़रीबों से चंदा नहीं लेते ! हमारे दाता धनी लोग हैं।"

सूरदास—"भैया, तुम न लोगे, तो कोई चोर ले जायगा। मेरे पास रुपयों का काम ही क्या है। तुम्हारी दया से पेट-भर अन्न मिल ही जाता है, रहने को झोपड़ी बन ही गई है, और क्या चाहिए। किसी अच्छे काम में लग जाना इससे कहीं अच्छा है कि चोर उठा ले जायँ। मेरे ऊपर इतनी दया करो।"

इंद्रदत्त—"अगर देना ही चाहते हो, तो कोई कुआँ खुदवा दो। बहुत दिनों तक तुम्हारा नाम रहेगा।"

सूरदास—"भैया, मुझे नाम की भूख नहीं है। बहाने मत करो, ये रुपए लेकर अपनी संगत में दे दो। मेरे सिर से बोझ टल जायगा।"

प्रभु सेवक—(अँगरेज़ी में)"मित्र, इसके रुपए ले लो, नहीं तो इसे चैन न आएगा। इस दयाशीलता को देवोपम कहना उसका अपमान करना है। मेरी तो कल्पना भी वहाँ तक नहीं पहुँचती। ऐसे-ऐसे मनुष्य भी संसार में पड़े हुए हैं। एक हम हैं कि अपने भरे हुए थाल में से एक टुकड़ा उठाकर फेक देते हैं, तो दूसरे दिन पत्रों में अपना नाम देखने को दौड़ते हैं। संपादक अगर उस समाचार को मोटे अक्षरों में प्रकाशित न करे, तो उसे गोली मार दें। पवित्र आत्मा है !"

इंद्रदत्त—"सूरदास, अगर तुम्हारी यही इच्छा है, तो मैं रुपए ले लूँगा; लेकिन इस शर्त पर कि तुम्हें जब कोई ज़रूरत हो, हमें तुरंत सूचना देना। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि शीघ्र ही तुम्हारी कुटी भक्तों का तीर्थ बन जायगी, और लोग तुम्हारे दर्शनों को आया करेंगे।"

सूरदास—"तो मैं आज रुपए लाऊँगा।"

इंद्रदत्त—"अकेले न जाना, नहीं तो कचहरी के कुत्ते तुम्हें बहुत दिक करेंगे। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।"

सूरदास—"अब एक अरज आपसे भी है साहब आप पुतलीघर के!

मजूरों के लिये घर क्यों नहीं बनवा देते ? वे सारी बस्ती में फैले हुए हैं, और रोज ऊधम मचाते रहते हैं। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छेड़ा था, न कभी इतनी चोरियाँ हुईं, न कभी इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न सराबियों का ऐसा हुल्लड़ रहा। जब तक मजूर लोग यहाँ काम पर नहीं आ जाते, औरतें घरों से पानी भरने नहीं निकलतीं। रात को इतना हुल्लड़ होता है कि नींद नहीं आती। किसी को समझाओ, तो लड़ने पर उतारू हो जाता है।"

यह कहकर सूरदास चुप हो गया, और सोचने लगा, मैंने बात बहुत बढ़ाकर तो नहीं कही ! इंद्रदत्त ने प्रभु सेवक को तिरस्कार-पूर्ण लोचनों से देखकर कहा—"भई, यह तो अच्छी बात नहीं। अपने पापा से कहो, इसका जल्दी प्रबंध करें। न-जाने तुम्हारे वे सब सिद्धांत क्या हो गए। बैठे-बैठे यह सारा माजरा देख रहे हो, और कुछ करते-धरते नहीं।"

प्रभु सेवक—"मुझे तो सिरे से इस काम से घृणा है, मैं न इसे पसंद करता हूँ, और न इसके योग्य हूँ। मेरे जीवन का सुख-स्वर्ग तो यही है कि किसी पहाड़ी के दामन में एक जलधारा के तट पर, छोटी-सी झोपड़ी बनाकर पड़ा रहूँ। न लोक की चिंता हो, न परलोक की। न अपने नाम को कोई रोनेवाला हो, न हँसनेवाला। यही मेरे जीवन का उच्चतम आदर्श है। पर उस आदर्श को प्राप्त करने के लिये जिस संयम और उद्योग की जरूरत है, उससे वंचित हूँ। खैर, सच्ची बात तो यह है कि इस तरफ़ मेरा ध्यान ही नहीं हुआ। मेरा तो यहाँ आना-न-आना दोनो बराबर है। केवल पापा के लिहाज़ से चला आता हूँ। अधिकांश समय यही सोचने में काटता हूँ कि क्योंकर इस क़ैद से रिहाई पाऊँ। आज ही पापा से कहूँगा।"

इंद्रदत्त—"हाँ, आज ही कहना। तुम्हें संकोच हो, तो मैं कह दूँ ?"

प्रभु सेवक—"नहीं जी, इसमें क्या संकोच है। इससे तो मेरा रंग और जम जायगा ! पापा को ख़याल होगा, अब इसका मन लगने लगा।

कुछ इसने कहा तो ! उन्हें तो मुझसे यही रोना है कि मैं किसी बात में बोलता ही नहीं।"

इंद्रदत्त यहाँ से चले, तो सूरदास बहुत दूर तक उनके साथ सेवा-समिति की बातें पूछता हुआ चला आया। जब इंद्रदत्त ने बहुत आग्रह किया, तो लौटा। इंद्रदत्त वहीं सड़क पर खड़ा उस दुर्बल, दीन प्राणी को हवा के झोकों से लड़खड़ाते, वृक्षों की छाँह में विलीन होते देखता रहा। शायद यह निश्चय करना चाहता था कि वह कोई देवता है या मनुष्य !

प्रभु सेवक ने घर आते ही मकानों का ज़िक्र छेड़ दिया। जॉन सेवक यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए कि अब इसने कारख़ाने की ओर ध्यान देना शुरू किया। बोले—"हाँ, मकानों का बनाना बहुत ज़रूरी है। इंजीनियर से कहो, एक नक़शा बनाएँ। मैं प्रबंधकारिणी समिति के सामने इस प्रस्ताव को रक्खूँगा। कुलियों के लिये अलग-अलग मकान बनवाने की ज़रूरत नहीं। लंबे-लंबे बैरक बनवा दिए जायँ, ताकि एक-एक कमरे में १०-१२ मज़दूर रह सकें।"

प्रभु सेवक—"लेकिन बहुत-से कुली ऐसे भी तो होंगे, जो बाल-बच्चों के साथ रहना चाहेंगे।"

मिसेज़ सेवक—"कुलियों के बाल-बच्चों को वहाँ जगह दी जायगी, तो एक शहर आबाद हो जायगा। तुम्हें उनसे काम लेना है कि उन्हें बसाना। है जैसे फ़ौज के सिपाही रहते हैं, उसी तरह कुली भी रहेंगे। हाँ, एक छोटा-सा चर्च ज़रूर होना चाहिए। पादरी के लिये एक मकान होना भी ज़रूरी है।"

ईश्वर सेवक—"ख़ुदा तुम्हें सलामत रक्खे बेटी, तेरी यह राय मुझे बहुत पसंद आई। कुलियों के लिये धार्मिक भोजन शारीरिक भोजन से कम आवश्यक नहीं। प्रभु मसीह, मुझे अपने दामन में छिपा। कितना सुंदर प्रस्ताव है! चित्त प्रसन्न हो गया। वह दिन कब आएगा, जब कुलियों के हृदय मसीह के उपदेशों से तृप्त हो जायँगे।"

जॉन सेवक—"लेकिन यह तो विचार कीजिए कि मैं यह सांप्रदायिक प्रस्ताव समिति के सम्मुख कैसे रख सकूँगा। मैं अकेला तो सब कुछ नहीं हूँ। अन्य मेंबरों ने विरोध किया, तो उन्हें क्या जवाब दूँगा? मेरे

सिवा समिति में और कोई क्रिश्चियन नहीं है। नहीं, मैं इस प्रस्ताव को कदापि समिति के सामने न रक्खूँगा। आप स्वयं समझ सकते हैं कि इस प्रस्ताव में कितना धार्मिक पक्षपात भरा हुआ है!"

मिसेज़ सेवक—"जब कोई धार्मिक प्रश्न आता है, तो तुम उसमें ख़्वाहमख़्वाह मीन-मेख निकालने लगते हो। हिंदू-कुली तो तुरंत किसी वृक्ष के नीचे दो-चार ईंट-पत्थर रखकर जल चढ़ाना शुरू कर देंगे, मुसलमान लोग भी खुले मैदान में नमाज़ पढ़ लेंगे, तो फिर चर्च से किसी को क्या आपत्ति हो सकती है!"

ईश्वर सेवक—"प्रभु मसीह, मुझ पर अपनी दया-दृष्टि कर। बाइबिल के उपदेश प्राणिमात्र के लिये शांतिप्रद हैं। उनके प्रचार में किसी को कोई एतराज़ नहीं हो सकता। और, अगर एतराज़ हो भी, तो तुम इस दलील से उसे रद कर सकते हो कि राजा का धर्म भी राज़ा है। आख़िर सरकार ने धर्म-प्रचार का विभाग खोला है, तो कौन एतराज़ करता है, और करे भी, तो कौन उसे सुनता है? मैं आज ही इस विषय को चर्च में पेश करूँगा, और अधिकारियों को मजबूर करूँगा कि वे कंपनी पर अपना दबाव डालें। मगर यह तुम्हारा काम है, मेरा नहीं; तुम्हें ख़ुद इन बातों का ख़याल होना चाहिए। न हुए मि० क्लार्क इस वक़्त!"

मिसेज़ सेवक—"वह होते, तो कोई दिक़्क़त ही न होती।"

जॉन सेवक—"मेरी समझ में नहीं आता कि मैं इस तजवीज़ को कैसे पेश करूँगा। अगर कंपनी कोई मंदिर या मस्जिद बनवाने का निश्चय करती, तो मैं भी चर्च बनवाने पर ज़ोर देता। लेकिन जब तक और लोग अग्रसर न हों, मैं कुछ नहीं कर सकता, और न करना उचित ही समझता हूँ।"

ईश्वर सेवक—"हम औरों के पीछे-पीछे क्यों चलें? हमारे हाथों में दीपक है, कंधे पर लाठी है, कमर में तलवार है, पैरों में शक्ति है, हम क्यों आगे न चलें? क्यों दूसरों का मुँह देखें?"

मि० जॉन सेवक ने पिता से और ज़्यादा तर्क-वितर्क करना व्यर्थ समझा। भोजन के पश्चात् वह आधी रात तक प्रभु सेवक के साथ बैठे हुए भिन्न-भिन्न रूप से नक़्शे बनाते-बिगाड़ते रहे—किधर की ज़मीन ली जाय, कितनी ज़मीन काफ़ी होगी, कितना व्यय होगा, कितने मकान बनेंगे। प्रभु सेवक हाँ-हाँ करता जाता था। इन बातों में मन न लगता था। कभी समाचार-पत्र देखने लगता, कभी कोई किताब उलटने-पलटने लगता, कभी उठकर बरामदे में चला जाता। लेकिन धुन सूक्ष्मदर्शी नहीं होती। व्याख्याता अपनी वाणी के प्रवाह में यह कब देखता है कि श्रोताओं में कितनों की आँखें खुली हुई हैं। प्रभु सेवक को इस समय एक नया शीर्षक सूझा था, और उस पर अपने रचना-कौशल की छटा दिखाने के लिये वह अधीर हो रहा था। नई-नई उपमाएँ, नई-नई सूक्तियाँ, किसी जलधारा में बहकर आनेवाले फूलों के सदृश उसके मस्तिष्क में दौड़ती चली आती थीं, और वह उनका संचय करने के लिये उकता रहा था; क्योंकि एक बार आकर, एक बार अपनी झलक दिखाकर, वे सदैव के लिये विलुप्त हो जाती हैं। बारह बजे तक वह इसी संकट में पड़ा रहा। न बैठते बनता था, न उठते। यहाँ तक कि उसे झपकियाँ आने लगीं। जॉन सेवक ने भी अब विश्राम करना उचित समझा। लेकिन जब प्रभु सेवक पलँग पर गया, तो निद्रादेवी रूठ चुकी थीं। कुछ देर तक तो उसने देवी को मनाने का प्रयत्न किया, फिर दीपक के सामने बैठकर उसी विषय पर पद्य-रचना करने लगा। एक क्षण में वह किसी दूसरे ही जगत् में था। वह ग्रामीणों की भाँति सराफ़े में पहुँचकर उसकी चमक-दमक पर लट्टू न हो जाता था। यद्यपि उस जगत् की प्रत्येक वस्तु रसमयी, सुरभित, नेत्र-मधुर, मनोहर मालूम होती थी, पर कितनी ही वस्तुओं को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता था कि उन पर केवल सुनहरा आवरण चढ़ा हुआ है; वास्तव में वे या तो पुरानी हैं, अथवा कृत्रिम। हाँ; जब उसे वास्तव में कोई नया रत्न मिल जाता था,

तो उसकी मुख-श्री प्रज्वलित हो जाती थी। रचयिता अपनी रचना का सबसे चतुर पारखी होता है। प्रभु सेवक की कल्पना कभी इतनी ऊँची न उड़ी थी। एक-एक पद्य लिखकर वह उसे स्वर से पढ़ता और झूमता। जब कविता समाप्त हो गई, तो वह सोचने लगा—देखूँ, इसका कवि-समाज कितना आदर करता है। संपादकों की प्रशंसा का तो कोई मूल्य नहीं। उनमें बहुत कम ऐसे हैं, जो कविता के मर्मज्ञ हों। किसी नए, अपरिचित कवि की सुंदर-से-सुंदर कविता स्वीकार न करेंगे, पुराने कवियों की सड़ी-गली, खोगीर की भरती, सब कुछ शिरोधार्य कर लेंगे। कवि मर्मज्ञ होते हुए भी कृपण होते हैं। छोटे-मोटे तुकबंदी करनेवालों की तारीफ़ भले ही कर दें; लेकिन जिसे अपना प्रतिद्वंद्वी समझते हैं, उसके नाम से कानों पर हाथ रख लेते हैं। कुँवर साहब तो ज़रूर फड़क जायँगे। काश विनय यहाँ होते, तो मेरी क़लम चूम लेते। कल कुँवर साहब से कहूँगा कि मेरा संग्रह प्रकाशित करा दीजिए। नवीन युग के कवियों में तो किसी को मुझसे टक्कर लेने का दावा हो नहीं सकता, और पुराने ढंग के कवियों से मेरा कोई मुक़ाबला नहीं। मेरे और उनके क्षेत्र अलग हैं। उनके यहाँ भाषा-लालित्य है, पिंगल की कोई भूल नहीं, खोजने पर भी कोई दोष न मिलेगा, लेकिन उपज का नाम नहीं, मौलिकता का निशान नहीं, वही चबाए हुए कौर चबाते हैं, विचारोत्कर्ष का पता नहीं होता। दस-बीस पद्य पढ़ जाओ, तो कहीं एक बात मिलती है, यहाँ तक कि उपमाएँ भी वही पुरानी-धुरानी, जो प्राचीन कवियों ने बाँध रक्खी हैं। मेरी भाषा इतनी मँजी हुई न हो, लेकिन भरती के लिये मैंने एक पंक्ति भी नहीं लिखी। फ़ायदा ही क्या?

प्रातःकाल वह मुँह-हाथ धो कविता जेब में रख, बिना जलपान किए घर से चला, तो जॉन सेवक ने पूछा—"क्या जलपान न करोगे? इतने सबेरे कहाँ जाते हो?"

प्रभु सेवक ने रुखाई से उत्तर दिया—"ज़रा कुँवर साहब की तरफ़ जाता हूँ।"

जॉन सेवक—"तो उनसे कल के प्रस्ताव के संबंध में बातचीत करना। अगर वह सहमत हो जायँ, तो फिर किसी को विरोध करने का साहस न होगा।"

मिसेज़ सेवक—"वही चर्च के विषय में न?"

जॉन सेवक—"अजी नहीं, तुम्हें अपने चर्च ही की पड़ी हुई है। मैंने निश्चय किया है कि पाँड़ेपुर की बस्ती खाली करा ली जाय, और वहाँ कुलियों के मकान बनवाए जायँ। उससे अच्छी वहाँ कोई दूसरी जगह नहीं नज़र आती।"

प्रभु सेवक—"रात को आपने उस बस्ती को लेने की चर्चा न की थी?"

जॉन सेवक—"नहीं, आओ ज़रा यह नक़्शा देखो। बस्ती के बाहर किसी तरफ़ काफ़ी ज़मीन नहीं है। एक तरफ़ सरकारी पागलखाना है, दूसरी तरफ़ रायसाहब का बाग़, तीसरी तरफ़ हमारी मिल। बस्ती के सिवा और जगह ही कहाँ है? और, बस्ती ही कौन-सी बड़ी! मुश्किल से १५-२० या अधिक-से-अधिक ३० घर होंगे। उनका मुआवज़ा देकर ज़मीन लेने की क्यों न कोशिश की जाय।"

प्रभु सेवक—"अगर बस्ती को उजाड़कर मज़दूरों के लिये मकान बनवाने हैं, तो रहने ही दीजिए; किसी-न-किसी तरह गुज़र तो हो ही रहा है।"

जॉन सेवक—"अगर ऐसी बस्तियों की रक्षा का विचार किया गया होता, तो आज यहाँ एक बँगला भी न नज़र आता। ये बँगले ऊसर में नहीं बने हैं।"

प्रभु सेवक—"मुझे ऐसे बँगले से झोपड़ा ही पसंद है, जिसके लिये कई ग़रीबों के घर गिराने पड़ें। मैं कुँवर साहब से इस विषय में कुछ न कहूँगा, आप ख़ुद कहिएगा।"

जॉन सेवक—"यह तुम्हारी अकर्मण्यता है। इसे संतोष और दया कहकर तुम्हें धोखे में न डालूँगा। तुम जीवन की सुख-सामग्रियाँ तो चाहते हो, लेकिन उन सामग्रियों के लिये जिन साधनों की ज़रूरत है, उनसे दूर भागते हो। हमने तुम्हें क्रियात्मक रूप से कभी धन और विभव से घृणा करते नहीं देखा। तुम अच्छे-से-अच्छा मकान, अच्छे-से-अच्छा भोजन, अच्छे-से-अच्छा वस्त्र चाहते हो, लेकिन बिना हाथ-पैर हिलाए ही चाहते हो कि कोई तुम्हारे मुँह में शहद और शर्बत टपका दे।"

प्रभु सेवक—"रस्म-रिवाज से विवश होकर मनुष्य को बहुधा अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करना पड़ता है।"

जॉन सेवक—"जब सुख-भोग के लिये तुम रस्म-रिवाज से विवश हो जाते हो, तो सुख-भोग के साधनों के लिये क्यों उन्हीं प्रथाओं से विवश नहीं होते? तुम मन और वचन से वर्तमान सामाजिक प्रणाली की कितनी ही उपेक्षा क्यों न करो, मुझे ज़रा भी आपत्ति न होगी। तुम इस विषय पर व्याख्यान दो, कविताएँ लिखो, निबंध रचो, मैं ख़ुश होकर उन्हें पढ़ूँगा, और तुम्हारी प्रशंसा करूँगा; लेकिन कर्मक्षेत्र में आकर उन भावों को उसी भाँति भूल जाओ, जैसे अच्छे-से-अच्छा सूट पहनकर मोटर पर सैर करते समय तुम त्याग, संतोष और आत्मनिग्रह को भूल जाते हो।"

प्रभु सेवक और कितने ही विलास-भोगियों की भाँति सिद्धांत-रूप से समवाद के क़ायल थे। जिन परिस्थितियों में उनका लालन-पालन हुआ था, जिन संस्कारों से उनका मानसिक और आत्मिक विकास हुआ था, उनसे मुक्त हो जाने के लिये जिस नैतिक साहस की, उद्दंडता की ज़रूरत है, उससे वह रहित थे। वह विचार-क्षेत्र में त्याग के भावों को स्थान देकर प्रसन्न होते थे, और उन पर गर्व करते थे। उन्हें शायद कभी सूझा ही न था कि इन भावों को व्यवहार-रूप में भी लाया जा सकता है। वह इतने संयमशील न थे कि अपनी विलासिता को उन भावों पर बलिदान कर देते। साम्यवाद उनके लिये मनोरंजन का एक विषय था, और बस।

आज तक कभी किसी ने उनके आचरण की आलोचना न की थी, किसी ने उनको व्यंग्य का निशाना न बनाया था, और मित्रों पर अपने विचार-स्वातंत्र्य की धाक जमाने के लिये उनके विचार काफ़ी थे। कुँवर भरतसिंह के संयम और विराग का उन पर इसलिये असर न होता था कि वह उन्हें उच्चतर श्रेणी का मनुष्य समझते थे। अशर्फ़ियों की थैली मख़मल की हो या खद्दर की, अधिक अंतर नहीं। पिता के मुख से यह व्यंग्य सुनकर ऐसा तिलमिला उठे, मानो चाबुक पड़ गया हो। आग चाहे फूस को न जला सके, लोहे की कील मिट्टी में चाहे न समा सके, काँच चाहे पत्थर की चोट से न टूट सके, व्यंग्य विरले ही कभी हृदय को प्रज्वलित करने, उसमें चुभने और उसे चोट पहुँचाने में असफल होता है, विशेष करके जब वह उस प्राणी के मुख से निकले, जो हमारे जीवन को बना या बिगाड़ सकता है। प्रभु सेवक को मानो काली नागिन ने डस लिया, जिसके काटे को लहर भी नहीं आती। उनकी सोई हुई लज्जा जाग उठी। अपनी अधोगति का ज्ञान हुआ। कुँवर साहब के यहाँ जाने को तैयार थे, गाड़ी तैयार कराई थी; पर वहाँ नहीं गए। आकर अपने कमरे में बैठ गए। उनकी आँखें भर आईं, इस वजह से नहीं कि मैं इतने दिनों तक भ्रम में पड़ा रहा, बल्कि इस ख़याल से कि पिताजी को मेरा पालन-पोषण अखरता है—यह लताड़ पाकर मेरे लिये डूब मरने की बात होगी, अगर मैं उनका आश्रित बना रहूँ। मुझे स्वयं अपनी जीविका का प्रश्न हल करना चाहिए। इन्हें क्या मालूम नहीं था कि मैं प्रथाओं से विवश होकर ही इस विलास-वासना में पड़ा हुआ हूँ? ऐसी दशा में इनका मुझे ताना देना घोर अन्याय है। इतने दिनों तक कृत्रिम जीवन व्यतीत करके अब मेरे लिये अपना रूपांतर कर लेना असंभव है। यही क्या कम है कि मेरे मन में ये विचार पैदा हुए। इन विचारों के रहते हुए कम-से-कम मैं औरों की भाँति स्वार्थांध और धन-लोलुप तो नहीं हो सकता। लेकिन मैं व्यर्थ इतना खेद कर रहा हूँ। मुझे तो प्रसन्न होना

चाहिए कि पापा ने वह काम कर दिया, जो सिद्धांत और विचार से न हुआ था। अब मुझे उनसे कुछ कहने-सुनने की ज़रूरत नहीं। उन्हें शायद मेरे जाने से दुख भी न होगा, उन्हें खूब मालूम हो गया है कि मेरी ज़ात से उनकी धन-तृष्णा तृप्त नहीं हो सकती। आज यहाँ से डेरा कूच है, यही निश्चय है। चलकर कुँवर साहब से कहता हूँ, मुझे भी स्वयंसेवकों में ले लीजिए। कुछ दिनों उस जीवन का आनंद भी उठाऊँ। देखूँ, मुझमें और भी कोई योग्यता है, या केवल पद्य-रचना ही कर सकता हूँ। अब गिरि-शृंगों की सैर करूँगा, देहातों में घूमूँगा, प्राकृतिक सौंदर्य की उपासना करूँगा, नित्य नया दाना, नया पानी, नई सैर, नए दृश्य, इससे ज़्यादा आनंदप्रद और कौन जीवन हो सकता है। कष्ट भी होंगे, धूप है, वर्षा है, सरदी है, भयंकर जंतु हैं। पर कष्टों से मैं कभी भयभीत नहीं हुआ। उलझन तो मुझे गृहस्थी के झंझटों से होती है। यहाँ कितने अपमान सहने पड़ते हैं। रोटियों के लिये दूसरों की ग़ुलामी! अपनी इच्छाओं को पराधीन बना देना! नौकर अपने स्वामी को देखकर कैसा दबक जाता है, उसके मुख-मंडल पर कितनी दीनता, कितना भय छा जाता है। न, मैं अपनी स्वतंत्रता की अब से ज़्यादा इज़्ज़त करना सीखूँगा।

दोपहर को जब घर के सब प्राणी पंखों के नीचे आराम से सोए, तो प्रभु सेवक ने चुपके से निकलकर कुँवर साहब के भवन का रास्ता लिया। पहले तो जी में आया कि कपड़े उतार दूँ, और केवल एक कुरता पहनकर चला जाऊँ। पर इन फटे हालों घर से कभी न निकला था। वस्त्र-परिवर्तन के लिये कदाचित् विचार-परिवर्तन से भी अधिक नैतिक बल की ज़रूरत होती है। उसने केवल अपनी कविताओं की कापी ले ली, और चल खड़ा हुआ। उसे ज़रा भी खेद न था, ज़रा भी ग्लानि न थी। ऐसा ख़ुश था, मानो क़ैद से छूटा है—"आप लोगों को अपनी दौलत मुबारक हो। पापा ने मुझे बिलकुल निर्लज्ज, आत्मसम्मान-हीन,

विलास-लोलुप समझ रक्खा है, तभी तो ज़रा-सी बात पर उबल पड़े। अब उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं बिलकुल मुरदा नहीं हूँ।"

कुँवर साहब दोपहर को सोने के आदी नहीं थे। फ़र्श पर लेटे कुछ सोच रहे थे। प्रभु सेवक जाकर बैठ गए। कुँवर साहब ने कुछ न पूछा, कैसे आए, क्यों उदास हो? आध घंटे तक बैठे रहने के बाद भी प्रभु सेवक को उनसे अपने विषय में कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी, कोई भूमिका ही न सूझती थी—"यह महाशय आज गुम-सुम क्यों हैं? क्या मेरी सूरत से ताड़ तो नहीं गए कि कुछ स्वार्थ लेकर आया है? यों तो मुझे देखते ही खिल उठते थे, दौड़कर छाती से लगा लेते थे, आज मुख़ातिब ही नहीं होते। परमुखापेक्षी होने का यही दंड है। मैं भी घर से चला, तो ठीक दोपहर को, जब चिड़ियाँ तक घोंसले से नहीं निकलतीं। आना ही था, तो शाम को आता। इस जलती हुई धूप में कोई ग़रज़ का बावला ही घर से निकल सकता है। ख़ैर, यह पहला अनुभव है।" वह निराश होकर चलने के लिये उठे कि भरतसिंह बोले—"क्यों-क्यों, जल्दी क्या है? क्या इसलिये कि मैंने बातें नहीं कीं? बातों की कमी नहीं है; इतनी बातें तुमसे करना है कि समझ में नहीं आता, शुरू क्योंकर करूँ! तुम्हारे विचार में विनय ने रियासत का पक्ष लेने में भूल की?"

प्रभु सेवक ने द्विविधा में पड़कर कहा—"इस पर भिन्न-भिन्न पहलुओं से विचार किया जा सकता है।"

कुँवर—"इसका आशय यह है कि बुरा किया। उनकी माता का भी यही विचार है। वह तो इतनी चिढ़ी हुई हैं कि उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहतीं। लेकिन मेरा विचार है कि उसने जिस नीति का अनुसरण किया है, उस पर उसे लज्जित होने का कोई कारण नहीं। कदाचित् उन दशाओं में मैं भी यही करता। सोफ़ी से उसे प्रेम न होता, तो भी उस अवसर पर जनता ने जो विद्रोह किया, वह केवल

साम्यवाद के सिद्धांतों को हिला देने को काफ़ी था। पर जब यह सिद्ध है कि सोफ़िया का अनुराग उसके रोम-रोम में समाया हुआ है, तो उसका आचरण क्षम्य ही नहीं, सर्वथा स्तुत्य है। वह धर्म केवल जत्थेबंदी है, जहाँ अपनी बिरादरी से बाहर विवाह करना वर्जित हो, क्योंकि इससे उसकी क्षति होने का भय है। धर्म और ज्ञान, दोनो एक हैं, और इस दृष्टि से संसार में केवल एक धर्म है। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बौद्ध, ये धर्म नहीं हैं, भिन्न-भिन्न स्वार्थों के दल हैं, जिनसे हानि के सिवा आज तक किसी को लाभ नहीं हुआ। अगर विनय इतना भाग्यवान् हो कि सोफ़िया को विवाह-सूत्र में बाँध सके, तो कम-से-कम मुझे ज़रा भी आपत्ति न होगी।"

प्रभु सेवक—"मगर आप जानते हैं, इस विषय में रानीजी को जितना दुराग्रह है, उतना ही मामा को भी है।"

कुँवर—"इसका फल यह होगा कि दोनो का जीवन नष्ट हो जायगा। ये दोनो अमूल्य रत्न धर्म के हाथों मिट्टी में मिल जायँगे।"

प्रभु सेवक—"मैं तो खुद इन झगड़ों से इतना तंग आ गया हूँ कि मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है, घर से अलग हो जाऊँ। घर के सांप्रदायिक जलवायु और सामाजिक बंधनों से मेरी आत्मा दुर्बल हुई जा रही है। घर से निकल जाने के सिवा अब मुझे और कुछ नहीं सूझता। मुझे व्यवसाय से पहले ही बहुत प्रेम न था, और अब, इतने दिनों के अनुभव के बाद, तो मुझे उससे घृणा हो गई है।"

कुँवर—"लेकिन व्यवसाय तो नई सभ्यता का सबसे बड़ा अंग है, तुम्हें उससे क्यों इतनी अरुचि है?"

प्रभु सेवक—"इसलिये कि यहाँ सफलता प्राप्त करने के लिये जितनी स्वार्थपरता और नर-हत्या की ज़रूरत है, वह मुझसे नहीं हो सकती। मुझमें इतना उत्साह ही नहीं है। मैं स्वभावतः एकांतप्रिय हूँ, और जीवन-संग्राम में उससे अधिक नहीं पड़ना चाहता, जितना मेरी कला के

पूर्ण विकास और उसमें यथार्थता का समावेश करने के लिये काफ़ी हो। कवि प्रायः एकांतसेवी हुआ किए हैं, पर इससे उनकी कवित्व-कला में कोई दूषण नहीं आने पाया। संभव था, वे जीवन का विस्तृत और पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करके अपनी कविता को और भी मार्मिक बना सकते, लेकिन साथ ही यह शंका भी थी कि जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होने से उनकी कवि-कल्पना शिथिल हो जाती। होमर अंधा था, सूर भी अंधा था, मिल्टन भी अंधा था, पर ये सभी साहित्य-गगन के उज्ज्वल नक्षत्र हैं; तुलसी, वाल्मीकि आदि महाकवि संसार से अलग, कुटियों में, बसनेवाले प्राणी थे, पर कौन कह सकता है कि उनकी एकांतसेवा से उनकी कवित्व-कला दूषित हो गई! नहीं कह सकता कि भविष्य में मेरे विचार क्या होंगे, पर इस समय द्रव्योपासना से बेज़ार हो रहा हूँ।"

कुँवर—"तुम तो इतने विरक्त कभी न थे, आख़िर बात क्या है?"

प्रभु सेवक ने झेंपते हुए कहा—"अब तक जीवन के कुटिल रहस्यों को न जानता था। पर अब देख रहा हूँ कि वास्तविक दशा उससे कहीं जटिल है, जितनी मैं समझता था। व्यवसाय कुछ नहीं है, अगर नर-हत्या नहीं है। आदि से अंतः तक मनुष्यों को पशु समझना और उनसे पशुवत् व्यवहार करना इसका मूल-सिद्धांत है। जो यह नहीं कर सकता, वह सफल व्यवसायी नहीं हो सकता। कारख़ाना अभी बनकर तैयार नहीं हुआ, और भूमि-विस्तार की समस्या उपस्थित हो गई। मिस्त्रियों और कारीगरों के लिये बस्ती में रहने की जगह नहीं है। मज़दूरों की संख्या बढ़ेगी, तब वहाँ निर्वाह ही न हो सकेगा। इसलिये पापा की राय है कि उसी क़ानूनी दफ़ा के अनुसार पाँड़ेपुर पर भी अधिकार कर लिया जाय, और बाशिंदों को मुआवज़ा देकर अलग कर दिया जाय। राजा महेंद्र-कुमार की पापा से मित्रता है ही, और वर्तमान ज़िलाधीश मि० सेनापति रईसों से उतना ही मेल-जोल रखते हैं, जितना मि० क्लार्क उनसे दूर रहते थे। पापा का प्रस्ताव बिना किसी कठिनाई के स्वीकृत हो जायगा,

और मुहल्लेवाले ज़बरदस्ती निकाल दिए जायँगे। मुझसे यह अत्याचार नहीं देखा जाता। मैं इसे रोक नहीं सकता हूँ कि उससे अलग रहूँ।"

कुँवर—"तुम्हारे विचार में कंपनी को नफ़ा होगा ?"

प्रभु सेवक—"मैं समझता हूँ, पहले ही साल २५) सैकड़े नफ़ा होगा।"

कुँवर—"तो क्या तुमने कारखाने से अलग होने का निश्चय कर लिया ?"

प्रभु सेवक—"पक्का निश्चय कर लिया।"

कुँवर—"तुम्हारे पापा काम सँभाल सकेंगे ?"

प्रभु सेवक—"पापा ऐसे आधे दर्जन कारखानों को सँभाल सकते हैं। उनमें अद्भुत अध्यवसाय है। ज़मीन का प्रस्ताव बहुत जल्द कार्यकारिणी समिति के सामने आएगा। मेरी आपसे यह विनीत प्रार्थना है कि आप उसे स्वीकृत न होने दें।"

कुँवर—(मुस्किराकर) "बुड्ढा आदमी इतनी आसानी से नई शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता। बूढ़ा तोता पढ़ना नहीं सीखता। मुझे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं नज़र आती कि बस्तीवालों को मुआवज़ा देकर ज़मीन ले ली जाय। हाँ, मुआवज़ा उचित होना चाहिए। जब तुम कारखाने से अलग ही हो रहे हो, तो तुम्हें इन झगड़ों से क्या मतलब ? ये तो दुनिया के धंधे हैं, होते आए हैं, और होते जायँगे।"

प्रभु सेवक—"तो आप इस प्रस्ताव का विरोध न करेंगे ?"

कुँवर—"मैं किसी ऐसे प्रस्ताव का विरोध न करूँगा, जिससे कारख़ाने को हानि हो। कारख़ाने से मेरा स्वार्थ-संबंध है, मैं उसकी उन्नति में बाधक नहीं हो सकता। हाँ, तुम्हारा वहाँ से निकल आना मेरी समिति के लिये शुभ लक्षण है। तुम्हें मालूम है, समिति के अध्यक्ष डॉक्टर गंगुली हैं; पर कुछ वृद्धावस्था और कुछ काउंसिल के कामों में व्यस्त रहने के कारण वह इस भार से मुक्त होना चाहते हैं। मेरी हार्दिक

इच्छा है कि तुम इस भार को ग्रहण करो। समिति इस समय मँझधार में है, विनय के आचरण ने उसे एक भयंकर दशा में डाल दिया है। तुम्हें ईश्वर ने विद्या, बुद्धि, उत्साह, सब कुछ दिया है। तुम चाहो, तो समिति को उबार सकते हो, और मुझे विश्वास है, तुम मुझे निराश न करोगे।"

प्रभु सेवक की आँखें सजल हो गईं। वह अपने को सम्मान के योग्य न समझते थे। बोले—"मैं इतना बड़ा उत्तरदायित्व स्वीकार करने के योग्य नहीं हूँ। मुझे भय है कि मुझ-जैसा अनुभव-हीन, आलसी प्रकृति का मनुष्य समिति की उन्नति नहीं कर सकता। यह आपकी कृपा है कि मुझे इस योग्य समझते हैं। मेरे लिये सफ़ ही काफ़ी है।"

कुँवर साहब ने उत्साह बढ़ाते हुए कहा—"तुम-जैसे आदमियों को सफ़ में रक्खूँ, तो नायकों को कहाँ से लाऊँ? मुझे विश्वास है कि कुछ दिनों डॉ० गंगुली के साथ रहकर तुम इस काम में निपुण हो जाओगे। सज्जन लोग सदैव अपनी क्षमता की उपेक्षा करते हैं, पर मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुममें अद्भुत विद्युत्-शक्ति है; उससे कहीं अधिक, जितनी तुम समझते हो। अरबी घोड़ा हल में नहीं चल सकता, उसके लिये मैदान चाहिए। तुम्हारी स्वतंत्र आत्मा कारख़ाने में संकुचित हो रही थी, संसार के विस्तीर्ण क्षेत्र में निकलकर उसके पर लग जायँगे। मैंने विनय को इस पद के लिये चुन रक्खा था, लेकिन उसकी वर्तमान दशा देखकर मुझे अब उस पर विश्वास नहीं रहा। मैं चाहता हूँ, इस संस्था को ऐसी सुव्यवस्थित दशा में छोड़ जाऊँ कि यह निर्विघ्न अपना काम करती रहे। ऐसा न हुआ, तो मैं शांति से प्राण भी न त्याग सकूँगा। तुम्हारे ऊपर मुझे भरोसा है, क्योंकि तुम निस्स्वार्थ हो। प्रभु, मैंने अपने जीवन का बहुत दुरुपयोग किया है। अब पीछे फिरकर उस पर नज़र डालता हूँ, तो उसका कोई भाग ऐसा नहीं दिखाई देता, जिस

र गर्व कर सकूँ। एक मरुस्थल है, जहाँ हरियाली का निशान नहीं। स संस्था पर मेरे जीवन-पर्यंत के दुष्कृत्यों का बोझ लदा हुआ है। यही मेरे प्रायश्चित्त का साधन और मेरे मोक्ष का मार्ग है। मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि मेरा सेवक-दल संसार में कुछ कर दिखाए, उसमें सेवा का अनुराग हो, बलिदान का प्रेम हो, जातीय गौरव का अभिमान हो। जब मैं ऐसे प्राणियों को देश के लिये प्राण-समर्पण करते हुए देखता हूँ, जिनके पास प्राण के सिवा और कुछ नहीं है, तो मुझे अपने ऊपर रोना आता है कि मैंने सब कुछ रखते हुए भी कुछ न किया। मेरे लिये इससे घातक और कोई चोट नहीं है कि यह संस्था विफल-मनोरथ हो। मैं इसके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हूँ। मैंने दस लाख रुपए इस खाते में जमा कर दिए हैं, और इच्छा है कि इस पर प्रतिवर्ष १ लाख और बढ़ाता जाऊँ। इतने विशाल देश के लिये १०० सेवक बहुत कम हैं। कम-से-कम ५०० आदमी होने चाहिए। अगर दस साल भी और जीवित रहा, तो शायद मेरी यह मनोकामना पूरी हो जाय। इंद्रदत्त में और सब गुण तो हैं, पर वह उद्दंड स्वभाव का आदमी है। इस कारण मेरा मन उस पर नहीं जमता। मैं तुमसे साग्रह……"

डॉक्टर गंगुली आ पहुँचे, और प्रभु सेवक को देखकर बोले—"अच्छा, तुम यहाँ कुँवर साहब को मंत्र दे रहा है, तुम्हारा पापा महेंद्रकुमार को पट्टी पढ़ा रहा है। पर मैंने साफ़-साफ़ कह दिया कि ऐसा बात नहीं हो सकता। तुम्हारा मील है, उसका हानि-लाभ तुमको और तुम्हारे हिस्से-दारों को होगा, गरीबों को क्यों उनके घर से निकालता है; पर मेरी कोई नहीं सुनता। हम कड़ुवा बात कहता है न, वह काहे को अच्छा लगेगा। मैं काउंसिल में इस पर प्रश्न करूँगा। यह कोई बात नहीं है कि आप लोग अपने स्वार्थ के लिये दूसरों पर अन्याय करें। सहर का रईस लोग हमसे नाराज हो जायगा, हमको परवा नहीं है। हम तो वहाँ वही

करेगा, जो हमारा आत्मा कहेगा। तुमको दूसरे किसिम का आदमी चाहिए, तो बाबा, हमसे इस्तीफा ले लो। पर हम पाँडेपुर को उजड़ने न देगा।"

कुँवर—"यह बेचारे तो खुद उस प्रस्ताव का विरोध करते हैं। आज इसी बात पर पिता और पुत्र में मनमुटाव भी हो गया है। यह घर से चले आए हैं, और कारखाने से कोई संपर्क नहीं रखना चाहते।"

गंगुली—"अच्छा, ऐसा बात है। बहुत अच्छा हुआ। ऐसा विचारवान् लोग मील का काम नहीं कर सकता। ऐसा लोग मील में जायगा, तो हम लोग कहाँ से आदमी लाएगा? प्रभु, हम बूढ़ा हो गया, कल मर जायगा। तुम हमारा काम क्यों नहीं सँभालता? हमारा सेवक-दल तुम्हारा रेस्पेक्ट करता है। तुम हमें इस भार से मुक्त कर सकता है। बुड्ढा आदमी और सब कुछ कर सकता है, उत्साह तो उसके बस की बात नहीं! हम तुमको अब न छोड़ेगा। काउंसिल में इतना काम है कि हमको इस काम के लिये अवकाश ही नहीं मिलता। हम काउंसिल में न गया होता, तो उदयपुर में यह सब कुछ नहीं होने पाता। हम जाकर सबको शांत कर देता। तुम इतना विद्या पढ़कर उसको धन कमाने में लगाएगा, छिः-छिः!"

प्रभु सेवक—"मैं तो सेवकों में भरती होने के लिये घर से आया ही हूँ, पर मैं उसका नायक होने के योग्य नहीं हूँ। वह पद आप ही को शोभा देता है। मुझे सिपाहियों ही में रहने दीजिए। मैं इसी को अपने लिये गौरव की बात समझूँगा।"

गंगुली—(हँसकर) "हः-हः, काम तो अःयोग्य ही लोग करता है। योग्य आदमी काम नहीं करता, वह बस बातें करता है। योग्य आदमी का आशय है बातूनी आदमी, खाली बात, बात, जो जितना ही बात करता है, उतना योग्य होता है। वह काम का ढंग बता देगा; कहाँ कौन भूल हो गया, यह बता देगा; पर काम नहीं कर सकता। हम ऐसा योग्य

आदमी नहीं चाहता। हमारे यहाँ बातें करने का काम नहीं है। हम तो ऐसा आदमी चाहता है, जो मोटा खाय, मोटा पहने, गली-गली, नगर-नगर दौड़े, गरीबों का उपकार करे, कठिनाइयों में उनका मदद करे। तो कब से आएगा?"

प्रभु सेवक—"मैं तो अभी से हाज़िर हूँ।"

गंगुली—(मुस्किराकर) "तो पहला लड़ाई तुमको अपने पापा से लड़ना पड़ेगा।"

प्रभु सेवक—"मैं समझता हूँ, पापा स्वयं इस प्रस्ताव को न उठाएँगे।"

गंगुली—"नहीं-नहीं, वह कभी अपना बात नहीं छोड़ेगा। हमको उससे युद्ध करना पड़ेगा, तुमको उससे लड़ना पड़ेगा। हमारी संस्था न्याय को सर्वोपरि मानती है, न्याय हमको माता-पिता से, धन-दौलत से, नाम और जस से प्यारा है। हम और सब कुछ छोड़ देगा, न्याय को न छोड़ेगा, यही हमारा व्रत है। तुमको खूब सोच-विचारकर तब यहाँ आना होगा।"

प्रभु सेवक—"मैंने खूब सोच-विचार लिया है।"

गंगुली—"नहीं-नहीं, जल्दी नहीं है, खूब सोच-विचार लो, यह तो अच्छा नहीं होगा कि एक बार आकर तुम फिर भाग जाय।"

प्रभु सेवक—"अब मृत्यु ही मुझे इस संस्था से अलग कर सकती है।"

गंगुली—"मि० जॉन सेवक तुमसे कहेगा, हम न्याय-अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ता, तुम हमारा बेटा है, हमारी आज्ञा पालन करना तुम्हारा धर्म है, तो तुम क्या जवाब देगा? (हँसकर) मेरा बाप ऐसा कहता, तो मैं उससे कभी न कहता कि हम तुम्हारा बात न मानेगा। वह हमसे बोला, हम बैरिस्टर हो जाय, हम इँगलैंड चला गया। वहाँ से बैरिस्टर होकर आ गया। कई साल तक कचहरी जाकर पेपर पढ़ा करता था। जब फ़ादर का डेथ हो गया, तो डॉक्टरी पढ़ने लगा। पिता के सामने हमको यह कहने का हिम्मत नहीं हुआ कि हम कानून नहीं पढ़ेगा।"

प्रभु सेवक—"पिता का सम्मान करना दूसरी बात है, सिद्धांत का पालन करना दूसरी बात। अगर आपके पिता कहते कि जाकर किसी के घर में आग लगा दो, तो आप आग लगा देते ?"

गंगुली—"नहीं-नहीं, कभी नहीं, हम कभी आग न लगाता, चाहे पिताजी हमीं को क्यों न जला देता। लेकिन पिता ऐसी आज्ञा दे भी तो नहीं सकता।"

सहसा रानी जाह्नवी ने पदार्पण किया, शोक और क्रोध की मूर्ति, भौंएँ झुकी हुईं, माथा सिकुड़ा हुआ, मानो स्नान करके पूजा करने जाते समय कुत्ते ने छू लिया हो। गंगुली को देखकर बोलीं—"आपकी तबियत काउंसिल से नहीं थकती, मैं तो ज़िंदगी से थक गई। जो कुछ चाहती हूँ, वह नहीं होता; जो नहीं चाहती, वही होता है। डॉक्टर साहब, सब कुछ सहा जाता है। बेटे का कुत्सित व्यवहार नहीं सहा जाता, विशेषतः ऐसे बेटे का, जिसके बनाने के लिये कोई बात उठा न रक्खी गई हो। दुष्ट जसवंतनगर के विद्रोह में मर गया होता, तो मुझे इतना दुख न होता।"

कुँवर साहब और ज़्यादा न सुन सके। उठकर बाहर चले गए। रानी ने उसी धुन में कहा—"यह मेरा दुख क्या समझेंगे! इनका सारा जीवन भोग-विलास में बीता है। आत्मसेवा के सामने इन्होंने आदर्शों की चिंता नहीं की। अन्य रईसों की भाँति सुख-भोग में लिप्त रहे। मैंने तो विनय के लिये कठिन तप किया है, उसे साथ लेकर महीनों पहाड़ों में पैदल चली हूँ, केवल इसलिये कि छुपने से ही उसे कठिनाइयों का आदी बनाऊँ। उसके एक-एक शब्द, एक-एक काम को ध्यान से देखती रही हूँ कि उसमें बुरे संस्कार न आ जायँ। अगर वह कभी नौकर पर बिगड़ा है, तो तुरंत उसे समझाया है; कभी सत्य से मुँह मोड़ते देखा, तो तुरंत तिरस्कार किया। यह मेरी व्यथा क्या जानेंगे ?"

यह कहते-कहते रानी की निगाह प्रभु सेवक पर पड़ गई, जो कोने में

खड़ा किताबें उलट-पलट रहा था। उनकी ज़बान बंद हो गई। आगे कुछ न कह सकीं। सोफ़िया के प्रति जो कठोर वचन मन में थे, वे मन ही में रह गए। केवल गंगुली से इतना बोलीं—"जाते समय मुझसे मिल लीजिएगा।" और चली गईं।

विनयसिंह आबादी में दाखिल हुए, तो सबेरा हो गया था। थोड़ी ही दूर चले थे कि एक बुढ़िया लाठी टेकती सामने से आती हुई दिखाई दी। इन्हें देखकर बोली—"बेटा, गरीब हूँ। बन पड़े, तो कुछ दे दो। धरम होगा।"

नायकराम—"सबेरे राम-नाम नहीं लेती, भीख माँगने चल खड़ी हुई। तुझे तो जैसे रात को नींद नहीं आई। माँगने को तो दिन-भर है।"

बुढ़िया—"बेटा, दुखिया हूँ।"

नायकराम—"यहाँ कौन सुखिया है। रात-भर भूखों मरे। मासूक की घुड़कियाँ खाईं। पैर तो सीधे पड़ते नहीं, तुम्हें कहाँ से पैसा दें?"

बुढ़िया—"बेटा, धूप में मुझसे चला नहीं जाता, सिर में चक्कर आ जाता है। नई-नई बिपत है भैया, भगवान उस अधम पापी विनयसिंह का बुरा करे, उसी के कारण बुढ़ापे में यह दिन देखना पड़ा; नहीं तो बेटा दूकान करता था, हम घर में रानी बनी बैठी रहती थीं, नौकर-चाकर थे, कौन-सा सुख नहीं था। तुम परदेसी हो, न जानते होगे, यहाँ दंगा हो गया था, मेरा लड़का दूकान से हिला तक नहीं, पर उस निगोड़े विनयसिंह ने सहादत दे दी कि यह भी दंगे में मिला हुआ था। पुलिस हमारे ऊपर बहुत दिनों से दाँत लगाए थी, कोई दाँव न पाती थी। यह सहादत पाते ही दौड़ आ गई, लड़का पकड़ लिया गया, और तीन साल की सजा हो गई। एक हजार जरीवाना हुआ। घर की बीस हजार की गृहस्थी तहस-नहस हो गई। घर में बहू है, छोटे बच्चे हैं, इसी तरह माँग-

जाँचकर उनको पालती-पोसती हूँ। न-जाने उस कलमुँहे ने कब का वैर निकाला !"

विनय ने जेब से एक रुपया निकालकर बुढ़िया को दिया, और आकाश की ओर देखकर ठंडी साँस ली। ऐसी मानसिक वेदना उन्हें कभी न हुई थी।

बुढ़िया ने रुपया देखा, तो चौंक पड़ी। समझी, शायद भूल से दिया है। बोली—"बेटा, यह तो रुपया है !"

विनय ने अवरुद्ध कंठ से कहा—"हाँ, ले जाओ, मैंने भूल से नहीं दिया है।"

वृद्धा आशीर्वाद देती हुई चली गई। दोनो आदमी और आगे बढ़े, तो राह में एक कुआँ मिला। उस पर पीपल का पेड़ था। एक छोटा-सा मंदिर भी बना हुआ था। नायकराम ने सोचा, यहीं हाथ-मुँह धो लें। दोनो आदमी कुएँ पर गए, तो देखा, एक विप्र महाराज पीपल के नीचे बैठे पाठ कर रहे हैं। जब वह पाठ कर चुके, तो विनय ने पूछा—"आपको मालूम है, सरदार नीलकंठ आजकल कहाँ हैं ?"

पंडितजी ने कर्कश कंठ से कहा—"हम नहीं जानते।"

विनय—"पुलिस के मंत्री तो होंगे ?"

पंडित—"कह दिया, मैं नहीं जानता।"

विनय—"मि० क्लार्क तो दौरे पर होंगे ?"

पंडित—"मैं कुछ नहीं जानता।"

नायकराम—"पूजा-पाठ में देस-दुनिया की सुध ही नहीं !"

पंडित—"हाँ, जब तक मनोकामना न पूरी हो जाय, तब तक मुझे किसी से कुछ सरोकार नहीं। सबेरे-सबेरे तुमने म्लेच्छों का नाम सुना दिया, न-जाने दिन कैसे कटेगा।"

नायकराम—"वह कौन-सी मनोकामना है ?"

पंडित—"अपने अपमान का बदला।"

नायकराम—"किससे ?"

पंडित—"उसका नाम न लूँगा। किसी बड़े रईस का लड़का है। काशी से दीनों की सहायता करने आया था। सैकड़ों घर उजाड़कर न-जाने कहाँ चल दिया। उसी के निमित्त यह अनुष्ठान कर रहा हूँ। यहाँ आधा नगर मेरा यजमान था, सेठ-साहूकार मेरा आदर करते थे। विद्यार्थियों को पढ़ाया करता था। बुराई यह थी कि नाजिम को सलाम करने न जाता था। अमलों की कोई बुराई देखता, तो मुँह पर खोलकर कह देता। इसी से सब कर्मचारी मुझसे जलते थे। पिछले दिनों जब यहाँ दंगा हुआ, तो सबों ने उसी बनारस के गुंडे से मुझ पर राजद्रोह का अपराध लगवा दिया। सजा हो गई, बेंत पड़ गए, जरीबाना हो गया, मर्यादा मिट्टी में मिल गई। अब नगर में कोई द्वार पर खड़ा नहीं होने देता। निराश होकर देवी की शरण आया हूँ। पुरश्चरण का पाठ कर रहा हूँ। जिस दिन सुनूँगा कि उस हत्यारे पर देवी ने कोप किया, उसी दिन मेरी तपस्या पूरी हो जायगी। द्विज हूँ, लड़ना-भिड़ना नहीं जानता, मेरे पास इसके सिवा और कौन-सा हथियार है।"

विनय किसी शराबखाने से निकलते हुए पकड़े जाते, तो भी इतने शर्मिंदा न होते। उन्हें अब इस ब्राह्मण की सूरत याद आई, याद आया कि मैंने ही पुलिस की प्रेरणा से इसे पकड़ा दिया था। जेब से पाँच रुपए निकाले, और पंडितजी से बोले—"यह लीजिए; मेरी ओर से भी उस नर-पिशाच के प्रति मारण-मंत्र का जाप कर दीजिएगा। उसने मेरा भी सर्वनाश किया है। मैं भी उसके खून का प्यासा हो रहा हूँ।"

पंडित—"महाराज, आपका भला होगा। शत्रु की देह में कीड़े न पड़ जायँ, तो कहिएगा कि कोई कहता था। कुत्तों की मौत मरेगा। यहाँ सारा नगर उसका दुश्मन है। अब तक इसलिये उसकी जान बची कि पुलिस उसे घेरे रहती थी। मगर कब तक ? जिस दिन अकेला

घर से निकला, उसी दिन देवी का उस पर कोप गिरा। है वह इसी राज्य में, कहीं बाहर नहीं गया है, और न अब बचकर जा ही सकता है। काल उसके सिर पर खेल रहा है। इतने दीनों की हाय क्या निष्फल हो जायगी?"

जब यहाँ से और आगे चले, तो विनय ने कहा—"पंडाजी, अब जल्दी से एक मोटर ठीक कर लो। मुझे भय लग रहा है कि कोई मुझे पहचान न ले। अपने प्राणों का इतना भय मुझे कभी न हुआ था। अगर ऐसे ही दो-एक दृश्य और सामने आए, तो शायद मैं आत्मघात कर लूँ। आह! मेरा कितना पतन हुआ है! और अब तक मैं यही समझ रहा था कि मुझसे कोई अनौचित्य नहीं हुआ। मैंने सेवा का व्रत लिया था, घर से परोपकार करने चला था। ख़ूब परोपकार किया! शायद ये लोग मुझे जीवन-पर्यंत न भूलेंगे।"

नायकराम—"भैया, भूल-चूक आदमी ही से होती है, अब उसका पछतावा न करो।"

विनय—"नायकराम, यह भूल-चूक नहीं है, ईश्वरीय विधान है; ऐसा ज्ञात होता है कि ईश्वर सद्व्रतधारियों की कठिन परीक्षा लिया करते हैं। सेवक का पद इन परीक्षाओं में सफल हुए बिना नहीं मिलता। मैं परीक्षा में गिर गया, बुरी तरह गिर गया।"

नायकराम का विचार था कि ज़रा जेल के दारोग़ा साहब का कुशल-समाचार पूछते चलें; लेकिन मौक़ा न देखा, तो तुरंत मोटर-सर्विस के दफ़्तर में गए। वहाँ मालूम हुआ कि दरबार ने सब मोटरों को एक सप्ताह के लिये रोक लिया है।

मिस्टर क्लार्क के कई मित्र बाहर से शिकार खेलने आए हुए थे। अब क्या हो? नायकराम को घोड़े पर चढ़ना न आता था, और विनय को यह उचित न मालूम होता था कि आप तो सवार होकर चलें और वह पाँव-पाँव।

नायकराम—"भैया, तुम सवार हो जाओ, मेरी कौन, अभी अवसर पड़ जाय, तो दस कोस जा सकता हूँ।"

विनय—"तो मैं ही ऐसा कौन मरा जाता हूँ। अब रात की थकावट दूर हो गई।"

दोनो आदमियों ने कुछ जलपान किया, और उदयपुर चले। आज विनय ने जितनी बात की, उतनी शायद और कभी न की थी, और वह भी नायकराम-जैसे लट्ठ गँवार से। सोफ़ी की तीव्र आलोचना अब उन्हें सर्वथा न्याय-संगत जान पड़ती थी। बोले—"पंडाजी, यह समझ लो कि अगर दरबार ने उन सब क़ैदियों को छोड़ न दिया, जो मेरी शहादत से फँसे हैं, तो मैं अपना मुँह किसी को न दिखाऊँगा। मेरे लिये यही एक आशा रह गई है। तुम घर जाकर माताजी से कह देना कि वह कितना दुखी और अपनी भूल पर कितना लज्जित था।"

नायकराम—"भैया, तुम घर न जाओगे, तो मैं भी न जाऊँगा। अब तो जहाँ तुम हो, वहीं मैं भी हूँ। जो कुछ बीतेगी, दोनो ही के सिर बीतेगी।"

विनय—"बस, तुम्हारी यही बात बुरी मालूम होती है। तुम्हारा और मेरा कौन-सा साथ है। मैं पातकी हूँ। मुझे अपने पातकों का प्रायश्चित्त करना है। तुम्हारे माथे पर कोई कलंक नहीं है। तुम अपना जीवन क्यों नष्ट करोगे? मैंने अब तक सोफ़िया को न पहचाना था। आज मालूम हुआ कि उसका हृदय कितना विशाल है। मुझे उससे कोई शिकायत नहीं है। हाँ, शिकायत केवल इस बात की है कि उसने मुझे अपना न समझा। वह अगर समझती कि यह मेरे हैं, तो मेरी एक-एक बात क्यों पकड़ती, ज़रा-ज़रा-सी बातों पर क्यों गुप्तचरों की भाँति तीव्र दृष्टि रखती! वह यह जानती है कि मैं ठुकरा दूँगी, तो यह जान पर खेल जायँगे। यह जानकर भी उसने मेरे साथ इतनी निर्दयता क्यों की? वह यह क्यों भूल गई कि मनुष्य से भूलें होती ही हैं। संभव है, अपना

समझकर ही उसने मुझे यह कठोर दंड दिया हो। दूसरों की बुराइयों की हमें परवा नहीं होती, अपनों ही को बुरी राह चलते देखकर दंड दिया जाता है। मगर अपनों को दंड देते समय इसका तो ध्यान रखना चाहिए कि आत्मीयता का सूत्र न टूटने पाए। यह सोचकर मुझे ऐसा मालूम होता है कि उसका दिल मुझसे सदैव के लिये फिर गया।"

नायकराम—"ईसाइन है न! किसी अँगरेज को गाँठेगी।"

विनय—"तुम बिलकुल बेहूदे हो, बात करने की तमीज़ नहीं। मैं कहता हूँ, वह अब उम्र-भर ब्रह्मचारिणी रहेगी। तुम उसे क्या जानो, बात समझो न बूझो, चट से कह उठे, किसी अँगरेज़ को गाँठेगी। मैं उसे कुछ-कुछ जानता हूँ। मेरे लिये उसने क्या-क्या नहीं किया, क्या-क्या नहीं सहा। जब उसका प्रेम याद आता है, तो कलेजे में ऐसी पीड़ा होती है कि कहीं पत्थरों से सिर टकराकर प्राण दे दूँ। अब वह अजेय है, उसने अपने प्रेम का द्वार बंद कर लिया। मैंने उस जन्म में न-जाने कौन-सी तपस्या की थी, जिसका सुफल इतने दिनों भोगा। अब कोई देवता बनकर भी उसके सामने आए, तो वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेगी। जन्म से ईसाइन भले ही हो, पर संस्कारों से, कर्मों से वह आर्य-महिला है। मैंने उसे कहीं का न रक्खा। आप भी डूबा, उसे भी ले डूबा। अब तुम देखना कि रियासत को वह कैसा नाकों चने चबवाती है। उसकी वाणी में इतनी शक्ति है कि आन-की-आन में रियासत का निशान मिटा सकती है।"

नायकराम—"हाँ, है तो ऐसी ही आफत की परकाला।"

विनय—"फिर वही मूर्खता की बात! मैं तुमसे कितनी बार कह चुका कि मेरे सामने उसका नाम इज़्ज़त से लिया करो। मैं उसके विषय में किसी के मुख से एक भी अनुचित शब्द नहीं सुन सकता। वह अगर मुझे भालों से छेदे, तो भी उसके प्रति मेरे मन में उपेक्षा का भाव न

आएगा। प्रेम में प्रतिकार नहीं होता। प्रेम अनंत क्षमा, अनंत उदारता, अनंत धैर्य से परिपूर्ण होता है।"

यों बातें करते हुए दोनो ने दोपहर तक आधी मंज़िल काटी। दोपहर को आराम करने लगे, तो ऐसे सोए कि शाम हो गई। रात को वहीं ठहरना पड़ा। सराय मौजूद थी, विशेष कष्ट न हुआ। हाँ, नायकराम को आज ज़िंदगी में पहली बार भंग न मिली, और वह बहुत दुखी रहे। एक तोले भंग के लिये एक से दस रुपए तक देने को तैयार थे, पर आज भाग्य में उपास ही लिखा था। चारो ओर से हारकर वह सिर थाम कुएँ की जगत पर आ बैठे, मानो किसी घर के आदमी की दाह-क्रिया करके आए हों।

विनय ने कहा—"ऐसा व्यसन क्यों करते हो कि एक दिन भी उसके बिना न रहा जाय? छोड़ो इसे, भले आदमी, व्यर्थ में प्राण दिए देते हो।"

नायकराम—"भैया, इस जनम में तो छूटती नहीं, आगे की दैव जाने। यहाँ तो मरते समय भी एक गोला सिरहाने रख लेंगे, वसीयत कर जायँगे कि एक सेर भंग हमारी चिता में डाल देना। कोई पानी देने-वाला तो है नहीं, लेकिन अगर कभी भगवान् ने वह दिन दिखाया, तो लड़कों से कह जाऊँगा कि पिंड के साथ भंग का पिंडा भी ज़रूर देना। इसका मजा वही जानता है, जो इसका सेवन करता है।"

नायकराम को आज भोजन अच्छा न लगा, नींद न आई, देह टूटती रही। गुस्से में सरायवाले को खूब गालियाँ दीं। मारने दौड़े। बनिए को डाँटा कि साफ़ शकर क्यों न दी। हलवाई से उलझ पड़े कि मिठाइयाँ क्यों खराब दीं। देख तो, तेरी क्या गत बनाता हूँ। चलकर सीधे सरदार साहब से कहता हूँ। बचा! दूकान न लुटवा दूँ, तो कहना। जानते हो, मेरा नाम नायकराम है। यहाँ तेल की गंध से घिन है। हलवाई पैरों पड़ने लगा; पर इन्होंने एक न सुनी। यहाँ तक कि धमकाकर उससे २५) वसूल किए। किंतु चलते समय विनय ने रुपए वापस करा दिए। हाँ,

हलवाई को ताकीद कर दी कि ऐसी खराब मिठाइयाँ न बनाया करे, और तेल की चीज़ के घी के दाम न लिया करे।

दूसरे दिन दोनो आदमी दस बजते-बजते उदयपुर पहुँच गए। पहला आदमी जो उन्हें दिखाई दिया, वह स्वयं सरदार साहब थे। वह टमटम पर बैठे हुए दरबार से आ रहे थे। विनय को देखते ही घोड़ा रोक दिया, और पूछा—"आप कहाँ ?"

विनय ने कहा—"यहीं तो आ रहा था।"

सरदार—"कोई मोटर न मिला ? हाँ, न मिला होगा। तो टेलीफ़ोन क्यों न कर दिया ? यहाँ से सवारी भेज दी जाती। व्यर्थ इतना कष्ट उठाया।"

विनय—"मुझे पैदल चलने का अभ्यास है, विशेष कष्ट नहीं हुआ। मैं आज आपसे मिलना चाहता हूँ, और एकांत में। आप कब मिल सकेंगे ?"

सरदार—"आपके लिये समय निश्चित करने की ज़रूरत नहीं। जब जी चाहे, चले आइएगा, बल्कि वहीं ठहरिएगा भी।"

विनय—"अच्छी बात है।"

सरदार साहब ने घोड़े को चाबुक लगाया, और चल दिए। यह न हो सका कि विनय को भी बिठा लेते, क्योंकि उनके साथ नायकराम को भी बैठाना पड़ता। विनयसिंह ने एक ताँगा किया, और थोड़ी देर में सरदार साहब के मकान पर जा पहुँचे।

सरदार साहब ने पूछा—"इधर कई दिनों से आपका कोई समाचार नहीं मिला। आपके साथ के और लोग कहाँ हैं ? कुछ मिसेज़ क्लार्क का पता चला ?"

विनय—"साथ के आदमी तो पीछे हैं; लेकिन मिसेज़ क्लार्क का कहीं पता न चला, सारा परिश्रम विफल हो गया। वीरपालसिंह की तो मैंने टोह लगा ली, उसका घर भी देख आया। पर मिसेज़ क्लार्क की खोज न मिली।"

सरदार साहब ने विस्मित होकर कहा—"यह आप क्या कह रहे हैं? मुझे जो सूचना मिली है, वह तो यह कहती है कि आपसे मिसेज़ क्लार्क की मुलाक़ात हुई, और अब मुझे आपसे होशियार रहना चाहिए। देखिए, मैं वह ख़त आपको दिखाता हूँ।"

यह कहकर सरदार साहब मेज़ के पास गए, एक बादामी मोटे काग़ज़ पर लिखा हुआ ख़त उठा लाए, और विनयसिंह के हाथ में रख दिया।

जीवन में यह पहला अवसर था कि विनय ने असत्य का आश्रय लिया था। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। बात क्योंकर निबाहें, यह समझ में न आया। नायकराम भी फ़र्श पर बैठे थे। समझ गए कि यह असमंजस में पड़े हुए हैं। झूठ बोलने और बातें बनाने में अभ्यस्त थे। बोले—"कुँवर साहब, ज़रा मुझे दीजिए, किसका ख़त है?"

विनय—"इंद्रदत्त का।"

नायकराम—"ओहो! उस पगले का ख़त है! वही लौंडा न, जो सेवा-समिति में आकर गाया करता था? उसके मा-बाप ने घर से निकाल दिया था। सरकार, पगला है। ऐसी ही ऊटपटाँग बातें किया करता है।"

सरदार—"नहीं, किसी पगले लौंडे की लेखन-शैली ऐसी नहीं हो सकती। बड़ा चतुर आदमी है। इसमें कोई संदेह नहीं। उसके पत्र इधर कई दिनों से बराबर मेरे पास आ रहे हैं। कभी मुझे धमकाता है, कभी नीति के उपदेश देता है। किंतु जो कुछ कहता है, शिष्टाचार के साथ। एक भी अशिष्ट अथवा असंगत शब्द नहीं होता। अगर यह वही इंद्रदत्त है, जिसे आप जानते हैं, तो और भी आश्चर्य है। संभव है, उसके नाम से कोई दूसरा ही आदमी पत्र लिखता हो। यह कोई साधारण शिक्षा पाया हुआ आदमी नहीं मालूम होता।"

विनयसिंह तो ऐसे सिटपिटा गए, जैसे कोई सेवक अपने स्वामी का संदूक़ खोलता हुआ पकड़ा जाय। मन में झुँझला रहे थे कि मैंने क्यों

मिथ्या भाषण किया ? मुझे छिपाने की ज़रूरत ही क्या थी। लेकिन इंद्रदत्त का इस पत्र से क्या उद्देश्य है ? क्या मुझे बदनाम करना चाहता है ?

नायकराम—"कोई दूसरा ही आदमी होगा। उसका मतलब यही है कि यहाँ के हाकिमों को कुँअर साहब से भड़का दे क्यों। भैया, समिति में कोई विद्वान आदमी था ?"

विनय—"सभी विद्वान् थे, उनमें मूर्ख कौन है। इंद्रदत्त भी उच्च कोटि की शिक्षा पाए हुए है। पर मुझे न मालूम था कि वह मुझसे इतना द्वेष रखता है।"

यह कहकर विनय ने सरदार साहब को लज्जित नेत्रों से देखा। असत्य का रूप प्रतिक्षण भयंकर तथा मिथ्यांधकार और भी सघन होता जाता था। तब वह सकुचाते हुए बोले—"सरदार साहब, क्षमा कीजिएगा, मैं आपसे झूठ बोल रहा था। इस पत्र में जो कुछ लिखा है, वह अक्षरशः सत्य है। निस्संदेह मेरी मुलाक़ात मिसेज़ क्लार्क से हुई। मैं इस घटना को आपसे गुप्त रखना चाहता था, क्योंकि मैंने उन्हें इसका वचन दे दिया था। वह वहाँ बहुत आराम से हैं, यहाँ तक कि मेरे बहुत आग्रह करने पर भी मेरे साथ न आईं।"

सरदार साहब ने बेपरवाही से कहा—"राजनीति में वचन का बहुत महत्त्व नहीं है। अब मुझे आपसे चौकन्ना रहना पड़ेगा। अगर इस पत्र ने मुझे सारी बातों का परिचय न दे दिया होता, तो आपने तो मुझे मुग़ालता देने में कोई बात उठा न रक्खी थी। आप जानते हैं, हमें आजकल इस विषय में गवर्नमेंट से कितनी धमकियाँ मिल रही हैं। यों कहिए कि मिसेज़ क्लार्क के सकुशल लौट आने पर ही हमारी कारगुज़ारी निर्भर है। ख़ैर, यह क्या बात है ? मिसेज़ क्लार्क आईं क्यों नहीं ? क्या बदमाशों ने उन्हें आने न दिया ?"

विनय—"वीरपालसिंह तो बड़ी ख़ुशी से उन्हें भेजना चाहता था।

यही एक साधन है, जिससे वह अपनी प्राण-रक्षा कर सकता है। लेकिन वह खुद ही आने पर तैयार न हुई'!"

सरदार—"मिस्टर क्लार्क से नाराज़ तो नहीं हैं?"

विनय—"हो सकता है। जिस दिन विद्रोह हुआ था, मिस्टर क्लार्क नशे में अचेत पड़े थे, शायद इसी कारण उनसे चिढ़ गई हों। ठीक-ठीक कुछ नहीं कह सकता। हाँ, उनसे भेंट होने से यह बात स्पष्ट हो गई कि हमने जसवंतनगरवालों का दमन करने में बहुत-सी बातें न्याय-विरुद्ध कीं। हमें शंका थी कि विद्रोहियों ने मिसेज़ क्लार्क को या तो क़ैद कर रक्खा है, या मार डाला है! इसी शंका पर हमने दमन नीति का व्यवहार किया। सबको एक लाठी से हाँका। किंतु दो बातों में से एक भी सच न निकली। मिसेज़ क्लार्क जीवित हैं, और प्रसन्न हैं। वह वहाँ से स्वयं नहीं आना चाहतीं। जसवंतनगरवाले अकारण ही हमारे कोप के भागी हुए, और मैं आपसे बड़े आग्रह से प्रार्थना करता हूँ कि उन गरीबों पर दया होनी चाहिए। सैकड़ों निरपराधियों की गरदन पर छुरी फिर रही है।"

सरदार साहब जान-बूझकर किसी पर अन्याय न करना चाहते थे, पर अन्याय कर चुकने के बाद अपनी भूल स्वीकार करने का उन्हें साहस न होता था। न्याय करना उतना कठिन नहीं है, जितना अन्याय का शमन करना। सोफ़ी के गुम हो जाने से उन्हें केवल गवर्नमेंट की वक्र दृष्टि का भय था। पर सोफ़ी का पता मिल जाना समस्त देश के सामने अपनी अयोग्यता और नृशंसता का डंका पीटना था। मिस्टर क्लार्क को खुश करके गवर्नमेंट को खुश किया जा सकता था, पर प्रजा की ज़बान इतनी आसानी से न बंद की जा सकती थी।

सरदार साहब ने कुछ सकुचाते हुए कहा—"यह तो मैं मान सकता हूँ कि मिसेज़ क्लार्क जीवित हैं। लेकिन आप तो क्या, ब्रह्मा भी आकर कहें कि वह वहाँ प्रसन्न हैं, और आना नहीं चाहतीं, तो भी मैं स्वीकार

न करूँगा। यह बच्चों की-सी बात है। किसी को अपने घर से इतनी अरुचि नहीं होती कि वह शत्रुओं के साथ रहना पसंद करे। विद्रोहियों ने मिसेज़ क्लार्क को यह कहने के लिये मजबूर किया होगा। वे मिसेज़ क्लार्क को उस वक़्त तक न छोड़ेंगे, जब तक हम सारे क़ैदियों को मुक्त न कर दें। यह विजेताओं की नीति है, और मैं उसे नहीं मान सकता। मिसेज़ क्लार्क को कड़ी-से-कड़ी यातनाएँ दी जा रही हैं, और उन्होंने उन यातनाओं से बचने के लिये आपसे यह सिफ़ारिश की है, और कोई बात नहीं है।"

विनय—"मैं इस विचार से सहमत नहीं हो सकता। मिसेज़ क्लार्क बहुत प्रसन्न दिखाई देती थीं। पीड़ित हृदय कभी इतना निश्शंक नहीं हो सकता।"

सरदार—"यह आपकी आँखों का दोष है। अगर मिसेज़ क्लार्क स्वयं आकर मुझसे कहें कि मैं बड़े आराम से हूँ, तो भी मुझे विश्वास न आएगा। आप नहीं जानते, ये लोग किन सिद्धियों से स्वाधीनता पर जान देनेवाले प्राणियों पर भी आतंक जमा लेते हैं, यहाँ तक कि उनके पंजे से निकल आने पर भी क़ैदी उन्हीं की-सी कहता है, और उन्हीं की-सी करता है। मैं एक ज़माने में पुलिस का कर्मचारी था। आपसे सच कहता हूँ, मैंने कितने ही राजनीतिक अभियोगों में बड़े-बड़े व्रतधारियों से ऐसे अपराध स्वीकार करा दिए, जिनकी उन्होंने कल्पना तक न की थी। वीरपालसिंह इस विषय में हमसे कहीं चतुर हैं।"

विनय—"सरदार साहब, अगर थोड़ी देर के लिये मुझे यह विश्वास भी हो जाय कि मिसेज़ क्लार्क ने दबाव में आकर मुझसे ये बातें कही हैं, तो भी अब ठंडे हृदय से विचार करने पर मुझे ज्ञात हो रहा है कि हमें इतनी निर्दयता से दमन न करना चाहिए था। अब उन अभियुक्तों पर कुछ रियायत होनी चाहिए।"

सरदार—"रियायत राजनीति में पराजय का सूचक है। अगर मैं

यह भी मान लूँ कि मिसेज़ क्लार्क वहाँ आराम से हैं, और स्वतंत्र हैं, तथा हमने जसवंतनगरवालों पर घोर अत्याचार किया, फिर भी मैं रियायत करने को तैयार नहीं हूँ। रियायत करना अपनी दुर्बलता और भ्रांति की घोषणा करना है। आप जानते हैं, रियायत का परिणाम क्या होगा? विद्रोहियों के हौसले बढ़ जायँगे, उनके दिल से रियासत का भय जाता रहेगा, और जब भय न रहा, तो राज्य भी नहीं रह सकता। राज्य-व्यवस्था का आधार न्याय नहीं, भय है। भय को आप निकाल दीजिए, और राज्य विध्वंस हो जायगा, फिर अर्जुन की वीरता और युधिष्ठिर का न्याय भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। सौ-दो सौ निरपराधियों का जेल में रहना राज्य न रहने से कहीं अच्छा है। मगर मैं उन विद्रोहियों को निरपराध क्योंकर मान लूँ? कई हज़ार आदमियों का सशस्त्र एकत्र हो जाना यह सिद्ध करता है कि वहाँ लोग विद्रोह करने के विचार से ही गए थे।"

विनय—"किंतु जो लोग उसमें सम्मिलित न थे, वे तो बेक़सूर हैं।"

सरदार—"कदापि नहीं। उनका कर्तव्य था कि अधिकारियों को पहले ही से सचेत कर देते। एक चोर को किसी के घर में सेंद लगाते देखकर आप घरवालों को जगाने की चेष्टा न करें, तो आप स्वयं चोर की सहायता कर रहे हैं। उदासीनता बहुधा अपराध से भी भयंकर होती है।"

विनय—"कम-से-कम इतना तो कीजिए कि जो लोग मेरी शहादत पर पकड़े गए हैं, उन्हें बरी कर दीजिए।"

सरदार—"असंभव है।"

विनय—"मैं शासन-नीति के नाते नहीं, दया और सौजन्य के नाते आपसे यह विनीत आग्रह करता हूँ।"

सरदार—"कह दिया भाईजान कि यह असंभव है। आप इसका परिणाम नहीं सोच रहे हैं।"

विनय—"लेकिन मेरी प्रार्थना को स्वीकार न करने का परिणाम भी अच्छा न होगा। आप समस्या को और जटिल बना रहे हैं।"

सरदार—"मैं खुले हुए विद्रोह से नहीं डरता। डरता हूँ केवल सेवकों से, प्रजा के हितैषियों से, और उनसे यहाँ की प्रजा का जी भर गया है। बहुत दिन बीत जायँगे, इसके पहले कि प्रजा देश-सेवकों पर फिर विश्वास करे।"

विनय—"अगर इसी नीयत से आपने मेरे हाथों प्रजा का अनिष्ट कराया, तो आपने मेरे साथ घोर विश्वासघात किया, लेकिन मैं आपको सतर्क किए देता हूँ कि यदि आपने मेरा अनुरोध न माना, तो आप रियासत में ऐसा विप्लव मचा देंगे, जो रियासत की जड़ हिला देगा। मैं यहाँ से मिस्टर क्लार्क के पास जाता हूँ। उनसे भी यही अनुरोध करूँगा, और यदि वह भी न सुनेंगे, तो हिज़ हाइनेस की सेवा में यही प्रस्ताव उपस्थित करूँगा। अगर उन्होंने भी न सुना, तो फिर इस रियासत का मुझसे बड़ा और कोई शत्रु न होगा।"

यह कहकर विनयसिंह उठ खड़े हुए, और नायकराम को साथ लिए मिस्टर क्लार्क के बँगले पर जा पहुँचे। वह आज ही अपने शिकारी मित्रों को बिदा करके लौटे थे, और इस समय विश्राम कर रहे थे। विनय ने अरदली से पूछा, तो मालूम हुआ कि साहब कुछ काम कर रहे हैं। विनय बाग़ में टहलने लगे। जब आध घंटे तक साहब ने न बुलाया, तो उठे और सीधे क्लार्क के कमरे में घुस गए। वह इन्हें देखते ही उठ बैठे, और बोले—"आइए-आइए, आप ही की याद कर रहा था। कहिए, क्या समाचार है? सोफ़िया का पता तो आप लगा ही आए होंगे?"

विनय—"जी हाँ, लगा आया।"

यह कहकर विनय ने क्लार्क से भी वही कथा कही, जो सरदार साहब से कही थी, और वही अनुरोध किया।

क्लार्क—"मिस सोफ़ी आपके साथ क्यों नहीं आईं ?"

विनय—"यह तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन वहाँ उन्हें कोई कष्ट नहीं है।"

क्लार्क—"तो फिर आपने नई खोज क्या की! मैंने तो समझा था, शायद आपके आने से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। यह देखिए, सोफ़िया का पत्र है। आज ही आया है। इसे आपको दिखा तो नहीं सकता, पर इतना कह सकता हूँ कि वह इस वक़्त मेरे सामने आ जाय, तो उस पर पिस्तौल चलाने में एक क्षण भी विलंब न करूँगा। अब मुझे मालूम हुआ कि धर्मपरायणता छल और कुटिलता का दूसरा नाम है। इसकी धर्म-निष्ठा ने मुझे बड़ा धोखा दिया। शायद कभी किसी ने इतना बड़ा धोखा न खाया होगा। मैंने समझा था, धार्मिकता से सहृदयता उत्पन्न होती है; पर यह मेरी भ्रांति थी। मैं इसकी धर्म-निष्ठा पर रीझ गया। मुझे इँगलैंड की रँगीली युवतियों से निराशा हो गई थी। सोफ़िया का सरल स्वभाव और धार्मिक प्रवृत्ति देखकर मैंने समझा, मुझे इच्छित वस्तु मिल गई। अपने समाज की उपेक्षा करके मैं उसके पास आने-जाने लगा, और अंत में प्रोपोज़ किया। सोफ़िया ने स्वीकार तो कर लिया, पर कुछ दिनों तक विवाह को स्थगित रखना चाहा। मैं क्या जानता था कि उसके दिल में क्या है! राज़ी हो गया। उसी अवस्था में वह मेरे साथ यहाँ आई, बल्कि यों कहिए कि वही मुझे यहाँ लाई। दुनिया समझती है, वह मेरी विवाहिता थी, कदापि नहीं। हमारी तो मँगनी भी न हुई थी। अब जाकर रहस्य खुला कि वह बोलशेविकों की एजेंट है। उसके एक-एक शब्द से उसकी बोलशेविक प्रवृत्ति टपक रही है। प्रेम का स्वाँग भरकर वह अँगरेज़ों के आंतरिक भावों का ज्ञान प्राप्त करना चाहती थी। उसका यह उद्देश्य पूरा हो गया। मुझसे जो काम निकल सकता था, वह निकालकर उसने मुझे दुत्कार दिया है। विनयसिंह, तुम नहीं अनुमान कर सकते कि मैं उससे कितना प्रेम करता था। इस अनुपम रूप-

राशि के नीचे इतनी घोर कुटिलता ! मुझे धमकी दी है कि इतने दिनों में अँगरेज़ी समाज का मुझे जो कुछ अनुभव हुआ है, उसे मैं भारत-वासियों के विनोदार्थ प्रकाशित कर दूँगी। वह जो कुछ कहना चाहती है, मैं स्वयं क्यों न बतला दूँ। अँगरेज़-जाति भारत को अनंत काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है। कंज़रवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नैशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं। सोफ़ी के पहले मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि रेडिकल और लेबर नेताओं के धोखे में न आओ। कंज़रवेटिव दल में और चाहे कितनी ही बुराइयाँ हों, वह निर्भीक है, तीक्ष्ण सत्य से नहीं डरता। रेडिकल और लेबर अपने पवित्र और उज्ज्वल सिद्धांतों का समर्थन करने के लिये ऐसी आशाप्रद बातें कह डालते हैं, जिनको व्यवहार में लाने का उन्हें साहस नहीं हो सकता। आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नहीं है। संसार का इतिहास केवल इसी एक शब्द 'आधिपत्य-प्रेम' पर समाप्त हो जाता है। मानव-स्वभाव अब भी वही है, जो सृष्टि के आदि में था। अँगरेज़-जाति कभी त्याग के लिये, उच्च सिद्धांतों पर प्राण देने के लिये, प्रसिद्ध नहीं रही। हम सब-के-सब, मैं लेबर हूँ, साम्राज्यवादी हैं। अंतर केवल उस नीति में है, जो भिन्न-भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाए रखने के लिये ग्रहण करते हैं। कोई कठोर शासन का उपासक है, कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी-चुपड़ी बातों से काम निकालने का। बस, वास्तव में नीति कोई है ही नहीं, केवल उद्देश्य है, और वह यह कि क्योंकर हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो। यही वह गुप्त रहस्य है, जिसको प्रकट करने की मुझे धमकी दी गई है। यह पत्र मुझे न मिला होता, तो मेरी आँखों पर परदा पड़ा रहता, और मैं सोफ़ी के लिये क्या कुछ न कर डालता। पर इस पत्र ने मेरी आँखें खोल दीं, और अब मैं आपकी कोई सहायता नहीं कर सकता,

अभी पूजा पर हैं। ग्यारह बजे बैठा था, चार बजे उठेगा। क्या आप लोग इतनी देर तक पूजा किया करता है ?"

विनय—"हमारे यहाँ ऐसे-ऐसे पूजा करनेवाले हैं, जो कई-कई दिनों तक समाधि में मग्न रहते हैं। पूजा का वह भाग, जिसमें परमात्मा या अन्य देवतों से कल्याण की याचना की जाती है, शीघ्र ही समाप्त हो जाता है; लेकिन वह भाग, जिसमें योग-क्रियाओं द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है, बहुत विशद होता है।"

सेक्रेटरी—"हम जिस राजा के साथ पहले था, वह सवेरे से दो बजे तक पूजा करता था, तब भोजन करता था, और चार बजे सोता था। फिर नौ बजे पूजा पर बैठ जाता था, और दो बजे रात को उठता था। वह एक घंटे के लिये सूर्यास्त के समय बाहर निकलता था। पर इतनी लंबी पूजा मेरे विचार में अस्वाभाविक है। मैं समझता हूँ कि यह न तो उपासना है, न आत्मशुद्धि की क्रिया, केवल एक प्रकार की अकर्मण्यता है।"

विनय का चित्त इस समय इतना व्यग्र हो रहा था कि उन्होंने इस कटाक्ष का कुछ उत्तर न दिया। सोचने लगे—अगर राजा साहब ने भी साफ़ जवाब दिया, तो मेरे लिये क्या करना उचित होगा ? अभी इतने बेगुनाहों के खून से हाथ रँगे हुए हैं, कहीं सोफ़ी ने गुप्त हत्याओं का अभिनय आरंभ किया, तो उनका खून भी मेरी ही गरदन पर होगा। इस विचार से वह इतने व्याकुल हुए कि एक ठंडी साँस लेकर आराम-कुर्सी पर लेट गए, और आँखें बंद कर लीं। यों वह नित्य संध्या करते थे, पर आज पहली बार ईश्वर से दया-प्रार्थना की। रात-भर के जागे, दिन-भर के थके थे ही, एक झपकी आ गई। जब आँखें खुलीं, तो चार बज चुके थे। सेक्रेटरी से पूछा—"अब तो हिज़ हाइनेस पूजा पर से उठ गए होंगे ?"

सेक्रेटरी—"आपने तो एक लंबी नींद ले ली।"

यह कहकर उसने टेलीफ़ोन द्वारा कहा—"कुँवर विनयसिंह हिज़ हाइनेस से मिलना चाहते हैं।"

होती है ! शिव-शिव ! राजा तो ईश्वर का अवतार है। हरि-हरि ! वह एक बार जो कर देता है, उसे फिर नहीं मिटा सकता। शिव-शिव ! राजा का शब्द ब्रह्मलेख है, वह नहीं मिट सकता, हरि-हरि !"

विनय—"अपनी भूल स्वीकार करने में जो गौरव है, वह अन्याय को चिरायु रखने में नहीं। अधीश्वरों के लिये क्षमा ही शोभा देती है। क़ैदियों को मुक्त करने की आज्ञा दी जाय, जुरमाने के रुपए लौटा दिए जायँ, और जिन्हें शारीरिक दंड दिए गए हैं, उन्हें धन देकर संतुष्ट किया जाय। इससे आपकी कीर्ति अमर हो जायगी, लोग आपका यश गाएँगे, और मुक्त कंठ से आशीर्वाद देंगे।"

महाराजा—"शिव-शिव ! बेटा, तुम राजनीति की चालें नहीं जानते। यहाँ एक क़ैदी भी छोड़ा गया, और रियासत पर वज्र गिरा। सरकार कहेगी, मेम को न-जाने किस नीयत से छिपाए हुए है, कदाचित् उस पर मोहित है, तभी तो पहले दंड का स्वाँग भरकर अब विद्रोहियों को छोड़े देता है ! शिव-शिव ! रियासत धूल में मिल जायगी, रसातल को चली जायगी। कोई न पूछेगा कि यह बात सच है या झूठ। कहीं इस पर विचार न होगा। हरि-हरि ! हमारी दशा साधारण अपराधियों से भी गई-बीती है। उन्हें तो सफ़ाई देने का अवसर दिया जाता है, न्यायालय में उन पर कोई धारा लगाई जातो, है, और उसी धारा के अनुसार उन्हें दंड दिया जाता है। हमसे कौन सफ़ाई लेता है, हमारे लिये कौन-सा न्यायालय है ! हरि-हरि ! हमारे लिये न कोई क़ानून है, न कोई धारा। जो अपराध चाहा, लगा दिया, जो दंड चाहा, दे दिया। न कहीं अपील है, न फ़रियाद। राजे विषय-प्रेमी कहलाते ही हैं, उन पर यह दोषारोपण होते कितनी देर लगती है ! कहा जायगा, हमने क्लार्क की अति रूपवती मेम को अपने रनिवास में छिपा लिया, और झूठमूठ उड़ा दिया कि वह गुम हो गई। हरि-हरि ! शिव-शिव ! सुनता हूँ, बड़ी रूपवती स्त्री है, चाँद

वहाँ मेम को नाना प्रकार के कष्ट दिए जा रहे हैं, अनेक यातनाएँ मिल रही हैं। ओह! शिव-शिव!"

सहसा प्राइवेट सेक्रेटरी ने फ़ोन में कहा—"मिस्टर क्लार्क आ रहे हैं।"

महाराजा ने खड़े होकर कहा—"आ गया यमदूत, आ गया! कोई है? कोट-पतलून लाओ। तुम जाओ विनय, चले जाओ, रियासत से चले जाओ। फिर मुझे मुँह मत दिखाना, जल्दी पगड़ी लाओ, यहाँ से उगालदान हटा दो।"

विनय को आज राजा से घृणा हो गई। सोचा, इतना नैतिक पतन, इतनी कायरता! यों राज्य करने से डूब मरना अच्छा है! वह बाहर निकले, तो नायकराम ने पूछा—"कैसी छनी?"

विनय—"इनकी तो मारे भय के आप ही जान निकली जाती है। ऐसा डरते हैं, मानो मिस्टर क्लार्क कोई शेर हैं, और इन्हें आते-ही-आते खा जायँगे। मुझसे तो इस दशा में एक दिन भी न रहा जाता।"

नायकराम—"भैया, मेरी तो अब सलाह है कि घर लौट चलो, इस जंजाल में कब तक जान खपाओगे?"

विनय ने सजल-नयन होकर कहा—"पंडाजी, कौन मुँह लेकर घर जाऊँ? मैं अब घर जाने योग्य नहीं रहा। माताजी मेरा मुँह न देखेंगी। चला था जाति की सेवा करने, जाता हूँ सैकड़ों परिवारों का सर्वनाश करके। मेरे लिये तो अब डूब मरने के सिवा और कुछ नहीं रहा। न घर का रहा, न घाट का। मैं समझ गया नायकराम, मुझसे कुछ न होगा, मेरे हाथों किसी का उपकार न होगा, मैं विष बोने ही के लिये पैदा किया गया हूँ, मैं सर्प हूँ, जो काटने के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकता। जिस पामर प्राणी को प्रांत-का-प्रांत गालियाँ दे रहा हो, जिसके अहित के लिये अनुष्ठान किए जा रहे हों, उसे संसार पर भार-स्वरूप

सिर पर लटकती हुई नंगी तलवार की भाँति, उन्हें उद्विग्न कर रही थी। आखिर उनसे न रहा गया, पत्र खोलकर पढ़ने लगे—

"विनय, आज से कई मास पहले मैं तुम्हारी माता होने पर गर्व करती थी, पर आज तुम्हें पुत्र कहते हुए लज्जा से गड़ी जाती हूँ। तुम क्या थे, क्या हो गए! और अगर यही दशा रही, तो अभी और न-जाने क्या हो जाओगे। अगर मैं जानती कि तुम इसी भाँति मेरा सिर नीचा करोगे, तो आज तुम इस संसार में न होते। निर्दयी! इसीलिये तूने मेरी कोख में जन्म लिया था! इसीलिये मैंने तुझे अपना हृदय-रक्त पिला-पिलाकर पाला था! चित्रकार जब कोई चित्र बनाते-बनाते देखता है कि इससे मेरे मन के भाव व्यक्त नहीं होते, तो वह तुरंत उसे मिटा देता है। उसी भाँति मैं तुझे भी मिटा देना चाहती हूँ। मैंने ही तुम्हें रचा है। मैंने ही तुम्हें यह देह प्रदान की है। आत्मा कहीं से आई है, देह मेरी है। मैं उसे तुमसे वापस माँगती हूँ। अगर तुममें अब भी कुछ आत्मसम्मान है, तो मेरी अमानत मुझे लौटा दो। तुम्हें जीवित देखकर मुझे दुःख होता है। जिस काँटे से हृदय में वेदना हो रही है, उसे निकाल सकूँ, तो क्यों न निकाल दूँ! क्या तुम मेरी यह अंतिम अभिलाषा पूरी करोगे? या अन्य अभिलाषाओं की भाँति इसे भी धूल में मिला दोगे? मैं अब भी तुम्हें इतना लज्जा-शून्य नहीं समझती, नहीं तो मैं स्वयं आती, और तुम्हारे मर्मस्थल से वह वस्तु निकाल लेती, जो तुम्हारी कुमति का मूल है। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि संसार में कोई ऐसी वस्तु भी है, जो संतान से भी अधिक प्रिय होती है? वह आत्मगौरव है। अगर तुम्हारे-जैसे मेरे सौ पुत्र होते, तो मैं उन सबों को उसकी रक्षा के लिये बलिदान कर देती। तुम समझते होगे, मैं क्रोध से बावली हो गई हूँ। यह क्रोध नहीं है, अपनी आत्मवेदना का रोदन है। जिस माता की लेखनी से ऐसे निर्दय शब्द निकलें, उसके शोक, नैराश्य और लज्जा का अनुमान तुम-जैसे दुर्बल प्राणी नहीं कर सकते। अब मैं और कुछ न लिखूँगी।

तुम्हें समझाना व्यर्थ है। जब उम्र-भर की शिक्षा निष्फल हो गई, तो एक पत्र की शिक्षा का क्या फल होगा! अब केवल दो इच्छाएँ हैं।—ईश्वर से तो यह कि तुम-जैसी संतान सातवें वैरी को भी न दे, और तुमसे यह कि अपने जीवन की इस क्रूर लीला को समाप्त करो।"

विनय यह पत्र पढ़कर रोए नहीं, क्रुद्ध नहीं हुए, ग्लानित भी नहीं हुए। उनके नेत्र गर्वोत्तेजना से चमक उठे, मुख-मंडल पर आरक्त तेज की आभा दिखाई दी, जैसे किसी कवीश्वर के मुख से अपने पूर्वजों की वीर-कथा सुनकर मनचले राजपूत का मुख तमतमा उठे—"माता, तुम्हें धन्य है। स्वर्ग में बैठी हुई वीर राजपूतानियों की वीर आत्माएँ तुम्हारी आदर्शवादिता पर गर्व करती होंगी! मैंने अब तक तुम्हारी अलौकिक वीरता का परिचय न पाया था। तुमने भारत की विदुषियों का मस्तक उन्नत कर दिया। देवी! मैं स्वयं अपने को तुम्हारा पुत्र कहते हुए लज्जित हूँ। हाँ, मैं तुम्हारा पुत्र कहलाने योग्य नहीं हूँ। तुम्हारे फ़ैसले के आगे सिर झुकाता हूँ। अगर मेरे पास सौ जानें होतीं, तो उन सबों को तुम्हारे आत्मगौरव की रक्षा के लिये बलिदान कर देता। अभी इतना निर्लज्ज नहीं हुआ हूँ। लेकिन यों नहीं। मैं तुम्हें इतना संतोष देना चाहता हूँ कि तुम्हारा पुत्र जीना नहीं जानता, पर मरना जानता है। अब विलंब क्यों? जीवन में जो कुछ न करना था, वह सब कर चुका। उसके अंत का इससे उत्तम और कौन अवसर मिलेगा? यह मस्तक केवल एक बार तुम्हारे चरणों पर तड़पेगा। संभव है, अंतिम समय तुम्हारा पवित्र आशीर्वाद पा जाऊँ। शायद तुम्हारे मुख से ये पावन शब्द निकल जायँ कि 'मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी, तूने जीना न जाना, लेकिन मरना जानता है।' यदि अंत समय भी तुम्हारे मुख से 'प्रिय पुत्र', ये दो शब्द सुन सका, तो मेरी आत्मा शांत हो जायगी, और नरक में भी सुख का अनुभव करेगी। काश ईश्वर ने पर दिए होते, तो उड़कर तुम्हारे पास पहुँच जाता।"

विनय ने बाहर की तरफ़ देखा। सूर्यदेव किसी लज्जित प्राणी की भाँति अपना कांति-हीन मुख पर्वतों की आड़ में छिपा चुके थे। नायकराम पल्थी मारे भंग घोट रहे थे। यह काम वह सेवकों से नहीं लेते थे। कहते—"यह भी एक विद्या है, कोई हल्दी-मसाला तो है नहीं कि जो चाहे, पीस दे। इसमें बुद्धि ख़र्च करनी पड़ती है, तब जाकर बूटी बनती है।" कल नागा भी हो गया था। तन्मय होकर भंग पीसते और रामायण की दो-चार चौपाइयाँ, जो याद थीं, लय से गाते जाते थे। इतने में विनय ने बुलाया।

नायकराम—"क्या है भैया? आज मजेदार बूटी बन रही है। तुमने कभी काहे को पी होगी। आज थोड़ी-सी ले लेना, सारी थकावट भाग जायगी।"

विनय—"अच्छा, इस वक़्त बूटी रहने दो। अम्माजी का पत्र आया है, घर चलना है, एक ताँगा ठीक कर लो।"

नायकराम—"भैया, तुम्हारे तो सब काम उतावली के होते हैं। घर चलना है, तो कल आराम से चलेंगे। बूटी छानकर रसोई बनाता हूँ। तुमने बहुत कशमीरी रसोइयों का बनाया हुआ खाना खाया है, आज जरा मेरे हाथ के भोजन का भी स्वाद लो।"

विनय—"अब घर पहुँचकर ही तुम्हारे हाथ के भोजन का स्वाद लूँगा।"

नायकराम—"माताजी ने बुलाया होगा?"

विनय—"हाँ, बहुत जल्द।"

नायकराम—"अच्छा, बूटी तो तैयार हो जाय। गाड़ी तो नौ बजे रात को जाती है।"

विनय—"नौ बजने में देर नहीं है। सात तो बज ही गए होंगे।"

नायकराम—"जब तक असबाब बँधवाओ, मैं जल्दी से बनाए लेता हूँ। तकदीर में इतना सुख भी नहीं लिखा है कि निश्चिंत होकर बूटी तो बनाता।"

विनय—"असबाब कुछ नहीं जायगा। मैं घर से कोई असबाब लेकर नहीं आया था। यहाँ से चलते समय घर की कुंजी सरदार साहब को दे देनी होगी।"

नायकराम—"और यह सारा असबाब?"

विनय—"कह दिया कि मैं कुछ न ले जाऊँगा।"

नायकराम—"भैया, तुम कुछ न लो, पर मैं तो यह दुसाला और यह संदूक जरूर लूँगा। जिधर से दुसाला ओढ़कर निकल जाऊँगा, देखनेवाले लोट जायँगे।"

विनय—"ऐसी घातक वस्तु लेकर क्या करोगे, जिसे देखकर ही सुथराव हो जाय। यहाँ की कोई चीज़ मत छूना, जाओ।"

नायकराम भाग्य को कोसते हुए घर से निकले, तो घंटे-भर तक गाड़ी का किराया ठीक करते रहे। आखिर जब यह जटिल समस्या किसी विधि न हल हुई, तो एक को ज़बरदस्ती पकड़ लाए। ताँगेवाला भुनभुनाता हुआ आया—"सब हाकिम-ही-हाकिम तो हैं, मुदा जानवर के पेट को भी तो कुछ मिलना चाहिए। कोई माई का लाल यह नहीं सोचता कि दिन-भर तो बेगार में मरेगा, क्या आप खायगा, क्या जानवर को खिलाएगा, क्या बाल-बच्चों को देगा। उस पर निरखनामा लिखकर गली-गली लटका दिया। बस, ताँगेवाले ही सबको लूटे खाते हैं, और तो जितने अमले-मुलाजिम हैं, सब दूध के धोए हुए हैं। बकचा ढो ले, भीख माँग खाय, मगर ताँगा कभी न चलाए।"

ज्यों ही ताँगा द्वार पर आया, विनय आकर बैठ गए, लेकिन नायकराय अपनी अधघुटी बूटी क्योंकर छोड़ते। जल्दी-जल्दी रगड़ी, छानकर पी, तमाखू खाई, आईना के सामने खड़े होकर पगड़ी बाँधी, आदमियों को राम-राम कहा, और दुशाले को सचेष्ट नेत्रों से ताकते हुए बाहर निकले। ताँगा चला। सरदार साहब का घर रास्ते ही में था। वहाँ जाकर नायकराम ने कुंजी उनके द्वारपाल के हवाले की, और आठ

बजते-बजते स्टेशन पर पहुँच गए। नायकराम ने सोचा, राह में तो कुछ खाने को मिलेगा नहीं, और गाड़ी पर भोजन करेंगे कैसे, दौड़कर पूरियाँ लीं, पानी लाए, और खाने बैठ गए। विनय ने कहा, मुझे अभी इच्छा नहीं है। वह खड़े गाड़ियों की समय सूची देख रहे थे कि यह गाड़ी अजमेर कब पहुँचेगी, दिल्ली में कौन-सी गाड़ी मिलेगी। सहसा क्या देखते हैं कि एक बुढ़िया आर्तनाद करती हुई चली आ रही है। दो-तीन आदमी उसे सँभाले हुए हैं। वह विनयसिंह के समीप ही आकर बैठ गई। विनय ने पूछा, तो मालूम हुआ कि इसका पुत्र जसवंतनगर की जेल का दारोगा था, उसे दिन-दहाड़े किसी ने मार डाला। अभी समाचार आया है, और यह बेचारी शोकातुरा माता यहाँ से जसवंतनगर जा रही है। मोटरवाले किराया बहुत माँगते थे, इसलिये रेलगाड़ी से जाती है। रास्ते में उतरकर बैलगाड़ी कर लेगी। एक ही पुत्र था; बेचारी को बेटे का मुँह देखना भी न बदा था!

विनयसिंह को बड़ा दुःख हुआ—"दारोग़ा बड़ा सीधा-सादा आदमी था। क़ैदियों पर बड़ी दया किया करता था। उससे किसी को क्या दुश्मनी हो सकती थी। उन्हें तुरंत संदेह हुआ कि यह भी वीरपालसिंह के अनुयायियों की क्रूर लीला है। सोफ़ी ने कोरी धमकी न दी थी। मालूम होता है, उसने गुप्त हत्याओं के साधन एकत्र कर लिए हैं। भगवान्, मेरे दुष्कृत्यों का क्षेत्र कितना विस्तृत है। इन हत्याओं का अपराध मेरी गरदन पर है, सोफ़ी की गरदन पर नहीं। सोफ़िया-जैसी करुणामयी, विवेकशीला, धर्मनिष्ठा रमणी मेरी ही दुर्बलता से प्रेरित होकर हत्या-मार्ग पर अग्रसर हुई है। ईश्वर! क्या अभी मेरी यातनाओं की मात्रा पूरी नहीं हुई? मैं फिर सोफ़िया के पास जाऊँगा, अवश्य जाऊँगा, और उसके चरणों पर सिर रखकर विनीत भाव से कहूँगा—देवी! मैं अपने किए का दंड पा चुका, अब यह लीला समाप्त कर दो, अन्यथा यहीं तुम्हारे सामने प्राण त्याग दूँगा! लेकिन सोफ़ी को पाऊँ कहाँ? कौन मुझे उस दुर्गम दुर्ग तक ले जायगा?"

जब गाड़ी आई, तो विनय ने वृद्धा को अपनी ही गाड़ी में बैठाया। नायकराम दूसरी गाड़ी में बैठे, क्योंकि विनय के सामने उन्हें मुसाफ़िरों से चुहल करने का मौक़ा न मिलता। गाड़ी चली। आज पुलिस के सिपाही प्रत्येक स्टेशन पर टहलते हुए नज़र आते थे। दरबार ने मुसाफ़िरों की रक्षा के लिये यह विशेष प्रबंध किया था। किसी स्टेशन पर मुसाफ़िर सवार होते न नज़र आते थे। विद्रोहियों ने कई जागीरदारों को लूट लिया था।

पाँचवें स्टेशन से थोड़ी ही दूर पर एकाएक गाड़ी रुक गई। वहाँ कोई स्टेशन न था। लाइन के नीचे कई आदमियों की बातचीत सुनाई दी। फिर किसी ने विनय के कमरे का द्वार खोला। विनय ने पहले तो आगंतुक को रोकना चाहा, गाड़ी में बैठते ही उनका साम्यवाद स्वार्थवाद का रूप धारण कर लेता था, यह भी संदेह हुआ कि डाकू न हों, लेकिन निकट से देखा, तो किसी स्त्री के हाथ थे, अलग हट गए, और एक क्षण में एक स्त्री गाड़ी पर चढ़ आई। विनय देखते ही पहचान गए। वह मिस सोफ़िया थी। उसके बैठती ही गाड़ी फिर चलने लगी।

सोफ़िया ने गाड़ी में आते ही विनय को देखा, तो चेहरे का रंग उड़ गया। जी में आया, गाड़ी से उतर जाऊँ। पर वह चल चुकी थी। एक क्षण तक वह हतबुद्धि-सी खड़ी रही, विनय के सामने उसकी आँखें न उठती थीं, तब उसी वृद्धा के पास बैठ गई, और खिड़की की ओर ताकने लगी। थोड़ी देर तक दोनो मौन बैठे रहे, किसी को बात करने की हिम्मत न पड़ती थी।

वृद्धा ने सोफ़ी से पूछा—"कहाँ जाओगी बेटी?"

सोफ़िया—"बड़ी दूर जाना है।"

वृद्धा—"यहाँ कहाँ से आ रही हो?"

सोफ़िया—"यहाँ से थोड़ी दूर एक गाँव है, वहीं से आती हूँ।"

वृद्धा—"तुमने गाड़ी खड़ी करा दी थी क्या?"

सोफ़िया—"स्टेशनों पर आजकल डाके पड़ रहे हैं। इसी से बीच में गाड़ी रुकवा ली।"

वृद्धा—"तुम्हारे साथ और कोई नहीं है क्या? अकेले कैसे जाओगी?"

सोफ़िया—"आदमी न हो, ईश्वर तो है।"

वृद्धा—"ईश्वर है कि नहीं, कौन जाने। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि संसार का करता-धरता कोई नहीं है, जभी तो दिन-दहाड़े डाके पड़ते हैं, ख़ून होते हैं। कल मेरे बेटे को डाकुओं ने मार डाला। (रोकर) गऊ था, गऊ। कभी मुझे जवाब नहीं दिया। जेल के कैदी उसको असीस दिया करते थे। कभी किसी भलेमानुस को नहीं सताया। उस पर यह वज्र गिरा, तो कैसे कहूँ कि ईश्वर है।"

सोफ़िया—"क्या जसवंतनगर के जेलर आपके बेटे थे?"

वृद्धा—"हाँ बेटी, वही एक लड़का था, सो भगवान् ने हर लिया!"

यह कहकर वृद्धा सिसकने लगी। सोफ़िया का मुख किसी मरणासन्न रोगी के मुख की भाँति निष्प्रभ हो गया। ज़रा देर तक वह करुणा के आवेग को दबाए हुए खड़ी रही। तब खिड़की के बाहर सिर निकालकर फूट-फूट-कर रोने लगी। उसका कुत्सित प्रतिकार नग्न रूप में उसके सामने खड़ा था।

सोफ़ी आध घंटे तक मुँह छिपाए रोती रही, यहाँ तक कि वह स्टेशन आ गया, जहाँ वृद्धा उतरना चाहती थी। जब वह उतरने लगी, तो विनय ने उसका असबाब उतारा, और उसे सांत्वना देकर विदा किया।

अभी विनय गाड़ी में बैठे भी न थे कि सोफ़ी नीचे आकर वृद्धा के सम्मुख खड़ी हो गई, और बोली—"माता, तुम्हारे पुत्र की हत्या करनेवाली मैं हूँ। जो दंड चाहो, दो। तुम्हारे सामने खड़ी हूँ।"

वृद्धा ने विस्मित होकर कहा—"क्या तू ही वह पिशाचिनी है, जिसने दरबार से लड़ने के लिये डाकुओं को जमा किया है! नहीं, तू नहीं हो सकती। तू तो मुझे करुणा और दया की मूर्ति-सी दीखती है।"

सोफ़ी—"हाँ माता, मैं ही वह पिशाचिनी हूँ।"

वृद्धा—"जैसा तूने किया, वैसा तेरे आगे आएगा। मैं तुझे और क्या कहूँ। मेरी भाँति तेरे दिन भी रोते बीतें।"

एंजिन ने सीटी दी। सोफ़ी संज्ञा-शून्य-सी खड़ी थी! वहाँ से हिली तक नहीं। गाड़ी चल पड़ी। सोफ़ी अब भी वहीं खड़ी थी। सहसा विनय गाड़ी से कूद पड़े, सोफ़िया का हाथ पकड़कर गाड़ी में बैठा दिया, और बड़ी मुश्किल से आप भी गाड़ी में चढ़ गए। एक पल का भी विलंब होता, तो वहीं रह जाते।

सोफ़िया ने ग्लानि-भाव से कहा—"विनय, तुम मेरा विश्वास करो या न करो; पर मैं सत्य कहती हूँ कि मैंने वीरपाल को एक हत्या की भी अनुमति नहीं दी। मैं उसकी घातक प्रवृत्ति को रोकने का यथाशक्ति प्रयत्न करती रही; पर यह दल इस समय प्रत्याघात की धुन में उन्मत्त हो रहा है। किसी ने मेरी न सुनी। यही कारण है कि मैं अब यहाँ से जा रही हूँ। मैंने उस रात को आमर्ष की दशा में तुमसे न-जाने क्या-क्या बातें कीं; लेकिन ईश्वर ही जानते हैं, इसका मुझे कितना खेद और दुःख है। शांत मन से विचार करने पर मुझे मालूम हो रहा है कि निरंतर दूसरों के मारने और दूसरों के हाथों मारे जाने के लिये आपत्काल में ही हम तत्पर हो सकते हैं। यह दशा स्थायी नहीं हो सकती। मनुष्य स्वभावतः शांतिप्रिय होता है। फिर जब सरकार की दमन-नीति ने निर्बल प्रजा को प्रत्याघात पर आमादा कर दिया, तो क्या सबल सरकार और भी कठोर नीति का अवलंबन न करेगी! लेकिन मैं तुमसे ऐसी बातें कर रही हूँ, मानो तुम घर के आदमी हो। मैं भूल गई थी कि तुम राजभक्तों के दल में हो। पर इतनी दया करना कि मुझे पुलिस के हवाले न कर देना। पुलिस से बचने के लिये ही मैंने रास्ते में गाड़ी को रोककर सवार होने की व्यवस्था की। मुझे संशय है कि इस समय भी तुम मेरी ही तलाश में हो।"

विनयसिंह की आँखें सजल हो गईं। खिन्न स्वर में बोले—"सोफ़िया,

तुम्हें अख़्तियार है, मुझे जितना नीच और पतित चाहो, समझो; मगर एक दिन आएगा, जब तुम्हें इन वाक्यों पर पछताना पड़ेगा, और तुम समझोगी कि तुमने मेरे ऊपर कितना अन्याय किया है। लेकिन ज़रा शांत मन से विचार करो, क्या घर पर, यहाँ आने के पहले, मेरे पकड़े जाने की खबर पाकर तुमने भी वही नीति न धारण की थी? अंतर केवल इतना था कि मैंने दूसरों को बरबाद किया, तुम अपने ही को बरबाद करने पर तैयार हो गईं। मैंने तुम्हारी नीति को क्षम्य समझा, वह आप-द्धर्म था। तुमने मेरी नीति को अक्षम्य समझा, और कठोर-से-कठोर आघात जो तुम कर सकती थीं, वह कर बैठीं। किंतु बात एक ही है। तुम्हें मुझको पुलिस की सहायता करते देखकर इतना शोकमय आश्चर्य न हुआ होगा, जितना मुझको तुम्हें मिस्टर क्लार्क के साथ देखकर हुआ। इस समय भी तुम उसी प्रतिहिंसक नीति का अवलंबन कर रही हो, या कम-से-कम मुझसे कह चुकी हो। इतने पर भी तुम्हें मुझ पर दया नहीं आती। तुम्हारी झिड़कियाँ सुनकर मुझे जितना मानसिक कष्ट हुआ, और हो रहा है, वही मेरे लिये असाध्य था। उस पर तुमने इस समय और भी नमक छिड़क दिया। कभी तुम इस निर्दयता पर खून के आँसू बहाओगी। ख़ैर।"

यह कहते-कहते विनय का गला भर आया। फिर वह और कुछ न कह सके।

सोफ़िया ने आँखों में असीम अनुराग भरकर कहा—"आओ, अब हमारी-तुम्हारी मैत्री हो जाय। मेरी उन बातों को क्षमा कर दो।"

विनय ने कंठ-स्वर को सँभालकर कहा—"मैं कुछ कहता हूँ? अगर जी न भरा हो, तो और जो चाहे कह डालो। जब बुरे दिन आते हैं, तो कोई साथी नहीं होता। तुम्हारे यहाँ से आकर मैंने क़ैदियों को मुक्त करने के लिये अधिकारियों से, मिस्टर क्लार्क से, यहाँ तक महाराजा साहब से भी जितनी अनुनय-विनय की, वह मेरा दिल ही जानता है।

पर किसी ने मेरी बातें तक न सुनीं। चारो तरफ़ से निराश होना पड़ा।"

सोफ़ी—"यह तो मैं जानती थी। इस वक्त कहाँ जा रहे हो?"

विनय—"जहन्नुम में।"

सोफ़ी—"मुझे भी लेते चलो।"

विनय—"तुम्हारे लिये स्वर्ग है।"

एक क्षण बाद फिर बोले—"घर जा रहा हूँ। अम्माजी ने बुलाया है। मुझे देखने के लिये उत्सुक हैं।"

सोफ़िया—"इंद्रदत्त तो कहते थे, तुमसे बहुत नाराज़ हैं!"

विनय ने जेब से रानीजी का पत्र निकालकर सोफ़ी को दे दिया, और दूसरी ओर ताकने लगे। कदाचित् वह सोच रहे थे कि यह तो मुझसे इतनी खिंच रही है, और मैं बरबस इसकी ओर दौड़ा जाता हूँ। सहसा सोफ़िया ने पत्र फाड़कर खिड़की के बाहर फेंक दिया, और प्रेम-विह्वल होकर बोली—"मैं तुम्हें न जाने दूँगी। ईश्वर जानता है, न जाने दूँगी। तुम्हारे बदले मैं स्वयं रानीजी के पास जाऊँगी, और उनसे कहूँगी, तुम्हारी अपराधिनी मैं हूँ..." यह कहते-कहते उसकी आवाज़ फँस गई। उसने विनय के कंधे पर सिर रख दिया, और फूट-फूटकर रोने लगी। आवाज़ हलकी हुई, तो फिर बोली—"मुझसे वादा करो कि न जाऊँगा। तुम नहीं जा सकते। धर्म और न्याय के नियम से नहीं जा सकते। बोलो, वादा करते हो?"

उन सजल नयनों में कितनी करुणा, कितनी याचना, कितनी विनय, कितना आग्रह था!

विनय ने कहा—"नहीं सोफ़ी, मुझे जाने दो। तुम माताजी को खूब जानती हो। मैं न जाऊँगा, तो वह अपने दिल में मुझे निर्लज्ज, बेदया, कायर समझने लगेंगी, और इस उद्विग्नता की दशा में न-जाने क्या कर बैठें!"

सोफ़िया—"नहीं विनय, मुझ पर इतना ज़ुल्म न करो। ईश्वर के लिये दया करो। मैं रानीजी के पास जाकर रोऊँगी, उनके पैरों पर गिरूँगी, और उनके मन में तुम्हारे प्रति जो गुबार भरा हुआ है, उसे अपने आँसुओं से धो डालूँगी। मुझे दावा है कि मैं उनके पुत्र-वात्सल्य को जाग्रत् कर दूँगी। मैं उनके स्वभाव से परिचित हूँ। उनका हृदय दया का आगार है। जिस वक़्त मैं उनके चरणों पर गिरकर कहूँगी, अम्मा, तुम्हारा बेटा मेरा मालिक है, मेरे नाते उसे क्षमा कर दो, उस वक़्त वह मुझे पैरों से ठुकराएँगी नहीं। वहाँ से झुँझलाई हुई उठकर चली जायँगी, लेकिन एक क्षण बाद मुझे बुलाएँगी, और प्रेम से गले लगाएँगी। मैं उनसे तुम्हारी प्राण-भिक्षा माँगूँगी, फिर तुम्हें माँग लूँगी। मा का हृदय कभी इतना कठोर नहीं हो सकता। वह यह पत्र लिखकर शायद इस समय पछता रही होंगी, मना रही होंगी कि पत्र न पहुँचा हो। बोलो, वादा करो।"

ऐसे प्रेम में सने, अनुराग में डूबे वाक्य विनय के कानों ने कभी न सुने थे। उन्हें अपना जीवन सार्थक मालूम होने लगा। आह! सोफ़ी अब भी मुझे चाहती है, उसने मुझे क्षमा कर दिया! वह जीवन, जो पहले मरुभूमि के समान निर्जन, निर्जल, निर्जीव था, अब पशु-पक्षियों, सलिल-धाराओं और पुष्प-लतादि से लहराने लगा। आनंद के कपाट खुल गए थे, और उसके अंदर से मधुर गान की तानें, विद्युद्दीपों की झलक, सुगंधित वायु की लपट बाहर आकर चित्त को अनुरक्त करने लगी। विनयसिंह को इस सुरम्य दृश्य ने मोहित कर लिया। जीवन के सुख जीवन के दुख हैं। विराग और आत्मग्लानि ही जीवन के रत्न हैं। हमारी पवित्र कामनाएँ, हमारी निर्मल सेवाएँ, हमारी शुभ कल्पनाएँ विपत्ति ही की भूमि में अंकुरित और पल्लवित होती हैं।

विनय ने विचलित होकर कहा—"सोफ़ी, अम्माजी के पास एक बार मुझे जाने दो। मैं वादा करता हूँ कि जब तक वह फिर स्पष्ट रूप से न कहेंगी······"

सोफ़िया ने विनय की गरदन में बाहें डालकर कहा—"नहीं-नहीं, मुझे तुम्हारे ऊपर भरोसा नहीं, तुम अकेले अपनी रक्षा नहीं कर सकते। तुममें साहस है, आत्माभिमान है, शील है, सब कुछ है, पर धैर्य नहीं। पहले मैं अपने लिये तुम्हें आवश्यक समझती थी, अब तुम्हारे लिये अपने को आवश्यक समझती हूँ। विनय, ज़मीन की तरफ़ क्यों ताकते हो? मेरी ओर देखो। मैंने तुम्हें जो कटु वाक्य कहे, उन पर लज्जित हूँ। ईश्वर साक्षी है, सच्चे दिल से पश्चात्ताप करती हूँ। उन बातों को भूल जाओ। प्रेम जितना ही आदर्शवादी होता है, उतना ही क्षमाशील भी। बोलो। वादा करो। अगर तुम मुझसे गला छुड़ाकर चले जाओगे, तो फिर......तुम्हें सोफ़ी फिर न मिलेगी।"

विनय ने प्रेम-पुलकित होकर कहा—"तुम्हारी इच्छा है, तो न जाऊँगा।"

सोफ़ी—"तो हम अगले स्टेशन पर उतर पड़ेंगे।"

विनय—"नहीं, पहले बनारस चलें। तुम अम्माजी के पास जाना। अगर वह मुझे क्षमा कर देंगी........."

सोफ़ी—विनय, अभी बनारस मत चलो, कुछ दिन चित्त को शांत होने दो, कुछ दिन मन को विश्राम लेने दो। फिर रानीजी का तुम पर क्या अधिकार है! तुम मेरे हो, उन समस्त नीतियों के अनुसार, जो ईश्वर ने और मनुष्य ने रची हैं, तुम मेरे हो। मैं रियायत नहीं, अपना स्वत्व चाहती हूँ। हम अगले स्टेशन पर उतर पड़ेंगे। इसके बाद सोचेंगे, हमें क्या करना है, कहाँ जाना है।"

विनय ने सकुचाते हुए कहा—"जीवन का निर्वाह कैसे होगा? मेरे पास जो कुछ है, वह नायकराम के पास है। वह किसी दूसरे कमरे में है। अगर उसे ख़बर हो गई, तो वह भी हमारे साथ चलेगा।"

सोफ़ी—"इसकी क्या चिंता। नायकराम को जाने दो। प्रेम जंगलों में भी सुखी रह सकता है।"

अँधेरी रात में गाड़ी शैल और शिविर को चीरती चली जाती थी। बाहर दौड़ती हुई पर्वत-मालाओं के सिवा और कुछ न दिखाई देता था। विनय तारों की दौड़ देख रहे थे, सोफ़िया देख रही थी कि आस-पास कोई गाँव है या नहीं।

इतने में स्टेशन नज़र आया। सोफ़ी ने गाड़ी का द्वार खोल दिया, और दोनो चुपके से उतर पड़े, जैसे चिड़ियों का जोड़ा घोंसला से दाने की खोज में उड़ जाय। उन्हें इसकी चिंता नहीं कि आगे व्याध भी है, हिंसक पक्षी भी हैं, किसान की गुलेल भी है। इस समय तो दोनो अपने विचारों में मग्न हैं, दाने से लहराते हुए खेतों की बहार देख रहे हैं। पर वहाँ तक पहुँचना भी उनके भाग्य में है, यह कोई नहीं जानता।

मिस्टर जॉन सेवक ने ताहिरअली की मेहनत और ईमानदारी से प्रसन्न होकर खालों पर कुछ कमीशन नियत कर दिया था। इससे अब उनकी आय अच्छी हो गई थी, जिससे मिल के मजदूरों पर उनका रोब था, ओवरसियर और छोटे-मोटे क्लार्क भी उनका लिहाज़ करते थे। लेकिन आय-वृद्धि के साथ उनके व्यय में भी ख़ासी वृद्धि हो गई थी। जब यहाँ अपने बराबर के लोग न थे, फटे जूतों पर ही बसर कर लिया करते, खुद बाज़ार से सौदा-सुलफ़ लाते, कभी-कभी पानी भी खींच लेते थे। कोई हँसनेवाला न था। अब मिल के कर्मचारियों के सामने उन्हें ज़्यादा शान से रहना पड़ता था, और कोई मोटा काम अपने हाथ से करते हुए शर्म आती थी। इसलिये विवश होकर एक बुढ़िया मामा रख ली थी। पान-इलायची आदि का ख़र्च कई गुना बढ़ गया था। उस पर कभी-कभी मित्रों की दावत भी करनी पड़ती थी। अकेली रहनेवाले से कोई दावत की इच्छा नहीं करता। जानता है, दावत फीकी होगी। लेकिन सकुटुंब रहनेवालों के लिये भागने का कोई द्वार नहीं रहता। किसी ने कहा—"ख़ाँ साहब, आज ज़रा ज़रदे पकवाइए, बहुत दिन हुए रोटी-दाल खाते-खाते, ज़बान मोटी पड़ गई।" ताहिरअली को इसके जवाब में कहना ही पड़ता—"हाँ-हाँ, लीजिए, आज ही बनवाता हूँ।" घर में एक ही स्त्री होती, तो उसकी बीमारी का बहाना करके टालते, लेकिन यहाँ तो एक छोड़ तीन-तीन महिलाएँ थीं। फिर ताहिरअली रोटी के चोर न थे, दोस्तों के आतिथ्य में उन्हें आनंद आता था। सारांश यह कि शराफ़त के निबाह में उनकी बधिया बैठी जाती थी। बाज़ार में तो अब उनकी रत्ती-भर भी साख न रही थी, जमामार प्रसिद्ध हो गए थे, कोई धेले की

चीज़ को भी न पतियाता, इसलिये मित्रों से हथफेर रुपए लेकर काम चलाया करते। बाज़ारवालों ने निराश होकर तक़ाज़ा करना ही छोड़ दिया, समझ गए कि इसके पास है ही नहीं, देगा कहाँ से। लिपि-बद्ध ऋण अमर होता है, वचन-बद्ध ऋण निर्जीव और नश्वर। एक अरबी घोड़ा है, जो एक नहीं सह सकता; या तो सवार का अंत कर देगा या अपना। दूसरा लद्दू टट्टू है, जिसे उसके पैर नहीं, कोड़े चलाते हैं; कोड़ा टूटा या सवार का हाथ रुका, और टट्टू बैठा, फिर नहीं उठ सकता।

लेकिन मित्रों के आतिथ्य-सत्कार ही तक रहता, तो शायद ताहिरअली किसी तरह खींच-तानकर दोनो चूल बराबर कर लेते। मुसीबत यह थी कि उनके छोटे भाई माहिरअली इन दिनों मुरादाबाद के पुलिस-ट्रेनिंग-स्कूल में भरती हो गए थे। वेतन पाते ही उसका आधा आँखें बंद करके मुरादाबाद भेज देना पड़ता था। ताहिरअली ख़र्च से डरते थे, पर उनकी दोनो माताओं ने उन्हें ताने देकर घर में रहना मुश्किल कर दिया। दोनो ही की यह हार्दिक लालसा थी कि माहिरअली पुलिस में जाय, और दारोग़ा बने। बेचारे ताहिरअली महीनों तक हुक्काम के बँगलों की ख़ाक छानते रहे; यहाँ जा, वहाँ जा; इन्हें डाली दे, उन्हें नज़राना पेश कर; इनकी शिफ़ारिश करवा, उनकी चिट्ठी ला। बारे मिस्टर जॉन सेवक की सिफ़ारिश काम कर गई। ये सब मोरचे तो पार हो गए। अंतिम मोरचा डॉक्टरी परीक्षा थी। यहाँ सिफ़ारिश और ख़ुशामद की गुज़र न थी। ३२) सिविल सर्जन के लिये, १६) असिस्टेंट सर्जन के लिये, और ८) क्लर्क तथा चपरासियों के लिये, कुल ५६) का जोड़ था। ये रुपए कहाँ से आएँ? चारो ओर से निराश होकर ताहिरअली कुलसूम के पास आए, और बोले—"तुम्हारे पास कोई ज़ेवर हो, तो दे दो, मैं बहुत जल्द छुड़ा दूँगा।" उसने तिनककर संदूक़ उनके सामने पटक दिया, और कहा—"यहाँ गहनों की हवस नहीं, सब आस पूरी हो चुकी। रोटी-दाल मिलती जाय, यही ग़नीमत है। तुम्हारे

गहने तुम्हारे सामने हैं, जो चाहे करो।" ताहिरअली कुछ देर तक तो शर्म से सिर न उठा सके। फिर संदूक की ओर देखा। ऐसी एक भी वस्तु न थी, जिससे इसकी चौथाई रक़म भी मिल सकती। हाँ, सब चीज़ों को कुड़ा कर देने पर काम चल सकता था। सकुचाते हुए सब चीज़ें निकालकर रूमाल में बाँधीं, और बाहर आकर इस सोच में बैठे ही थे कि इन्हें क्योंकर ले जाऊँ कि इतने में मामा आई। ताहिरअली को सूझी, क्यों न इसकी मारफ़त रुपए मँगवाऊँ। मामाएँ इन कामों में निपुण होती हैं। धीरे से बुलाकर उससे यह समस्या कही। बुढ़िया ने कहा—"मियाँ, यह कौन-सी बड़ी बात है, चीज़ तो रखनी है, कौन किसी से ख़ैरात माँगते हैं। मैं रुपए ला दूँगी, आप निसाख़ातिर रहें।" गहनों की पोटली लेकर चली, तो ज़ैनब ने देखा। बुलाकर बोलीं—"तू कहाँ लिए-लिए फिरेगी, मैं माहिरअली से रुपए मँगवाए देती हूँ, उनका एक दोस्त साहूकारी का काम करता है।" मामा ने पोटली उसे दे दी। दो घंटे बाद अपने पास से ५६) निकालकर दिए। इस भाँति यह कठिन समस्या हल हुई। माहिरअली मुरादाबाद सिधारे, और तब से वहीं पढ़ रहे थे। वेतन का आधा भाग वहाँ निकल जाने के बाद शेष आधे में घर का ख़र्च बड़ी मुश्किल से पूरा पड़ता। कभी-कभी उपवास करना पड़ जाता। उधर माहिरअली आधे ही पर संतोष न करते। कभी लिखते, कपड़ों के लिये रुपए भेजिए; कभी टेनिस खेलने के लिये सूट की फ़रमाइश करते। ताहिरअली को कमीशन के रुपयों में से भी कुछ-न-कुछ वहाँ भेज देना पड़ता था।

एक दिन रात-भर उपवास करने के बाद प्रातःकाल ज़ैनब ने आकर कहा—"आज रुपयों की कुछ फ़िक्र की, या आज भी रोज़ा रहेगा?"

ताहिरअली चिढ़कर कहा—"मैं अब कहाँ से लाऊँ? तुम्हारे सामने कमीशन के रुपए मुरादाबाद नहीं भेज दिए थे? बार-बार लिखता हूँ कि किफ़ायत से ख़र्च करो, मैं बहुत तंग हूँ; लेकिन वह हज़रत

फ़रमाते हैं, यहाँ एक-एक लड़का घर से सैकड़ों मँगवाता है, और बेदेख ख़र्च करता है, इससे ज़्यादा किफ़ायत मेरे किए नहीं हो सकती। जब उधर का यह हाल है, इधर का यह हाल, तो रुपए कहाँ से लाऊँ? दोस्तों में भी तो कोई ऐसा नहीं बचा, जिससे कुछ माँग सकूँ।"

ज़ैनब—"सुनती हो रक़िया, इनकी बातें? लड़के को ख़र्च क्या दे रहे हैं, गोया मेरे ऊपर कोई एहसान कर रहे हैं। मुझे क्या, तुम उसे ख़र्च भेजो या बुलाओ। उसके वहाँ पढ़ने से यहाँ पेट थोड़े ही भर जायगा। तुम्हारा भाई है, पढ़ाओ या न पढ़ाओ, मुझ पर क्या एहसान!"

ताहिर—"तो तुम्हीं बताओ, रुपए कहाँ से लाऊँ?"

ज़ैनब—"मरदों के हज़ार हाथ होते हैं। तुम्हारे अब्बाजान दस ही रुपए पाते थे कि ज़्यादा? २०) तो मरने के कुछ दिन पहले हो गए थे। आख़िर कुनबे को पालते थे कि नहीं। कभी फ़ाके की नौबत नहीं आई। मोटा-महीन दिन में दो बार ज़रूर मयस्सर हो जाता था। तुम्हारी तालीम हुई, शादी हुई, कपड़े-लत्ते भी आते थे। ख़ुदा के करम से बिसात के मुआफ़िक़ गहने भी बनते थे। वह तो मुझसे कभी न पूछते थे, कहाँ से रुपए लाऊँ? आख़िर कहीं से लाते ही तो थे।"

ताहिर—"पुलिस के मुहकमे में हर तरह की गुंजाइश होती है। यहाँ क्या है? गिनी बोटियाँ, नपा शोरबा।"

ज़ैनब—"मैं तुम्हारी जगह होती, तो दिखा देती कि इसी नौकरी में कैसे कंचन बरसता है। सैकड़ों चमार हैं, क्या कहो, तो सब एक-एक गट्ठा लकड़ी न लाएँ? सबों के छान-छप्पर पर तरकारियाँ लगी होंगी, क्यों नहीं तुड़वा मँगाते? खालों के दाम में भी कमी-बेशी करने का तुम्हें अख़्तियार है। कोई यहाँ बैठा देख नहीं रहा है। दस के पौने दस लिख दो, तो क्या हरज हो? रुपए की रसीदों पर अँगूठे का निशान ही न बनवाते हो। निशान पुकारने जाता है कि मैं दस हूँ या पौने दस? फिर

अब तुम्हारा एतबार जम गया। साहब को सुभा भी नहीं हो सकता। आख़िर इस एतबार से कुछ अपना फ़ायदा भी तो हो कि सारी ज़िंदगी दूसरों ही का पेट भरते रहोगे। इस वक़्त भी तुम्हारी रोकड़ में सैकड़ों रुपए होंगे। जितनी ज़रूरत समझो, इस वक़्त निकाल लो। जब हाथ में रुपए आएँ, रख देना। रोज़ की आमदनी-ख़र्च का मीज़ान ही मिलना चाहिए न? यह कौन-सी बड़ी बात है। आज खाल का दाम न दिया, कल दिया, इसमें क्या तरद्दुद है? चमार कहीं फ़रियाद करने न जायगा। सभी ऐसा करते हैं, और इसी तरह दुनिया का काम चलता है। ईमान दुरुस्त रखना हो, तो इंसान को चाहिए कि फ़क़ीर हो जाय।"

रक़िया—"बहन, ईमान है कहाँ, ज़माने का काम तो इसी तरह चलता है।"

ताहिर—"भई, जो लोग करते हों, वे जानें, मेरी तो इन हथकंडों से रूह फ़ना होती है। अमानत में हाथ नहीं लगा सकता। आख़िर ख़ुदा को भी तो मुँह दिखाना है। उसकी मरज़ी हो, ज़िंदा रक्खे या मार डाले।"

ज़ैनब—"वाह रे मरदुए, क़ुरबान जाऊँ तेरे ईमान पर। तेरा ईमान सलामत रहे, चाहे घर के आदमी भूखों मर जायँ। तुम्हारी मंशा यही है कि ये सब मुँह में कालिख लगाकर कहीं निकल जायँ। बस, और कुछ नहीं। फ़िक्र तो आदमी को अपने बीबी-बच्चों की होती है। उनके लिये बाज़ार मौजूद है। फ़ाक़ा तो हमारे लिये है। उनका फ़ाक़ा तो महज़ दिखावा है।"

ताहिरअली ने इस मिथ्या आक्षेप पर क्षुब्ध होकर कहा—"क्यों जलाती हो अम्मांजान! ख़ुदा गवाह है, जो बच्चे के लिये धेले की भी कोई चीज़ ली हो। मेरी नीयत तो कभी ऐसी न थी, न है, न होगी, यों तुम्हारी तबीयत है, जो चाहो समझो।"

रक़िया—"दोनो बच्चे रात-भर तड़पते रहे, 'अम्मा रोटी, अम्मा रोटी!' पूछो, अम्मा क्या आप रोटी हो जाय! तुम्हारे बच्चे और नहीं तो ओवरसियर के घर चले जाते हैं, वहाँ से कुछ-न-कुछ खा-पी आते हैं। यहाँ तो मेरी ही जान खाते हैं।"

ज़ैनब—"अपने बाल-बच्चों को खिलाने-न-खिलाने का तुम्हें अख़्तियार है। कोई तुम्हारा हिसाबिया तो है नहीं, चाहे शीरमाल खिलाओ या भूखों रक्खो। हमारे बच्चों को तो घर की रूखी रोटियों के सिवा और कहीं ठिकाना नहीं। यहाँ कोई वली नहीं है, जो फ़ाक़ों से ज़िंदा रहे। जाकर कुछ इंतज़ाम करो।"

ताहिरअली बाहर आकर बड़ी देर तक घोर चिंता में खड़े रहे। आज पहली बार उन्होंने अमानत के रुपए को हाथ लगाने का दुस्साहस किया। पहले इधर-उधर देखा, कोई खड़ा तो नहीं है, फिर बहुत धीरे से लोहे का संदूक़ खोला। यों दिन में सैकड़ों बार वही संदूक खोलते, बंद करते थे, पर इस वक्त उनके हाथ थर-थर काँप रहे थे। आख़िर उन्होंने रुपए निकाल लिए, तब सेफ़ बंद किया। रुपए लाकर ज़ैनब के सामने फेंक दिए, और बिना कुछ कहे-सुने बाहर चले गए। दिल को यों समझाया—"अगर खुदा को मंज़ूर होता कि मेरा ईमान सलामत रहे, तो क्यों इतने आदमियों का बोझ मेरे सिर डाल देता। यह बोझ सिर पर रक्खा था, तो उसके उठाने की ताक़त भी तो देनी चाहिए थी। मैं खुद फ़ाक़े कर सकता हूँ, पर दूसरों को तो मजबूर नहीं कर सकता। अगर इस मजबूरी की हालत में ख़ुदा मुझे सज़ा के क़ाबिल समझे, तो वह मुंसिफ़ नहीं है।" इस दलील से उन्हें कुछ तस्कीन हुई। लेकिन मि० जॉन सेवक तो इस दलील से माननेवाले आदमी न थे। ताहिरअली सोचने लगे, कौन चमार सबसे मोटा है, जिसे आज रुपए न दूँ, तो चीं-चपड़ न करे। नहीं, मोटे आदमी के रुपए रोकना मुनासिब नहीं, मोटे आदमी निडर होते हैं। कौन जाने, किसी से कह ही बैठे।

जो सबसे ग़रीब, सबसे सीधा हो, उसी के रुपए रोकने चाहिए। इसमें कोई डर नहीं। चुपके से बुलाकर अँगूठे के निशान बनवा लूँगा। उसकी हिम्मत ही न पड़ेगी कि किसी से कहे। उस दिन से उन्हें जब ज़रूरत पड़ती, रोकड़ से रुपए निकाल लेते, फिर रख देते। धीरे-धीरे रुपए पूरे कर देने की चिंता कम होने लगी। रोकड़ के रुपयों में कमी पड़ने लगी। दिल मज़बूत होता गया। यहाँ तक कि छठा महीना जाते-जाते वह रोकड़ के पूरे डेढ़ सौ रुपए ख़र्च कर चुके थे।

अब ताहिरअली को नित्य यही चिंता सवार रहती कि कहीं बात खुल न जाय। चमारों से लल्लो-चप्पो की बातें करते। कोई ऐसा उपाय सोच निकालना चाहते थे कि रोकड़ में इन रुपयों का पता न चले। लेकिन बही-खाते में हेर-फेर करने की हिम्मत न पड़ती थी। घर में भी किसी से यह बात न कहते। बस, ख़ुदा से यही दुआ करते थे कि माहिरअली आ जायँ। उन्हें १००) महीना मिलेंगे। दो महीने में अदा कर दूँगा। इतने दिन साहब हिसाब की जाँच न करें, तो बेड़ा पार है।

उन्होंने दिल में निश्चय किया, अब कुछ ही हो, और रुपए न निकालूँगा। लेकिन सातवें महीने में फिर २५) निकालने पड़ गए। अब माहिरअली का साल भी पूरा हो चला था। थोड़े ही दिनों की और कसर थी। सोचा, आख़िर मुझे उसी की बदौलत तो यह ज़ेरबारी हो रही है। ज्यों ही आया, मैंने घर उसे सौंपा। कह दूँगा, भाई, इतने दिनों तक मैंने सँभाला। अपने से जो कुछ बन पड़ा, तुम्हारी तालीम में ख़र्च किया, तुम्हारा रोज़गार लगा दिया। अब कुछ दिनों के लिये मुझे इस फ़िक्र से नजात दो। उसके आने तक यह परदा ढका रह जाय, तो तुम भाग्यवार निकल जाना। पहले वह ऐसी ही कोई ज़रूरत पड़ने पर साहब के पास जाते थे। अब दिन में एक बार ज़रूर मिलते। मुलाक़ातों से संदेह को शांत रखना चाहते थे। जिस चीज़ से ठोकर लगने का भय होता है, उससे हम और भी निकट जाते हैं। फ़लतः उनसे बार-बार

पूछती कि आजकल तुम इतने रुपए कहाँ पा जाते हो ? समझाती—"देखो, नीयत न ख़राब करना। तकलीफ़ और तंगी से बसर करना इतना बुरा नहीं, जितना ख़ुदा के सामने गुनहगार बनना।" लेकिन ताहिरअली इधर-उधर की बातें करके उसे बहला दिया करते थे।

एक दिन सुबह को ताहिरअली नमाज़ अदा करके दफ़्तर में आए, तो देखा, एक चमार खड़ा रो रहा है। पूछा, क्या बात है ? बोला—"क्या बताऊँ खाँ साहब, रात घरवाली गुज़र गई। अब उसका किरिया-करम करना है, मेरा जो कुछ हिसाब हो, दे दीजिए, दौड़ा हुआ आया हूँ, कफ़न के रुपए भी पास नहीं हैं।" ताहिरअली की तहवील में रुपए कम थे। कल स्टेशन से माल भेजा था, महसूल देने में रुपए ख़र्च हो गए थे। आज साहब के सामने हिसाब पेश करके रुपए लानेवाले थे। इस चमार को कई खालों के दाम देने थे। कोई बहाना न कर सके। थोड़े-से रुपए लाकर उसे दिए।

चमार ने कहा—"हजूर, इतने में तो कफन भी पूरा न होगा। मरनेवाली अब फिर तो आएगी नहीं, उसका किरिया-करम तो दिल खोलकर कर दूँ। मेरे जितने रुपए आते हैं, सब दे दीजिए। यहाँ तो जब तक दस बोतल दारू न होगी, लाश दरवज्जे से न उठेगी।"

ताहिरअली ने कहा—"इस वक़्त रुपए नहीं हैं, फिर ले जाना।"

चमार—"वाह खाँ साहब, वाह ! अँगूठे का निसान कराए तो महीनों हो गए ; अब कहते हो, फिर ले जाना। इस बखत न दोगे, तो क्या आक़बत में दोगे ? चाहिए तो यह था कि अपनी ओर से कुछ मदद करते, उलटे मेरे ही रुपए बाक़ी रखते हो।"

ताहिरअली कुछ रुपए और लाए। चमार ने सब रुपए ज़मीन पर पटक दिए, और बोला—"आप थूक से चुहिया जिलाते हैं ! मैं आपसे उधार नहीं माँगता, खैरात नहीं माँगता, अपने रुपए माँगता हूँ और आप यह कट्टूसी कर रहे हैं, जानो घर से देर हे हों।"

ताहिरअली ने कहा—"इस वक्त, इससे ज़्यादा मुमकिन नहीं।"

चमार था तो सीधा, पर उसे कुछ संदेह हो गया, गर्म पड़ गया।

सहसा मिस्टर जॉन सेवक आ पहुँचे। आज झल्लाए हुए थे। प्रभु सेवक की उद्दंडता ने उन्हें अव्यवस्थित-सा कर दिया था। यह झमेला देखा, तो कठोर स्वर से बोले—"इसके रुपए क्यों नहीं दे देते? मैंने आपसे ताकीद कर दी थी कि सब आदमियों का हिसाब रोज़ साफ़ कर दिया कीजिए। आप क्यों बाक़ी रखते हैं? क्या आपकी तहवील में रुपए नहीं हैं?"

ताहिरअली रुपए लाने चले, तो कुछ ऐसे घबराए हुए थे कि साहब को तुरंत संदेह हो गया। रजिस्टर उठा लिया, और हिसाब देखने लगे। हिसाब साफ़ था। इस चमार के रुपए अदा हो चुके थे। उसके अँगूठे का निशान मौजूद था। फिर यह बक़ाया कैसा। इतने में और कई चमार आ गए। इस चमार को रुपए लिए जाते देखा, तो समझे, आज हिसाब चुकता किया जा रहा है। बोले—"सरकार, हमारा भी मिल जाय।"

साहब ने रजिस्टर ज़मीन पर पटक दिया, और डपटकर बोले—"यह क्या गोल-माल है? जब इनसे रसीद ली गई, तो इनके रुपए क्यों नहीं दिए गए?"

ताहिरअली से और कुछ तो न बन पड़ा, साहब के पैरों पर गिर पड़े, और रोने लगे। मेद में बैठकर घूरने के लिये बड़े घुटे हुए आदमी की ज़रूरत होती है।

चमारों ने परिस्थिति को ताड़कर कहा—"सरकार, हमारा पिछला कुछ नहीं है, हम तो आज के रुपयों के लिये कहते थे। ज़रा देर हुई, माल रख गए थे। मीर साहब उस वक़्त नमाज़ पढ़ते थे।"

साहब ने रजिस्टर उठाकर देखा, तो उन्हें किसी-किसी नाम के सामने एक हलका-सा × का चिह्न दिखाई दिया। समझ गए, हज़रत ने यही

रुपए उड़ाए हैं। एक चमार से, जो बाज़ार से सिगरेट पीता आ रहा था, पूछा—"तेरा नाम क्या है?"

चमार—"चुनकू।"

साहब—"तेरे कितने रुपए बाक़ी हैं?"

कई चमारों ने उसे हाथ के इशारे से समझाया कि कह दे कुछ नहीं। चुनकू इशारा न समझा। बोला—"१७) पहले के थे, ६) आज के।"

साहब ने अपनी नोटबुक पर उसका नाम टाँक लिया। ताहिरअली को कुछ कहा न सुना, एक शब्द भी न बोले। जहाँ क़ानून से सज़ा मिल सकती थी, वहाँ डाँट-फटकार की ज़रूरत क्या? सब रजिस्टर उठवाकर गाड़ी में रक्खे, दफ़्तर में ताला बंद किया; सेफ़ में दोहरे ताले लगाए, तालियाँ जेब में रक्खीं, और फ़िटन पर सवार हो गए। ताहिरअली की इतनी हिम्मत भी न पड़ी कि कुछ अनुनय-विनय करें। वाणी ही शिथिल हो गई। स्तंभित-से खड़े रह गए। चमारों के चौधरी ने दिलासा दिया—"आप क्यों डरते हो खाँ साहब, आपका बाल तो बाँका होने न पाएगा। हम कह देंगे, अपने रुपए भर पाए हैं। क्यों रे चुनकुआ, निरा गँवार ही है, इसारा भी नहीं समझता?"

चुनकू ने लज्जित होकर कहा—"चौधरी, भगवान जानें, जो मैं जरा भी इसारा पा जाता, तो रुपए का नाम ही न लेता।"

चौधरी—"अपना बयान बदल देना; कह देना, मुझे जबानी हिसाब याद नहीं था।"

चुनकू ने इसका कुछ जवाब न दिया। बयान बदलना साँप के मुँह में उँगली डालना था। ताहिरअली को इन बातों से ज़रा भी तस्कीन नहीं हुई। वह पछता रहे थे। इसलिये नहीं कि मैंने रुपए क्यों खर्च किए, बल्कि इसलिये कि नामों के सामने × के निशान क्यों लगाए। अलग किसी काग़ज़ पर टाँक लेता, तो आज क्यों यह नौबत आती? अब ख़ुदा ही ख़ैर

करे। साहब मुआफ़ करनेवाले आदमी नहीं हैं। कुछ सूझ ही न पड़ता था कि क्या करूँ। हाथ-पाँव फूल गए थे!

चौधरी बोला—"ख़ाँ साहब, अब हाथ-पर-हाथ धरकर बैठने से काम न चलेगा। यह साहब बड़ा जल्लाद आदमी है। जल्दी रुपए जुटाइए। आपको याद है, कुल कितने रुपए निकलते होंगे?"

ताहिर—"रुपयों की कोई फ़िक्र नहीं है जी, यहाँ तो दाग़ लग जाने का अफ़सोस है। क्या जानता था कि आज यह आफ़त आनेवाली है, नहीं तो पहले से तैयार न हो जाता। जानते हो, यहाँ कारख़ाने का एक-न-एक आदमी क़र्ज़ माँगने को सिर पर सवार रहता है। किस-किससे हीला करूँ? और फिर मुरौवत में हीला करने से भी तो काम नहीं चलता। रुपए निकालकर दे देता हूँ। यह उसी शराफ़त की सज़ा है। १५०) से कम न निकलेंगे, बल्कि चाहे २००) हो गए हों।"

चौधरी—"भला, सरकारी रकम इस तरह ख़रच की जाती है। आपने ख़रच की या किसी को उधार दे दी, बात एक ही है। वे लोग रुपए दे देंगे?"

ताहिर—"ऐसा खरा तो एक भी नहीं। कोई कहेगा, तनख़्वाह मिलने पर दूँगा। कोई कुछ बहाना करेगा। समझ में नहीं आता, क्या करूँ?"

चौधरी—"घर में तो रुपए होंगे?"

ताहिर—"होने को क्या दो-चार सौ रुपए न होंगे; लेकिन जानते हो, औरतों का रुपया जान के पीछे रहता है। ख़ुदा को जो मंज़ूर है, वह होगा।"

साहब अपने रुपए ही न लेंगे कि किसी की जान लेंगे। समझ लो, एक दिन नशा नहीं खाया।"

चौधरी तो चमारों से रुपए बटोरने लगा। ताहिरअली के दोस्तों ने यह हाल सुना, तो चुपके से दबक गए कि कहीं ताहिरअली कुछ माँग न बैठें। हाँ, जब तीसरे पहर दारोगा ने आकर तहक़ीक़ात करनी शुरू की, और ताहिरअली को हिरासत में ले लिया, तो लोग तमाशा देखने आ पहुँचे। घर में हाय-हाय मच गई। कुलसूम ने जाकर ज़ैनब से कहा—"लीजिए, अब तो आपका अरमान निकला!"

ज़ैनब ने कहा—"तुम मुझसे क्या बिगड़ती हो बेगम! अरमान निकले होंगे, तो तुम्हारे, न निकले होंगे, तो तुम्हारे। मैंने थोड़े ही कहा था कि जाकर किसी के घर में डाका मारो। गुलछर्रे तुमने उड़ाए होंगे, यहाँ तो रोटी-दाल के सिवा और किसी का कुछ नहीं जानते।"

कुलसूम के पास तो कफ़न को कौड़ी भी न थी, ज़ैनब के पास रुपए थे, पर उसने दिल जलाना ही काफ़ी समझा। कुलसूम को इस समय ताहिर-अली से सहानुभूति न थी। उसे उन पर क्रोध आ रहा था, जैसे किसी को अपने बच्चे को चाकू से उँगली काटते देखकर ग़ुस्सा आए।

संध्या हो रही थी। ताहिरअली के लिये दारोगा ने एक इक्का मँगवाया। उस पर चार कांस्टेबिल उन्हें लेकर बैठे। दारोगा जानता था कि यह माहिरअली के भाई हैं, कुछ लिहाज़ करता था। चलते वक़्त बोला, अगर आपको घर में किसी से कुछ कहना हो, तो आप जा सकते हैं; औरतें घबरा रही होंगी, उन्हें ज़रा तस्कीन देते आइए। पर ताहिरअली ने कहा, मुझे किसी से कुछ नहीं कहना है। वह कुलसूम को अपनी सूरत न दिखाना चाहते थे, जिसे उन्होंने जान-बूझकर ग़ारत किया था, और निराधार छोड़े जाते थे। कुलसूम द्वार पर खड़ी थी। उसका क्रोध प्रतिक्षण शोक की सूरत पकड़ता जाता था, यहाँ तक कि जब इक्का चला, तो वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बच्चे 'अब्बा, अब्बा' करते इक्के के पीछे दौड़े।

दारोग़ा ने उन्हें एक-एक चवन्नी मिठाई खाने को देकर फुसला दिया। ताहिरअली तो उधर हिरासत में गए, इधर घड़ी रात जाते-जाते चमारों का चौधरी रुपए लेकर मिस्टर सेवक के पास पहुँचा। साहब बोले—"ये रुपए तुम उनके घरवालों को दे दो, तो उनका गुज़र हो जाय। मुआमला अब पुलिस के हाथ में है, मैं कुछ नहीं कर सकता।"

चौधरी—"हजूर, आदमी से खता हो ही जाती है, इतने दिनों तक आपकी चाकरी की, हजूर को उन पर कुछ दया करनी चाहिए। बड़ा भारी परिवार है सरकार, बाल-बच्चे भूखों मर जायँगे।"

जॉन सेवक—"मैं यह सब जानता हूँ, बेशक उनका खर्च बहुत था। इसीलिये मैंने माल पर कटौती दे दी थी। मैं जानता हूँ कि उन्होंने जो कुछ किया है, मजबूर होकर किया है; लेकिन विष किसी नीयत से खाया जाय, विष ही का काम करेगा, कभी अमृत नहीं हो सकता। विश्वासघात विष से कम घातक नहीं होता। तुम ये रुपए ले जाकर उनके घरवालों को दे दो। मुझे खाँ साहब से कोई बिगाड़ नहीं है, लेकिन अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता। पाप को क्षमा करना पाप करना है।"

चौधरी यहाँ से निराश होकर चला गया। दूसरे दिन अभियोग चला। ताहिरअली दोषी पाए गए। वह अपनी सफ़ाई न पेश कर सके। छः महीने की सज़ा हो गई।

जब ताहिरअली कांस्टेबिलों के साथ जेल की तरफ़ जा रहे थे, तो उन्हें माहिरअली ताँगे पर सवार आता हुआ दिखाई दिया। उनका हृदय गद्‌गद हो गया। आँखों से आँसू की झड़ी लग गई। समझे, माहिर मुझसे मिलने दौड़ा चला आता है। शायद आज ही आया है, और आते-ही-आते यह ख़बर पाकर बेक़रार हो गया है। जब ताँगा समीप आ गया, तो वह चिल्लाकर रोने लगे। माहिरअली ने एक बार उन्हें देखा, लेकिन न सलाम-बंदगी की, न ताँगा रोका, न फिर इधर दृष्टिपात किया, मुँह फेर लिया, मानो देखा ही नहीं। ताँगा ताहिरअली की बग़ल से निकल गया।

उनके मर्मस्थल से एक सर्द आह निकल गई। एक बार फिर चिल्लाकर रोए। वह आनंद की ध्वनि थी, यह शोक का विलाप ; वे आँसू की बूँदें थीं, ये ख़ून की।

किंतु एक ही क्षण में उनकी आत्मवेदना शांत हो गई—"माहिर ने मुझे देखा ही न होगा। उसकी निगाह मेरी तरफ़ उठी ज़रूर थी, लेकिन शायद वह किसी ख़याल में डूबा हुआ था। ऐसा होता भी तो है कि जब हम किसी ख़याल में होते हैं, तो न सामने की चीज़ें दिखाई देती हैं, न क़रीब की बातें सुनाई देती हैं। यही सबब है। अच्छा ही हुआ कि उसने मुझे न देखा, नहीं तो इधर मुझे नदामत होती, उधर उसे रंज होता।"

उधर माहिरअली मकान पर पहुँचे, तो छोटे भाई आकर लिपट गए। ताहिरअली के दोनो बच्चे भी दौड़े, और 'माहिर चाचा आए' कहकर उछलने-कूदने लगे। कुलसूम भी रोती हुई निकल आई। सलाम-बंदगी के पश्चात् माहिर अपनी माता के पास गए। उसने उन्हें छाती से लगा लिया।

माहिर—"तुम्हारा ख़त न जाता, तो अभी मैं थोड़े ही आता। इम्तहान के बाद ही तो वहाँ मज़ा आता है, कभी मैच, कभी दावत, कभी सैर, कभी मुशायरे। भाई साहब को यह क्या हिमाक़त सूझी!"

ज़ैनब—"बेगम साहब की फ़रमाइशें कैसे पूरी होतीं! ज़ेवर चाहिए, ज़रदा चाहिए, ज़री चाहिए, कहाँ से आता! उस पर कहती हैं, तुम्हीं लोगों ने उन्हें मटियामेट किया। पूछो, रोटी-दाल में ऐसा कौन-सा छप्पन टके का ख़र्च था। महीनों सिर में तेल डालना नसीब न होता था। अपने पास से पैसे निकालो, तो पान खाओ। उस पर इतने ताने!"

माहिर—"मैंने तो स्टेशन से आते हुए उन्हें जेल जाते देखा। मैं तो शर्म के मारे उनसे कुछ न बोला, बंदगी तक न की। आख़िर लोग यही न कहते कि इनका भाई जेलख़ाने जा रहा है! मुँह फेरकर चला

आया। भैया रो पड़े। मेरा दिल भी मसोस उठा, जी चाहता था, उनके गले लिपट जाऊँ; लेकिन शर्म आ गई। थानेदार कोई मामूली आदमी नहीं होता। उसका शुमार हुक्काम में होता है। इसका ख़याल न करूँगा, तो बदनाम हो जाऊँगा।"

ज़ैनब—"छ महीने की सज़ा हुई है।"

माहिर—"जुर्म तो बड़ा था, लेकिन शायद हाकिम ने रहम किया।"

ज़ैनब—"तुम्हारे अब्बा का लिहाज़ किया होगा; नहीं तो तीन साल से कम के लिये न जाते।"

माहिर—"ख़ानदान में दाग़ लगा दिया। बुज़ुर्गों की आबरू ख़ाक में मिला दी।"

ज़ैनब—"ख़ुदा न करे कि कोई मर्द औरत का कलमा पढ़े।"

इतने में मामा नाश्ते के लिये मिठाइयाँ लाई। माहिरअली ने एक मिठाई ज़ाहिर को दी, एक ज़ाबिर को। इन दोनो ने जाकर साबिर और नसीमा को दिखाई। वे दोनो भी दौड़े। ज़ैनब ने कहा—"जाओ, खेलते क्यों नहीं! क्या सिर पर डट गए। न-जाने कहाँ के मरभुखे छोकरे हैं। इन सबों के मारे कोई चीज़ मुँह में डालनी मुश्किल है। बला की तरह सिर पर सवार हो जाते हैं। रात-दिन खाते ही रहते हैं, फिर भी जी नहीं भरता।"

रक़िया—"छिछोरी मा के बच्चे और क्या होंगे।"

माहिर ने एक-एक मिठाई उन दोनो को भी दी। तब बोले—"अब गुज़र-बसर की क्या सूरत होगी? भाभी के पास तो रुपए होंगे न?"

ज़ैनब—"होंगे क्यों नहीं। इन्हीं रुपयों के लिये तो खसम को जेल भेजा। देखती हूँ, क्या इंतज़ाम करती है। यहाँ किसी को क्या ग़रज़ पड़ी है कि पूछने जाय।"

माहिर—"मुझे अभी न-जाने कितने दिनों में जगह मिले। महीना-भर लग जाय, दो महीने लग जायँ। तब तक मुझे दिक़ मत करना।"

ज़ैनब—"तुम इसका ग़म न करो बेटा! वह अपना सँभालें, हमारा भी ख़ुदा हाफ़िज़ है। वह पुलाव खाकर सोएँगी, तो हमें भी रूखी रोटियाँ मयस्सर हो ही जायँगी।"

जब शाम हो गई, तो ज़ैनब ने मामा से कहा—"जाकर बेगम साहब से पूछो, कुछ सौदा-सुलफ़ आएगा, या आज मातम मनाया जायगा।"

मामा ने लौट आकर कहा—"वह तो बैठी रो रही हैं। कहती हैं, जिसे भूख हो, खाय; मुझे नहीं खाना है।"

ज़ैनब—"देखा? यह तो मैं पहले ही कहती थी कि साफ़ जवाब मिलेगा। जानती है कि लड़का परदेस से आया है, मगर पैसे न निकलेंगे! अपने और अपने बच्चों के लिये बाज़ार से खाना मँगवा लेगी, दूसरे खाएँ या मरें, उसकी बला से। ख़ैर, उन्हें उनके मीठे टुकड़े मुबारक रहें, हमारा भी अल्लाह मालिक है।"

कुलसूम ने जब से सुना था कि ताहिरअली को छ महीने की सज़ा हो गई, तभी से उसकी आँखों में अँधेरा-सा छाया हुआ था। मामा का संदेश सुना, तो जल उठी। बोली—"उनसे कह दो, पकाएँ-खाएँ, यहाँ भूख नहीं है। बच्चों पर रहम आए, तो दो नेवाले इन्हें भी दे दें।"

मामा ने इसी वाक्य का अन्वय किया था, जिसने अर्थ का अनर्थ कर दिया।

रात के नौ बज गए। कुलसूम देख रही थी कि चूल्हा गर्म है। मसाले की सुगंध नाक में आ रही थी, बघार की आवाज़ भी सुनाई दे रही थी; लेकिन बड़ी देर तक कोई उसके बच्चों को बुलाने न आया, तो वह फ़ैन कर-करके रोने लगी। उसे मालूम हो गया कि घरवालों ने साथ छोड़ दिया, और अब मैं अनाथा हूँ, संसार में कोई मेरा नहीं। दोनो बच्चे रोते-रोते सो गए थे। उन्हीं के पैताने वह भी पड़ रही। भगवन्, ये दो-दो बच्चे, पास फूटी कौड़ी नहीं, घर के आदमियों का यह हाल, यह नाव कैसे पार लगेगी!

माहिरअली भोजन करने बैठे, तो मामा से पूछा—"भाभी ने भी कुछ बाज़ार से मँगवाया है कि नहीं?"

ज़ैनब—"मामा से मँगवाएँगी, तो परदा न खुल जायगा। ख़ुदा के फ़ज़ल से साबिर सयाना हुआ। गुपचुप सौदे वही लाता है, और इतना घाघ है कि लाख फुसलाओ, पर मुँह नहीं खोलता।"

माहिर—"पूछ लेना। ऐसा न हो कि हम लोग खाकर सोएँ, और वह बेचारी रोज़े से रह जायँ।"

ज़ैनब—"ऐसी अनीली नहीं हैं, वह हम-जैसों को चरा लाएँ। हाँ, पूछना मेरा फ़र्ज़ है, पूछ लूँगी।"

रक़िया—"सालन और रोटी किस मुँह से खाएँगी, उन्हें तो ज़रदा शीरमाल चाहिए।"

दूसरे दिन सबेरे दोनो बच्चे बावर्चीख़ाने में गए, तो ज़ैनब ने ऐसी कड़ी निगाहों से देखा कि दोनो रोते हुए लौट आए। अब कुलसूम से न रहा गया। वह झल्लाकर उठी, और बावर्चीख़ाने में जाकर मामा से बोली—"तूने बच्चों को खाना क्यों नहीं दिया रे? क्या इतनी जल्द काया-पलट हो गई? इसी घर के पीछे हम मिट्टी में मिल गए, और मेरे लड़के भूखों तड़पें, किसी को दर्द न आए।"

मामा ने कहा—"तो आप मुझसे क्या बिगड़ती हैं, मैं कौन होती हूँ, जैसा हुकुम पाती हूँ, वैसा करती हूँ।"

ज़ैनब अपने कमरे से बोलीं—"तुम मिट्टी में मिल गईं, तो यहाँ किसने घर भर लिया? कल तक कुछ नाता निभा जाता था, वह भी तुमने तोड़ दिया। बनिए के यहाँ से क़र्ज़ जिंस आई, तो मुँह में दाना गया। सौ कोस से लड़का आया, तुमने बात तक न पूछी। तुम्हारी नेकी कोई कहाँ तक गाए।"

आज से कुलसूम को रोटियों के लाले पड़ गए। माहिरअली कभी दोनो भाइयों को लेकर नानबाई की दूकान से भोजन कर आते, कभी

किसी इष्ट-मित्र के मेहमान हो जाते। ज़ैनब और रक़िया के लिये मामा चुपके-चुपके अपने घर से खाना बना लाती। घर में चूल्हा न जलता। नसीमा और साबिर प्रातःकाल घर से निकल जाते। कोई कुछ दे देता, तो खा लेते। ज़ैनब और रक़िया की सूरत से ऐसे डरते थे, जैसे चूहा बिल्ली से। माहिर के पास भी न जाते। बच्चे शत्रु और मित्र को खूब पहचानते हैं। अब वे प्यार के भूखे नहीं, दया के भूखे थे। रही कुलसूम, उसके लिये ग़म ही काफ़ी था। वह सीना-पिरोना जानती थी, चाहती, तो सिलाई करके अपना निर्वाह कर लेती; पर जलन के मारे कुछ न करती थी। वह माहिर के मुँह में कालिख लगाना चाहती थी, चाहती थी कि दुनिया मेरी दशा देखे, और इन पर थूके। उसे अब ताहिरअली पर भी क्रोध आता था—"तुम इसी लायक थे कि जेल में पड़े-पड़े चक्की पीसो। अब आँखें खुलेंगी। तुम्हें दुनिया के हँसने की फ़िक्र थी। अब दुनिया किसी पर नहीं हँसती! लोग मज़े से मीठे लुकमे उड़ाते और मीठी नींद सोते हैं। किसी को तो नहीं देखती कि झूठ भी इन मतलब के बंदों की फ़ज़ीहत करे। किसी को ग़रज़ ही क्या पड़ी है कि किसी पर हँसे। लोग समझते होंगे, ऐसे कमसमझों, लाज पर मरनेवालों की यही सज़ा है।"

इस भाँति एक महीना गुज़र गया। एक दिन सुभागी कुलसूम के यहाँ साग-भाजी लेकर आई। वह अब यही काम करती थी। कुलसूम की सूरत देखी, तो बोली—"बहूजी, तुम तो पहचानी ही नहीं जातीं। क्या कुढ़-कुढ़कर जान दे दोगी? बिपत तो पड़ ही गई है, कुढ़ने से क्या होगा? मसल है, आँधी आए, बैठ गँवाए। तुम न रहोगी, तो बच्चों को कौन पालेगा। दुनिया कितनी जल्द अंधी हो जाती है। बेचारे खाँ साहब इन्हीं लोगों के लिये मरते थे। अब कोई बात भी नहीं पूछता। घर-घर यही चर्चा हो रही है कि इन लोगों को ऐसा न करना चाहिए था। भगवान् को क्या मुँह दिखाएँगे!"

कुलसूम—"अब तो भाड़ लीपकर हाथ काला हो गया।"

माहिरअली भोजन करने बैठे, तो मामा से पूछा—"भाभी ने भी कुछ बाज़ार से मँगवाया है कि नहीं?"

ज़ैनब—"मामा से मँगवाएँगी, तो परदा न खुल जायगा। ख़ुदा के फ़ज़ल से साबिर सयाना हुआ। गुपचुप सौदे वही लाता है, और इतना घाघ है कि लाख फुसलाओ, पर मुँह नहीं खोलता।"

माहिर—"पूछ लेना। ऐसा न हो कि हम लोग खाकर सोएँ, और वह बेचारी रोज़े से रह जायँ।"

ज़ैनब—"ऐसी अनीली नहीं हैं, वह हम-जैसों को चरा लाएँ। हाँ, पूछना मेरा फ़र्ज़ है, पूछ लूँगी।"

रक़िया—"सालन और रोटी किस मुँह से खाएँगी, उन्हें तो ज़रदा शीरमाल चाहिए।"

दूसरे दिन सबेरे दोनो बच्चे बावर्चीख़ाने में गए, तो ज़ैनब ने ऐसी कड़ी निगाहों से देखा कि दोनो रोते हुए लौट आए। अब कुलसूम से न रहा गया। वह झल्लाकर उठी, और बावर्चीख़ाने में जाकर मामा से बोली—"तूने बच्चों को खाना क्यों नहीं दिया रे? क्या इतनी जल्द काया-पलट हो गई? इसी घर के पीछे हम मिट्टी में मिल गए, और मेरे लड़के भूखों तड़पें, किसी को दर्द न आए।"

मामा ने कहा—"तो आप मुझसे क्या बिगड़ती हैं, मैं कौन होती हूँ, जैसा हुकुम पाती हूँ, वैसा करती हूँ।"

ज़ैनब अपने कमरे से बोलीं—"तुम मिट्टी में मिल गईं, तो यहाँ किसने घर भर लिया? कल तक कुछ नाता निभा जाता था, वह भी तुमने तोड़ दिया। बनिए के यहाँ से क़र्ज़ जिंस आई, तो मुँह में दाना गया। सौ कोस से लड़का आया, तुमने बात तक न पूछी। तुम्हारी नेकी कोई कहाँ तक गाए।"

आज से कुलसूम को रोटियों के लाले पड़ गए। माहिरअली कभी दोनो भाइयों को लेकर नानबाई की दूकान से भोजन कर आते, कभी

किसी इष्ट-मित्र के मेहमान हो जाते। ज़ैनब और रक़िया के लिये मामा चुपके-चुपके अपने घर से खाना बना लाती। घर में चूल्हा न जलता। नसीमा और साबिर प्रातःकाल घर से निकल जाते। कोई कुछ दे देता, तो खा लेते। ज़ैनब और रक़िया की सूरत से ऐसे डरते थे, जैसे चूहा बिल्ली से। माहिर के पास भी न जाते। बच्चे शत्रु और मित्र को खूब पहचानते हैं। अब वे प्यार के भूखे नहीं, दया के भूखे थे। रही कुलसूम, उसके लिये ग़म ही काफ़ी था। वह सीना-पिरोना जानती थी, चाहती, तो सिलाई करके अपना निर्वाह कर लेती; पर जलन के मारे कुछ न करती थी। वह माहिर के मुँह में कालिख लगाना चाहती थी, चाहती थी कि दुनिया मेरी दशा देखे, और इन पर थूके। उसे अब ताहिरअली पर भी क्रोध आता था—"तुम इसी लायक़ थे कि जेल में पड़े-पड़े चक्की पीसो। अब आँखें खुलेंगी। तुम्हें दुनिया के हँसने की फ़िक्र थी। अब दुनिया किसी पर नहीं हँसती! लोग मज़े से मीठे लुकमे उड़ाते और मीठी नींद सोते हैं। किसी को तो नहीं देखती कि झूठ भी इन मतलब के बंदों की फ़ज़ीहत करे। किसी को ग़रज़ ही क्या पड़ी है कि किसी पर हँसे। लोग समझते होंगे, ऐसे कमसमझों, लाज पर मरनेवालों की यही सज़ा है।"

इस भाँति एक महीना गुज़र गया। एक दिन सुभागी कुलसूम के यहाँ साग-भाजी लेकर आई। वह अब यही काम करती थी। कुलसूम की सूरत देखी, तो बोली—"बहूजी, तुम तो पहचानी ही नहीं जातीं। क्या कुढ़-कुढ़कर जान दे दोगी? बिपत तो पड़ ही गई है, कुढ़ने से क्या होगा? मसल है, आँधी आए, बैठ गँवाए। तुम न रहोगी, तो बच्चों को कौन पालेगा। दुनिया कितनी जल्द अंधी हो जाती है। बेचारे खाँ साहब इन्हीं लोगों के लिये मरते थे। अब कोई बात भी नहीं पूछता। घर-घर यही चर्चा हो रही है कि इन लोगों को ऐसा न करना चाहिए था। भगवान् को क्या मुँह दिखाएँगे!"

कुलसूम—"अब तो भाड़ लीपकर हाथ काला हो गया।"

माहिरअली भोजन करने बैठे, तो मामा से पूछा—"भाभी ने भी कुछ बाज़ार से मँगवाया है कि नहीं ?"

ज़ैनब—"मामा से मँगवाएँगी, तो परदा न खुल जायगा। ख़ुदा के फ़ज़ल से साबिर सयाना हुआ। गुपचुप सौदे वही लाता है, और इतना घाघ है कि लाख फुसलाओ, पर मुँह नहीं खोलता।"

माहिर—"पूछ लेना। ऐसा न हो कि हम लोग खाकर सोएँ, और वह बेचारी रोज़े से रह जायँ।"

ज़ैनब—"ऐसी अनीली नहीं हैं, वह हम-जैसों को चरा लाएँ। हाँ, पूछना मेरा फ़र्ज़ है, पूछ लूँगी।"

रक़िया—"सालन और रोटी किस मुँह से खाएँगी, उन्हें तो ज़रदा शीरमाल चाहिए।"

दूसरे दिन सवेरे दोनो बच्चे बावर्चीख़ाने में गए, तो ज़ैनब ने ऐसी कड़ी निगाहों से देखा कि दोनो रोते हुए लौट आए। अब कुलसूम से न रहा गया। वह झल्लाकर उठी, और बावर्चीख़ाने में जाकर मामा से बोली—"तूने बच्चों को खाना क्यों नहीं दिया रे ? क्या इतनी जल्द काया-पलट हो गई ? इसी घर के पीछे हम मिट्टी में मिल गए, और मेरे लड़के भूखों तड़पें, किसी को दर्द न आए।"

मामा ने कहा—"तो आप मुझसे क्या बिगड़ती हैं, मैं कौन होती हूँ, जैसा हुकुम पाती हूँ, वैसा करती हूँ।"

ज़ैनब अपने कमरे से बोलीं—"तुम मिट्टी में मिल गईं, तो यहाँ किसने घर भर लिया ? कल तक कुछ नाता निभा जाता था, वह भी तुमने तोड़ दिया। बनिए के यहाँ से क़र्ज़ जिंस आई, तो मुँह में दाना गया। सौ कोस से लड़का आया, तुमने बात तक न पूछी। तुम्हारी नेकी कोई कहाँ तक गाए।"

आज से कुलसूम को रोटियों के लाले पड़ गए। माहिरअली कभी दोनो भाइयों को लेकर नानबाई की दूकान से भोजन कर आते, कभी

किसी इष्ट-मित्र के मेहमान हो जाते। ज़ैनब और रक़िया के लिये मामा चुपके-चुपके अपने घर से खाना बना लाती। घर में चूल्हा न जलता। नसीमा और साबिर प्रातःकाल घर से निकल जाते। कोई कुछ दे देता, तो खा लेते। ज़ैनब और रक़िया की सूरत से ऐसे डरते थे, जैसे चूहा बिल्ली से। माहिर के पास भी न जाते। बच्चे शत्रु और मित्र को खूब पहचानते हैं। अब वे प्यार के भूखे नहीं, दया के भूखे थे। रही कुलसूम, उसके लिये ग़म ही काफ़ी था। वह सीना-पिरोना जानती थी, चाहती, तो सिलाई करके अपना निर्वाह कर लेती; पर जलन के मारे कुछ न करती थी। वह माहिर के मुँह में कालिख लगाना चाहती थी, चाहती थी कि दुनिया मेरी दशा देखे, और इन पर थूके। उसे अब ताहिरअली पर भी क्रोध आता था—"तुम इसी लायक़ थे कि जेल में पड़े-पड़े चक्की पीसो। अब आँखें खुलेंगी। तुम्हें दुनिया के हँसने की फ़िक्र थी। अब दुनिया किसी पर नहीं हँसती! लोग मज़े से मीठे लुक़मे उड़ाते और मीठी नींद सोते हैं। किसी को तो नहीं देखती कि झूठ भी इन मतलब के बंदों की फ़ज़ीहत करे। किसी को ग़रज़ ही क्या पड़ी है कि किसी पर हँसे। लोग समझते होंगे, ऐसे कमसमझों, लाज पर मरनेवालों की यही सज़ा है।"

इस भाँति एक महीना गुज़र गया। एक दिन सुभागी कुलसूम के यहाँ साग-भाजी लेकर आई। वह अब यही काम करती थी। कुलसूम की सूरत देखी, तो बोली—"बहूजी, तुम तो पहचानी ही नहीं जातीं। क्या कुढ़-कुढ़कर जान दे दोगी? बिपत तो पड़ ही गई है, कुढ़ने से क्या होगा? मसल है, आँधी आए, बैठ गँवाए। तुम न रहोगी, तो बच्चों को कौन पालेगा। दुनिया कितनी जल्द अंधी हो जाती है। बेचारे खाँ साहब इन्हीं लोगों के लिये मरते थे। अब कोई बात भी नहीं पूछता। घर-घर यही चर्चा हो रही है कि इन लोगों को ऐसा न करना चाहिए था। भगवान् को क्या मुँह दिखाएँगे!"

कुलसूम—"अब तो भाड़ लीपकर हाथ काला हो गया।"

माहिरअली भोजन करने बैठे, तो मामा से पूछा—"भाभी ने भी कुछ बाज़ार से मँगवाया है कि नहीं ?"

ज़ैनब—"मामा से मँगवाएँगी, तो परदा न खुल जायगा। ख़ुदा के फ़ज़्ल से साबिर सयाना हुआ। गुपचुप सौदे वही लाता है, और इतना घाघ है कि लाख फुसलाओ, पर मुँह नहीं खोलता।"

माहिर—"पूछ लेना। ऐसा न हो कि हम लोग खाकर सोएँ, और वह बेचारी रोज़े से रह जायँ।"

ज़ैनब—"ऐसी अनीली नहीं हैं, वह हम-जैसों को चरा लाएँ। हाँ, पूछना मेरा फ़र्ज़ है, पूछ लूँगी।"

रक़िया—"सालन और रोटी किस मुँह से खाएँगी, उन्हें तो ज़रदा शीरमाल चाहिए।"

दूसरे दिन सबेरे दोनो बच्चे बावर्चीख़ाने में गए, तो ज़ैनब ने ऐसी कड़ी निगाहों से देखा कि दोनो रोते हुए लौट आए। अब कुलसूम से न रहा गया। वह झल्लाकर उठी, और बावर्चीख़ाने में जाकर मामा से बोली—"तूने बच्चों को खाना क्यों नहीं दिया रे ? क्या इतनी जल्द काया-पलट हो गई ? इसी घर के पीछे हम मिट्टी में मिल गए, और मेरे लड़के भूखों तड़पें, किसी को दर्द न आए।"

मामा ने कहा—"तो आप मुझसे क्या बिगड़ती हैं, मैं कौन होती हूँ, जैसा हुकुम पाती हूँ, वैसा करती हूँ।"

ज़ैनब अपने कमरे से बोलीं—"तुम मिट्टी में मिल गईं, तो यहाँ किसने घर भर लिया ? कल तक कुछ नाता निभा जाता था, वह भी तुमने तोड़ दिया। बनिए के यहाँ से क़र्ज़ जिस आई, तो मुँह में दाना गया। सौ कोस से लड़का आया, तुमने बात तक न पूछी। तुम्हारी नेकी कोई कहाँ तक गाए।"

आज से कुलसूम को रोटियों के लाले पड़ गए। माहिरअली कभी दोनो भाइयों को लेकर नानबाई की दूकान से भोजन कर आते, कभी

किसी इष्ट-मित्र के मेहमान हो जाते। ज़ैनब और रक़िया के लिये मामा चुपके-चुपके अपने घर से खाना बना लाती। घर में चूल्हा न जलता। नसीमा और साबिर प्रातःकाल घर से निकल जाते। कोई कुछ दे देता, तो खा लेते। ज़ैनब और रक़िया की सूरत से ऐसे डरते थे, जैसे चूहा बिल्ली से। माहिर के पास भी न जाते। बच्चे शत्रु और मित्र को ख़ूब पहचानते हैं। अब वे प्यार के भूखे नहीं, दया के भूखे थे। रही कुल्सूम, उसके लिये ग़म ही काफ़ी था। वह सीना-पिरोना जानती थी, चाहती, तो सिलाई करके अपना निर्वाह कर लेती; पर जलन के मारे कुछ न करती थी। वह माहिर के मुँह में कालिख लगाना चाहती थी, चाहती थी कि दुनिया मेरी दशा देखे, और इन पर थूके। उसे अब ताहिरअली पर भी क्रोध आता था—"तुम इसी लायक़ थे कि जेल में पड़े-पड़े चक्की पीसो। अब आँखें खुलेंगी। तुम्हें दुनिया के हँसने की फ़िक्र थी। अब दुनिया किसी पर नहीं हँसती! लोग मज़े से मीठे लुक़मे उड़ाते और मीठी नींद सोते हैं। किसी को तो नहीं देखती कि झूठ भी इन मतलब के बंदों की फ़ज़ीहत करे। किसी को ग़रज़ ही क्या पड़ी है कि किसी पर हँसे। लोग समझते होंगे, ऐसे कमसमझों, लाज पर मरनेवालों की यही सज़ा है।"

इस भाँति एक महीना गुज़र गया। एक दिन सुभागी कुल्सूम के यहाँ साग-भाजी लेकर आई। वह अब यही काम करती थी। कुल्सूम की सूरत देखी, तो बोली—"बहूजी, तुम तो पहचानी ही नहीं जातीं। क्या कुढ़-कुढ़कर जान दे दोगी? बिपत तो पड़ ही गई है, कुढ़ने से क्या होगा? मसल है, आँधी आए, बैठ गँवाए। तुम न रहोगी, तो बच्चों को कौन पालेगा। दुनिया कितनी जल्द अंधी हो जाती है। बेचारे खाँ साहब इन्हीं लोगों के लिये मरते थे। अब कोई बात भी नहीं पूछता। घर-घर यही चर्चा हो रही है कि इन लोगों को ऐसा न करना चाहिए था। भगवान् को क्या मुँह दिखाएँगे!"

कुल्सूम—"अब तो भाड़ लीपकर हाथ काला हो गया।"

माहिरअली भोजन करने बैठे, तो मामा से पूछा—"भाभी ने भी कुछ बाज़ार से मँगवाया है कि नहीं ?"

ज़ैनब—"मामा से मँगवाएँगी, तो परदा न खुल जायगा। ख़ुदा के फ़ज़ल से साबिर सयाना हुआ। गुपचुप सौदे वही लाता है, और इतना घाघ है कि लाख फुसलाओ, पर मुँह नहीं खोलता।"

माहिर—"पूछ लेना। ऐसा न हो कि हम लोग खाकर सोएँ, और वह बेचारी रोज़े से रह जायँ।"

ज़ैनब—"ऐसी अनीली नहीं हैं, वह हम-जैसों को चरा लाएँ। हाँ, पूछना मेरा फ़र्ज़ है, पूछ लूँगी।"

रक़िया—"सालन और रोटी किस मुँह से खाएँगी, उन्हें तो ज़रदा शीरमाल चाहिए।"

दूसरे दिन सबेरे दोनो बच्चे बावर्चीख़ाने में गए, तो ज़ैनब ने ऐसी कड़ी निगाहों से देखा कि दोनो रोते हुए लौट आए। अब कुलसूम से न रहा गया। वह झल्लाकर उठी, और बावर्चीख़ाने में जाकर मामा से बोली—"तूने बच्चों को खाना क्यों नहीं दिया रे ? क्या इतनी जल्द काया-पलट हो गई ? इसी घर के पीछे हम मिट्टी में मिल गए, और मेरे लड़के भूखों तड़पें, किसी को दर्द न आए।"

मामा ने कहा—"तो आप मुझसे क्या बिगड़ती हैं, मैं कौन होती हूँ, जैसा हुकुम पाती हूँ, वैसा करती हूँ।"

ज़ैनब अपने कमरे से बोलीं—"तुम मिट्टी में मिल गईं, तो यहाँ किसने घर भर लिया ? कल तक कुछ नाता निभा जाता था, वह भी तुमने तोड़ दिया। बनिए के यहाँ से क़र्ज़ जिस आई, तो मुँह में दाना गया। सौ कोस से लड़का आया, तुमने बात तक न पूछी। तुम्हारी नेकी कोई कहाँ तक गाए।"

आज से कुलसूम को रोटियों के लाले पड़ गए। माहिरअली कभी दोनो भाइयों को लेकर नानबाई की दूकान से भोजन कर आते, कभी

किसी इष्ट-मित्र के मेहमान हो जाते। ज़ैनब और रक़िया के लिये मामा चुपके-चुपके अपने घर से खाना बना लाती। घर में चूल्हा न जलता। नसीमा और साबिर प्रातःकाल घर से निकल जाते। कोई कुछ दे देता, तो खा लेते। ज़ैनब और रक़िया की सूरत से ऐसे डरते थे, जैसे चूहा बिल्ली से। माहिर के पास भी न जाते। बच्चे शत्रु और मित्र को खूब पहचानते हैं। अब वे प्यार के भूखे नहीं, दया के भूखे थे। रही कुल्सूम, उसके लिये ग़म ही काफ़ी था। वह सीना-पिरोना जानती थी, चाहती, तो सिलाई करके अपना निर्वाह कर लेती; पर जलन के मारे कुछ न करती थी। वह माहिर के मुँह में कालिख लगाना चाहती थी, चाहती थी कि दुनिया मेरी दशा देखे, और इन पर थूके। उसे अब ताहिरअली पर भी क्रोध आता था—"तुम इसी लायक़ थे कि जेल में पड़े-पड़े चक्की पीसो। अब आँखें खुलेंगी। तुम्हें दुनिया के हँसने की फ़िक्र थी। अब दुनिया किसी पर नहीं हँसती! लोग मज़े से मीठे लुक़मे उड़ाते और मीठी नींद सोते हैं। किसी को तो नहीं देखती कि झूठ भी इन मतलब के बंदों की फ़ज़ीहत करे। किसी को ग़रज़ ही क्या पड़ी है कि किसी पर हँसे। लोग समझते होंगे, ऐसे कमसमझों, लाज पर मरनेवालों की यही सज़ा है।"

इस भाँति एक महीना गुज़र गया। एक दिन सुभागी कुल्सूम के यहाँ साग-भाजी लेकर आई। वह अब यही काम करती थी। कुल्सूम की सूरत देखी, तो बोली—"बहूजी, तुम तो पहचानी ही नहीं जातीं। क्या कुढ़-कुढ़कर जान दे दोगी? बिपत तो पड़ ही गई है, कुढ़ने से क्या होगा? मसल है, आँधी आए, बैठ गँवाए। तुम न रहोगी, तो बच्चों को कौन पालेगा। दुनिया कितनी जल्द अंधी हो जाती है। बेचारे खाँ साहब इन्हीं लोगों के लिये मरते थे। अब कोई बात भी नहीं पूछता। घर-घर यही चर्चा हो रही है कि इन लोगों को ऐसा न करना चाहिए था। भगवान् को क्या मुँह दिखाएँगे!"

कुल्सूम—"अब तो भाड़ लीपकर हाथ काला हो गया।"

प्रभु सेवक बड़े उत्साही आदमी थे। उनके हाथ से सेवक-दल में एक नई सजीवता का संचार हुआ। संख्या दिन-दिन बढ़ने लगी। लोग शिथिल और उदासीन हो रहे थे, फिर नए जोश से काम करने लगे। प्रभु सेवक की सज्जनता और सहृदयता सभी को मोहित कर लेती थी। इसके साथ ही अब उनके चरित्र में वह कर्तव्यनिष्ठा दिखाई देती थी, जिसकी उन्हें स्वयं आशा न थी। सेवक-दल में प्रायः सभी लोग शिक्षित थे, सभी विचारशील। वे कार्य को अग्रसर करने के लिये किसी नए विधान की आयोजना करना चाहते थे। वह अशिक्षित सिपाहियों की सेना न थी, जो नायक की आज्ञा को देव-वाक्य मानती है। यह शिक्षित सेना थी, जो नायक की आज्ञा को तौलती है, तर्क-वितर्क करती है, और जब तक क़ायल न हो जाय, उसे मानने को तैयार नहीं होती। प्रभु सेवक ने बड़ी बुद्धिमत्ता से इस दुस्तर कार्य को निभाना शुरू किया।

अब तक इस संस्था का कार्य-क्षेत्र सामाजिक था। मेलों-ठेलों में यात्रियों की सहायता, बाढ़-बूड़े में पीड़ितों का उद्धार, सूखे-झूरे में विपत्ति के मारे हुओं का कष्ट-निवारण, ये ही इनके मुख्य विषय थे। प्रभु सेवक ने इसका कार्य-क्षेत्र विस्तृत कर दिया, इसको राजनीतिक रूप दे दिया। यद्यपि उन्होंने कोई नया प्रस्ताव न किया, किसी परिवर्तन की चर्चा तक न की, पर धीरे-धीरे उनके असर से नए भावों का संचार होने लगा।

प्रभु सेवक बहुत सहृदय आदमी थे, पर किसी को ग़रीबों पर अत्याचार करते देखकर उनकी सहृदयता हिंसात्मक हो जाती थी।

किसी सिपाही को घसियारों की घास छीनते देखकर वह तुरत घसियारों की ओर से लड़ने पर तैयार हो जाते थे। दैविक आघातों से जनता की

रक्षा करना उन्हें निरर्थक-सा जान पड़ता था। सबलों के अत्याचार ही पर उनकी खास निगाह रहती थी। रिश्वतखोर कर्मचारियों पर, ज़ालिम ज़मींदारों पर, स्वार्थी अधिकारियों पर वह सदैव ताक लगाए रहते थे। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में इस संस्था की धाक बैठ गई। उसका दफ़्तर निर्बलों और दुःखित जनों का आश्रय बन गया। प्रभु सेवक निर्बलों को प्रतिकार के लिये उत्तेजित करते रहते थे। उनका कथन था कि जब तक जनता स्वयं अपनी रक्षा करना न सीखेगी, ईश्वर भी उसे अत्याचार से नहीं बचा सकता।

हमें सबसे पहले आत्मसम्मान की रक्षा करनी चाहिए। हम कायर और दब्बू हो गए हैं, अपमान और हानि चुपके से सह लेते हैं, ऐसे प्राणियों को तो स्वर्ग में भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता। ज़रूरत है कि हम निर्भीक और साहसी बनें, संकटों का सामना करें, मरना सीखें। जब तक हमें मरना न आएगा, जीना भी न आएगा। प्रभु सेवक के लिये दीनों की रक्षा करते हुए गोली का निशाना बन जाना इससे कहीं आसान था कि वह किसी रोगी के सिरहाने बैठा पंखा झले, या अकाल-पीड़ितों को अन्न और द्रव्य बाँटता फिरे। उसके सहयोगियों को भी इस साहसिक सेवा में अधिक उत्साह था। कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़ जाना चाहते थे। उनका विचार था कि प्रजा में असंतोष उत्पन्न करना भी सेवकों का मुख्य कर्तव्य है। इंद्रदत्त इस संप्रदाय का अगुआ था, और उसे शांत रखने में प्रभु सेवक को बड़ी चतुराई से काम लेना पड़ता था।

लेकिन ज्यों-ज्यों सेवकों की कीर्ति फैलने लगी, उन पर अधिकारियों का संदेह भी बढ़ने लगा, अब कुँवर साहब डरे कि कहीं सरकार इस संस्था का दमन न कर दे। कुछ दिनों में यह अफ़वाह भी गर्म हुई कि अधिकारि-वर्ग में कुँवर साहब की रियासत ज़ब्त करने का विचार किया जा रहा है। कुँवर साहब निर्भीक पुरुष थे, पर यह अफ़वाह सुनकर उनका आसन भी डोल गया। वह ऐश्वर्य का सुख नहीं भोगना चाहते थे, लेकिन ऐश्वर्य की

ममता का त्याग न कर सकते थे। उनको परोपकार में उससे कहीं अधिक आनंद आता था, जितना भोग-विलास में। परोपकार में सम्मान था, गौरव था; वह सम्मान न रहा, तो जीने में मज़ा ही क्या रहेगा! वह प्रभु सेवक को बार-बार समझाते—"भई, ज़रा समझ-बूझकर काम करो। अधिकारियों से बचकर चलो। ऐसे काम करो ही क्यों, जिनसे अधिकारियों को तुम्हारे ऊपर संदेह हो। तुम्हारे लिये परोपकार का क्षेत्र क्या कम है कि राजनीति के झगड़े में पड़ो।" लेकिन प्रभु सेवक उनके परामर्श की ज़रा भी परवा न करते, धमकी देते—"इस्तीफ़ा दे दूँगा। हमें अधिकारियों की क्या परवा! वे जो चाहते हैं, करते हैं, हमसे कुछ नहीं पूछते, फिर हम क्यों उनका रुख़ देखकर काम करें। हम अपने निश्चित मार्ग से विचलित न होंगे। अधिकारियों की जो इच्छा हो, करें। आत्मसम्मान खोकर संस्था को जीवित ही रक्खा, तो क्या! उनका रुख़ देखकर काम करने का आशय तो यही है कि हम खाएँ, मुक़दमे लड़ें, एक दूसरे का बुरा चेतें, और पड़े-पड़े सोएँ। हमारे और शासकों के उद्देश्यों में परस्पर विरोध है। जहाँ हमारा हित है, वहीं उनको शंका है, और ऐसी दशा में उनका संशय स्वाभाविक है। अगर हम लोग इस भाँति डरते रहेंगे, तो हमारा होना-न होना दोनो बराबर है।"

एक दिन दोनो आदमियों में वाद-विवाद की नौबत आ गई। बंदोबस्त के अफ़सरों ने किसी प्रांत में भूमि-कर में मनमानी वृद्धि कर दी थी। काउंसिलों, समाचार-पत्रों और राजनीतिक सभाओं में इस वृद्धि का विरोध किया जा रहा था, पर कर-विभाग पर कुछ असर न होता था। प्रभु सेवक की राय थी, हमें जाकर असामियों से कहना चाहिए कि साल-भर तक ज़मीन परती पड़ी रहने दें। कुँवर साहब कहते थे कि यह तो खुल्लमखुल्ला अधिकारियों से रार मोल लेना है।

प्रभु सेवक—"अगर आप इतना डर रहे हैं, तो उचित है कि आप इस संस्था को उसके हाल पर छोड़ दें। आप दो नौकाओं पर बैठकर नदी

पार करना चाहते हैं, यह असंभव है। मुझे रईसों पर पहले भी विश्वास न था, और अब तो निराशा-सी हो गई है।"

कुँवर—"तुम मेरी गिनती रईसों में क्यों करते हो, जब तुम्हें खूब मालूम है कि मुझे रियासत की परवा नहीं। लेकिन कोई काम धन के बग़ैर तो नहीं चल सकता। मैं नहीं चाहता कि अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं की भाँति इस संस्था को भी धनाभाव के कारण हम टूटते देखें।"

प्रभु सेवक—"मैं बड़ी-से-बड़ी जायदाद को भी सिद्धांत के लिये बलिदान कर देने में दरेग़ न करूँगा।"

कुँवर—"मैं भी न करता, यदि जायदाद मेरी होती। लेकिन यह जायदाद मेरे वारिसों की है, और मुझे कोई अधिकार नहीं है कि उनकी इच्छा के बग़ैर उनकी जायदाद की उत्तर-क्रिया कर दूँ। मैं नहीं चाहता कि मेरे कर्मों का फल मेरी संतान को भोगना पड़े।"

प्रभु सेवक—"यह रईसों की पुरानी दलील है। वे अपनी वैभव-भक्ति को इसी परदे की आड़ में छिपाया करते हैं। अगर आपको भय है कि हमारे कामों से आपकी जायदाद को हानि पहुँचेगी, तो बेहतर है कि आप इस संस्था से अलग हो जायँ।"

कुँवर साहब ने चिंतित स्वर में कहा—"प्रभु, तुम्हें मालूम नहीं है कि इस संस्था की जड़ अभी कितनी कमज़ोर है! मुझे भय है कि यह अधिकारियों की तीव्र दृष्टि को एक क्षण भी सहन नहीं कर सकती। मेरा और तुम्हारा उद्देश्य एक ही है; मैं भी वही चाहता हूँ, जो तुम चाहते हो। लेकिन मैं बूढ़ा हूँ; मंद गति से चलना चाहता हूँ; तुम जवान हो, दौड़ना चाहते हो। मैं भी शासकों का कृपापात्र नहीं बनना चाहता। मैं बहुत पहले निश्चय कर चुका हूँ कि हमारा भाग्य हमारे हाथ में है, अपने कल्याण के लिये जो कुछ करेंगे, हमीं करेंगे दूसरों से सहानुभूति या सहायता की आशा रखना व्यर्थ है। किंतु कम-से-कम हमारी संस्थाओं को

जीवित तो रहना चाहिए। मैं इसे अधिकारियों के संदेह की भेंट करके उसका अंतिम संस्कार नहीं करना चाहता।"

प्रभु सेवक ने कुछ उत्तर न दिया। बात बढ़ जाने का भय था। मन में निश्चय किया कि अगर कुँवर साहब ने ज़्यादा चीं-चपड़ की, तो उन्हें इस संस्था से अलग कर देंगे। धन का प्रश्न इतना जटिल नहीं है कि उसके लिये संस्था के मर्मस्थल पर आघात किया जाय। इंद्रदत्त ने भी यही सलाह दी—"कुँवर साहब को पृथक् कर देना चाहिए। हम ओषधियाँ बाँटने और अकाल-पीड़ित प्रांतों में मवेशियों का चारा ढोने के लिये नहीं हैं। है वह भी हमारा काम, इससे हमें इनकार नहीं; लेकिन मैं उसे इतना गुरु नहीं समझता। यह विध्वंस का समय है, निर्माण का समय तो पीछे आएगा। प्लेग, दुर्भिक्ष और बाढ़ से दुनिया कभी-वीरान नहीं हुई, और न होगी।"

क्रमशः यहाँ तक नौबत पहुँची कि अब कितनी ही महत्त्व की बातों में ये दोनो आदमी कुँवर साहब से परामर्श तक न लेते, बैठकर आपस ही में निश्चय कर लेते। चारों तरफ़ से अत्याचारों के वृत्तांत नित्य दफ़्तर में आते रहते थे। कहीं-कहीं तो लोग इस संस्था की सहायता प्राप्त करने के लिये बड़ी-बड़ी रक़में देने पर तैयार हो जाते थे। इससे यह विश्वास होता जाता था कि संस्था अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है, उसे किसी स्थायी कोष की आवश्यकता नहीं। यदि उत्साही कार्यकर्ता हों, तो कभी धनाभाव नहीं हो सकता। ज्यों-ज्यों यह बात सिद्ध होती जाती थी, कुँवर साहब का आधिपत्य लोगों को अप्रिय प्रतीत होता जाता था।

प्रभु सेवक की रचनाएँ इन दिनों क्रांतिकारी भावों से परिपूर्ण होती थीं। राष्ट्रीयता, द्वंद्व, संघर्ष के भाव प्रत्येक छंद से टपकते थे। उसने 'नौका' नाम की एक ऐसी कविता लिखी, जिसे कविता-सागर का अनुपम रत्न कहना अनुचित X होगा। लोग पढ़ते थे, और सिर धुनते थे। पहले ही पद्य में यात्री ने पूछा था—"क्यों माँझी, नौका डूबेगी या पार लगेगी?" माँझी ने उत्तर दिया था—"यात्री, नौका डूबेगी; क्योंकि तुम्हारे मन में यह शंका

इसी कारण हुई है ।" कोई ऐसी सभा, सम्मेलन, परिषद् न थी, जहाँ यह कविता न पढ़ी गई हो। साहित्य-जगत् में हलचल-सी मच गई ।

सेवक-दल पर प्रभु सेवक का प्रभुत्व दिन-दिन बढ़ता जाता था । प्रायः सभी सदस्यों को अब उन पर श्रद्धा हो गई थी, सभी प्राण-पण से उनके आदेशों पर चलने को तैयार रहते थे । सब-के-सब एक रंग में रँगे हुए थे, राष्ट्रीयता के मद में चूर, न धन की चिंता, न घर-बार की फ़िक्र, रूखा-सूखा खानेवाले, मोटा पहननेवाले, ज़मीन पर सोकर रात काट देते थे, घर की ज़रूरत न थी, कभी किसी वृक्ष के नीचे पड़ रहते, कभी किसी झोपड़ी में । हाँ, उनके हृदयों में उच्च और पवित्र देशोपासना हिलोरें ले रही थी !

समस्त देश में इस संस्था की सुव्यवस्था की चर्चा हो रही थी। प्रभु सेवक देश के सर्व-सम्मानित, सर्वजन-प्रिय नेताओं में थे । इतनी अल्पावस्था में यह कीर्ति ! लोगों को आश्चर्य होता था । जगह-जगह से राष्ट्रीय सभाओं ने उन्हें आमंत्रित करना शुरू किया । जहाँ जाते, लोग उनका भाषण सुनकर मुग्ध हो जाते थे ।

पूना में राष्ट्रीय सभा का उत्सव था । प्रभु सेवक को निमंत्रण मिला । तुरत इंद्रदत्त को अपना कार्य-भार सौंपा, और दक्षिण के प्रदेशों में भ्रमण करने का इरादा करके चले । पूना में उनके स्वागत की खूब तैयारियाँ की गई थीं । यह नगर सेवक-दल का एक केंद्र भी था, और यहाँ का नायक एक बड़ी जीवट का आदमी था, जिसने बर्लिन में इंजीनियरी की उपाधि प्राप्त की थी, और तीन वर्ष के लिये इस दल में सम्मिलित हो गया था । उसका नगर में बड़ा प्रभाव था । वह अपने दल के सदस्यों को लिए स्टेशन पर खड़ा था । प्रभु सेवक का हृदय यह समारोह देखकर प्रफुल्लित हो गया । उनके मन ने कहा—"यह मेरे नेतृत्व का प्रभाव है । यह उत्साह, यह निर्भीकता, यह जागृति इनमें कहाँ थी ? मैंने ही इसका संचार किया ।

अब आशा होती है कि जिंदा रहा, तो कुछ-न-कुछ कर दिखाऊँगा।" हा अभिमान !

संध्या-समय विशाल पंडाल में जब वह मंच पर खड़े हुए, तो कई हज़ार श्रोताओं को अपनी ओर श्रद्धा-पूर्ण नेत्रों से ताकते देखकर उनका हृदय पुलकित हो उठा। गैलरी में योरपियन महिलाएँ भी उपस्थित थीं। प्रांत के गवर्नर महोदय भी आए हुए थे। जिसकी क़लम में यह जादू है, उसकी वाणी में क्या कुछ चमत्कार न होगा ! सब यही देखना चाहते थे।

प्रभु सेवक का व्याख्यान शुरू हुआ। किसी को उनका परिचय कराने की ज़रूरत न थी। राजनीति की दार्शनिक मीमांसा करने लगे। राजनीति क्या है ? उसकी आवश्यकता क्यों है ? उसके पालन का क्या विधान है ? किन दशाओं में उसकी अवज्ञा करना प्रजा का धर्म हो जाता है ? उसके गुण-दोष क्या हैं ? उन्होंने बड़ी विद्वत्ता और अत्यंत निर्भीकता के साथ इन प्रश्नों की व्याख्या की। ऐसे जटिल और गहन विषय को अगर कोई सरल, बोधगम्य और मनोरंजक बना सकता था, तो वह प्रभु सेवक थे। लेकिन राजनीति भी संसार की उन महत्त्व-पूर्ण वस्तुओं में है, जो विश्लेषण और विवेचन की आँच नहीं सह सकती। उसका विवेचन उसके लिये घातक है, स पर अज्ञान का परदा रहना ही अच्छा है। प्रभु सेवक ने परदा उठा दिया—सेनाओं के परे आँखों से अदृश्य हो गए, न्यायालय के विशाल भवन ज़मीन पर गिर पड़े, प्रभुत्व और ऐश्वर्य के चिह्न मिटने लगे, सामने मोटे और उज्ज्वल अक्षरों में लिखा हुआ था— "सर्वोत्तम राजनीति राजनीति का अंत है।" लेकिन ज्यों ही उनके मुख से ये शब्द निकले—"हमारा देश राजनीति-शून्य है। परवशता और आज्ञाकारिता में सीमाओं का अंतर है।" त्यों ही सामने से पिस्तौल छूटने की आवाज़ आई, और गोली प्रभु सेवक के कान के पास से निकलकर पीछे की ओर दीवार में लगी। रात का समय था ; कुछ पता न चला, किसने यह आघात किया। संदेह हुआ, किसी योरपियन की शरारत है। लोग गैलरियों की ओर

दौड़े। सहसा प्रभु सेवक ने उच्च स्वर से कहा—"मैं उस प्राणी को क्षमा करता हूँ, जिसने मुझ पर आघात किया है। उसका जी चाहे, तो वह फिर मुझ पर निशाना मार सकता है। मेरा पक्ष लेकर किसी को इसका प्रतिकार करने का अधिकार नहीं है। मैं अपने विचारों का प्रचार करने आया हूँ, आघातों का प्रत्याघात करने नहीं।"

एक ओर से आवाज़ आई—"यह राजनीति की आवश्यकता का उज्ज्वल प्रमाण है।"

सभा उठ गई। योरपियन लोग पीछे के द्वार से निकल गए। बाहर सशस्त्र पुलिस आ पहुँची थी।

दूसरे दिन संध्या को प्रभु सेवक के नाम तार आया—"सेवक-दल की प्रबंध-कारिणी समिति आपके व्याख्यान को नापसंद करती है, और अनुरोध करती है कि आप लौट आएँ, वरना यह आपके व्याख्यानों की उत्तरदायी न होगी।"

प्रभु सेवक ने तार के कागज़ को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डाला, और उसे पैरों से कुचलते हुए आप-ही-आप बोले—"धूर्त, कायर, रँगा हुआ सियार राष्ट्रीयता का दम भरता है, जाति की सेवा करेगा! एक व्याख्यान ने कायापलट कर दी। उँगली में लहू लगाकर शहीदों में नाम लिखाना चाहता है! जाति-सेवा को बच्चों का खेल समझ रक्खा है। यह बच्चों का खेल नहीं है, साँप के मुँह में उँगली डालना है, शेर से पंजा लेना है। यदि अपने प्राण और अपनी संपत्ति इतनी प्यारी है, तो यह स्वाँग क्यों भरते हो? जाओ, तुम-जैसे देश-भक्तों के बग़ैर देश की कोई हानि नहीं।"

उन्होंने उसी वक्त तार का जवाब दिया—"मैं प्रबंध-कारिणी समिति के अधीन रहना अपने लिये अपमानजनक समझता हूँ। मेरा उससे कोई संबंध नहीं।"

आध घंटे बाद दूसरा पत्र आया। इस पर सरकारी मुहर थी—

"माई डियर सेवक,

मैं नहीं कह सकता कि कल आपका व्याख्यान सुनकर मुझे कितना लाभ और आनंद प्राप्त हुआ। मैं यह अत्युक्ति के भाव से नहीं कहता कि राजनीति की ऐसी विद्वत्ता-पूर्ण और तात्त्विक मीमांसा आज तक मैंने कहीं न सुनी थी। नियमों ने मेरी ज़बान बंद कर रक्खी है, लेकिन मैं आपके भावों और विचारों का आदर करता हूँ, और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह दिन जल्द आए, जब हम राजनीति का मर्म समझें, और उसके सर्वोच्च सिद्धांतों का पालन कर सकें। केवल एक ही ऐसा व्यक्ति है, जिसे आपकी स्पष्ट बातें असह्य हुईं, और मुझे बड़े दुःख और लज्जा के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि वह व्यक्ति योरपियन है। मैं योरपियन समाज की ओर से इस कायरता-पूर्ण और अमानुषीय आघात पर शोक और घृणा प्रकट करता हूँ। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि समस्त योरपियन सामज को आपसे हार्दिक सहानुभूति है। यदि मैं उस नर-पिशाच का पता लगाने में सफल हुआ (उसका कल से पता नहीं है), तो आपको इसकी सूचना देने में मुझसे अधिक आनंद और किसी को न होगा।

आपका—

एफ़्० विलसन।"

प्रभु सेवक ने इस पत्र को दुबारा पढ़ा। उनके हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। बड़ी सावधानी से उसे अपने संदूक में रख दिया। कोई और वहाँ होता, तो ज़रूर पढ़कर सुनाते। वह गर्वोन्मत्त होकर कमरे में टहलने लगे। यह है जीवित जातियों की उदारता, विशाल हृदयता, गुणग्राहकता! इन्होंने स्वाधीनता का आनंद उठाया है, स्वाधीनता के लिये बलिदान किए हैं, और इसका महत्त्व जानते हैं। जिसका समस्त जीवन खुशामद और मुखापेक्षा में गुज़रा हो, वह स्वाधीनता का महत्त्व क्या समझ सकता है! मरने के दिन सिर पर आ जाते हैं, तो हम कितने ईश्वर-भक्त बन जाते हैं। भरतसिंह भी इसी तरफ़ गए होते, अब तक राम-नाम का जप करते

होते, वह तो विनय ने इधर फेर लिया। यह उन्हीं का प्रभाव था। विनय, इस अवसर पर तुम्हारी ज़रूरत है, बड़ी ज़रूरत है, तुम कहाँ हो? आकर देखो, तुम्हारी बोई हुई खेती का क्या हाल है। उसके रक्षक उसके भक्षक बने जा रहे हैं!

---

[३८]

सोफ़िया और विनय रात भर-तो स्टेशन पर पड़े रहे। सबेरे समीप के गाँव में गए, जो भीलों की एक छोटी-सी बस्ती थी। सोफ़िया को यह स्थान बहुत पसंद आया। बस्ती के सिर पर पहाड़ का साया था, पैरों के नीचे एक पहाड़ी नाला मीठा राग गाता हुआ बहता था। भीलों के छोटे-छोटे झोपड़े, जिन पर बेलें फैली हुई थीं, अप्सराओं के खिलौनों की भाँति सुंदर लगते थे। जब तक कुछ निश्चय न हो जाय कि क्या करना है, कहाँ जाना है, कहाँ रहना है, तब तक उन्होंने उसी गाँव में निवास करने का इरादा किया। एक झोपड़े में जगह भी आसानी से मिल गई। भीलों का आतिथ्य प्रसिद्ध है, और ये दोनो प्राणी भूख-प्यास, गरमी-सरदी सहने के अभ्यस्त थे। जो कुछ मोटा-झोटा मयस्सर हुआ, खा लिया, चाय और मक्खन, मुरब्बे और मेवों का चस्का न था। सरल और सात्त्विक जीवन उनका आदर्श था। यहाँ उन्हें कोई कष्ट न हुआ। इस झोपड़े में केवल एक भीलनी रहती थी। उसका लड़का कहीं फ़ौज में नौकर था। बुढ़िया इन लोगों की सेवा-टहल सहर्ष कर देती। यहाँ इन लोगों ने मशहूर किया कि हम दिल्ली के रहनेवाले हैं, जल-वायु बदलने आए हैं। गाँव के लोग उनका बड़ा अदब और लिहाज़ करते थे।

किंतु इतना एकांत और इतनी स्वाधीनता होने पर भी दोनो एक दूसरों से बहुत कम मिलते। दोनो ही न-जाने क्यों सशंक रहते थे। उनमें मनोमालिन्य न था, दोनो प्रेम में डूबे हुए थे। दोनो उद्विग्न थे, दोनो विकल, दोनो अधीर, किंतु नैतिक बंधनों की दृढ़ता उन्हें मिलने न देती थी। सात्त्विक धर्म-निरूपण ने सोफ़िया को सांप्रदायिक संकीर्णताओं से मुक्त कर दिया था। उसकी दृष्टि में भिन्न-भिन्न मत केवल एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न नाम थे।

उसे अब किसी से द्वेष न था, किसी से विरोध न था। जिस अशांति ने कई महीनों तक उसके धर्म-सिद्धांतों को कुंठित कर रक्खा था, वह विलुप्त हो गई थी। अब प्राणिमात्र उसके लिये अपना था। और, यद्यपि विनय के विचार इतने उदार न थे, संसार की प्रेम-ममता उनके लिये एक दार्शनिक वाद से अधिक मूल्य न रखती थी। किंतु सोफ़िया की उदारता के सामने उनकी परंपरागत समाज-व्यवस्थाएँ मुँह छिपाती फिरती थीं। वास्तव में दोनो का आत्मिक संयोग हो चुका था, और भौतिक संयोग में भी कोई वास्तविक बाधा न थी। किंतु यह सब होते हुए भी वे दोनो पृथक् रहते, एकांत में साथ कभी न बैठते। उन्हें अब अपने ही से शंका होती थी! वचन का काल समाप्त हो चुका था, लेख का समय आ गया था। वचन से ज़बान नहीं कटती। लेख से हाथ कट जाता है।

लेकिन लेख से हाथ चाहे कट जाय, इसके बिना कोई बात पक्की नहीं होती। थोड़ा-सा मतभेद, ज़रा-सा असंयम समझौते को रद्द कर सकता है। इसलिये दोनो ही अनिश्चित दशा का अंत कर देना चाहते थे। कैसे करें, यह समझ में नहीं आता था। कौन इस प्रसंग को छेड़े? कदाचित् बातों में कोई आपत्ति खड़ी हो जाय। सोफ़िया के लिये विनय का सामीप्य काफ़ी था, वह उन्हें नित्य आँखों से देखती थी, उनके हर्ष और अमर्ष में सम्मिलित होती थी, उन्हें अपना समझती थी। इससे अधिक वह कुछ न चाहती थी। विनय रोज़ आस-पास के देहातों में विचरने चले जाते थे। कोई स्त्री उनसे अपने परदेसी पुत्र या पति के नाम पत्र लिखाती, कहीं रोगियों को दवा देते, कहीं पारस्परिक कलहों में मध्यस्थ बनना पड़ता, भोर के गए पहर रात को लौटते। यह उनकी नित्य की दिनचर्या थी। सोफ़िया चिराग़ जलाए उनकी बाट देखा करती। जब वह आ जाते, तो उनके हाथ-पैर धुलवाकर भोजन कराती, दिन-भर की कथा प्रेम से सुनती, और तब दोनो अपनी-अपनी कोठरियों में सोने चले जाते। वहाँ विनय को अपना घास का बिछौना बिछा हुआ मिलता। सिरहाने पानी की हाँडी

सोफ़िया ने किताब बंद करके रख दी, और प्रेम-गंभीर भाव से बोली—"मैंने तो अपने को तुम्हारे चरणों पर डाल दिया, अब और मुझसे क्या चाहते हो?"

विनय—"अगर मैं देवता होता, तो तुम्हारी प्रेमोपासना से संतुष्ट हो जाता; लेकिन मैं भी तो इच्छाओं का दास, क्षुद्र मनुष्य हूँ। मैंने जो कुछ पाया है, उससे संतुष्ट नहीं हूँ। मैं और चाहता हूँ, सब चाहता हूँ। क्या अब भी तुम मेरा आशय नहीं समझीं? मैं पक्षी को अपनी मुँडेर पर बैठे देखकर संतुष्ट नहीं, उसे अपने पिंजड़े में जाते देखना चाहता हूँ। क्या और भी स्पष्ट रूप से कहूँ? मैं सर्वभोगी हूँ, केवल सुगंध से मेरी तृप्ति नहीं होती।"

सोफ़िया—"विनय, मुझे अभी विवश न करो, मैं तुम्हारी हूँ। मैं इस वक़्त यह बात कितने शुद्ध भाव और निष्कपट हृदय से कह रही हूँ, उससे अधिक किसी मंदिर में, कलीसा में या हवन-कुंड के सामने नहीं कह सकती। जिस समय मैंने तुम्हारा तिरस्कार किया था, उस समय भी तुम्हारी थी। लेकिन क्षमा करना, मैं कभी कोई ऐसा कर्म न करूँगी, जिससे तुम्हारा अपमान, तुम्हारी अप्रतिष्ठा, तुम्हारी निंदा हो। मेरा यह संयम अपने लिये नहीं, तुम्हारे लिये है। आत्मिक मिलाप के लिये कोई बाधा नहीं होती; पर सामाजिक संस्कारों के लिये अपने संबंधियों और समाज के नियमों की स्वीकृति अनिवार्य है, अन्यथा वे लज्जास्पद हो जाते हैं। मेरी आत्मा मुझे कभी क्षमा न करेगी, अगर मेरे कारण तुम अपने माता-पिता, विशेषतः अपनी पूज्य माता, के कोप-भाजन बनो, और वे मेरे साथ तुम्हें भी कुल-कलंक समझने लगें। मैं कल्पना भी नहीं कर सकती कि इस अवज्ञा के लिये रानीजी तुम्हें, और विशेषकर मुझे, क्या दंड देंगी। वह सती हैं, देवी हैं, उनका क्रोध न-जाने क्या अनर्थ करे। मैं उनकी दृष्टि में कितनी पतित हूँ, इसका मुझे अनुभव हो चुका है, और तुम्हें भी उन्होंने कठोर-से-कठोर दंड दे दिया, जो उनके वश में था।

ऐसी दशा में उन्हें ज्ञात होगा कि मैं और तुम केवल प्रेम के सूत्र में नहीं, संस्कारों के सूत्र में बँधे हुए हैं, तो आश्चर्य नहीं कि वह क्रोधावेश में आत्महत्या कर लें। संभव है, इस समय तुम इन समस्त विघ्न-बाधाओं को अंगीकार करने को तैयार हो जाओ; लेकिन मैं बाह्य संस्कारों को इतने महत्त्व की वस्तु नहीं समझती।"

विनय ने उदास होकर कहा—"सोफ़ी, इसका आशय इसके सिवा और क्या है कि मेरा जीवन सुख-स्वप्न देखने में ही कट जाय।"

सोफ़ी—"नहीं विनय, मैं इतनी हताश नहीं हूँ। मुझे अब भी आशा है कि कभी-न-कभी रानीजी से तुम्हारा और अपना अपराध क्षमा करा लूँगी, और तब उनके आशीर्वादों के साथ हम दांपत्य-क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। रानीजी की कृपा और अकृपा, दोनो ही सीमागत रहती हैं। एक सीमा का अनुभव हम कर चुके। ईश्वर ने चाहा, तो दूसरी सीमा का भी जल्द अनुभव होगा। मैं तुमसे सविनय अनुरोध करती हूँ कि अब इस प्रसंग को फिर मत उठाना, अन्यथा मुझे कोई दूसरा रक्षा-स्थान खोजना पड़ेगा।"

विनय ने धीरे से कहा—"वह दिन तब आएगा, जब या तो अम्माजी न होंगी या मैं न रहूँगा।"

तब उन्होंने कंबल ओढ़ा, हाथ में लकड़ी ली, और बाहर चले गए, जैसे कोई किसान महाजन की फटकार सुनकर उसके घर से बाहर निकले।

फिर पूर्ववत् दिन कटने लगे। विनय बहुत मलिन और खिन्न रहते। यथासंभव घर से बाहर ही विचरा करते, आते भी तो भोजन करके चले जाते। कहीं जाना न होता, तो नदी के तट पर जा बैठते, और घंटों जलद-क्रीड़ा देखा करते। कभी काग़ज़ की नावें बनाकर उसमें तैराते, और उनके पीछे-पीछे वहाँ तक जाते, जहाँ वे जल-मग्न हो जातीं। उन्हें अब भ्रम होने लगा था कि सोफ़िया को अब भी मुझ पर विश्वास नहीं

है। वह मुझसे प्रेम करती है, लेकिन मेरे नैतिक बल पर उसे संदेह है।

एक दिन वह नदी के किनारे बैठे हुए थे कि बुढ़िया भीलनी पानी भरने आई। उन्हें वहाँ बैठे देखकर उसने घड़ा रख दिया, और बोली—"क्यों मालिक, तुम यहाँ अकेले क्यों बैठे हो? घर में मालकिन घबराती न होंगी? मैं उन्हें बहुत रोते देखा करती हूँ। क्या तुमने उन्हें कुछ कहा है क्या? क्या बात है? कभी तुम दोनो को बैठकर हँसते-बोलते नहीं देखती?"

विनय ने कहा—"क्या कहूँ माता, उन्हें यही तो बीमारी है कि मुझसे रूठी रहती हैं। बरसों से उन्हें यही बीमारी हो गई है।"

भीलनी—"तो बेटा, इसका उपाय मैं कर दूँगी। ऐसी जड़ी दे दूँ कि तुम्हारे बिना उन्हें छिन-भर भी चैन न आए।"

विनय—"क्या, क्या ऐसी जड़ी भी होती है?"

बुढ़िया ने सरल विनता से कहा—"बेटा, जड़ियाँ तो ऐसी-ऐसी होती हैं कि चाहे आग बाँध लो, पानी बाँध लो, मुरदे को जिला दो, मुद्दई को घर बैठे मार डालो। हाँ, जानना चाहिए। तुम्हारा भील बड़ा गुनी था! राजों के दरबार में आया-जाया करता था। उसी ने मुझे दो-चार बूटियाँ बता दी थीं। बेटा, एक-एक बूटी एक-एक लाख को सस्ती है।"

विनय—"तो मेरे पास इतने रुपए कहाँ हैं?"

भीलनी—"नहीं, बेटा, तुमसे मैं क्या लूँगी! तुम विश्वनाथपुरी के निवासी हो। तुम्हारे दरसन पा गई, यही मेरे लिये बहुत है। वहाँ जाकर मेरे लिये थोड़ा-सा गंगाजल भेज देना। बुढ़िया तर जायगी। तुमने मुझसे पहले न कहा, नहीं तो मैंने वह जड़ी तुम्हें दे दी होती। तुम्हारा अनबन देखकर मुझे बड़ा दुख होता है।"

संध्या-समय, जब सोफ़िया बैठी भोजन बना रही थी, भीलनी ने एक जड़ी लाकर विनयसिंह को दी, और बोली—"बेटा, यह जतन से

रखना, लाख रुपए दोगे, तब भी न मिलेगी। अब तो यह विद्या ही उठ गई। इसको अपने लहू में पंद्रह दिन तक रोज भिगोकर सुखाओ। तब इसमें से एक-एक रत्ती काटकर मालकिन को धूनी दो। पंद्रह दिन के बाद जो बच रहे, वह उनके जूड़े में बाँध दो। देखो, क्या होता है। भगवान् चाहेंगे, तो तुम आप उनसे ऊबने लगोगे। वह परछाईं की भाँति तुम्हारे पीछे लगी रहेंगी।" फिर उसने विनय के कान में एक मंत्र बताया, जो कई निरर्थक शब्दों का संग्रह था, और कहा कि जड़ी को लहू में डुबाते समय यह मंत्र पाँच बार पढ़कर जड़ी पर फूँक देना।

विनयसिंह मिथ्यावादी न थे, मंत्र-तंत्र पर उनका अणु-मात्र भी विश्वास न था। लेकिन सुनी-सुनाई बातों से उन्हें यह मालूम था कि निम्न जातियों में ऐसी तांत्रिक क्रियाओं का बड़ा प्रचार है, और कभी-कभी इनका विस्मय-जनक फल भी होता है। उनका अनुमान था कि क्रियाओं में स्वयं कोई शक्ति नहीं, अगर कुछ फल होता है, तो वह मूर्खों के दुर्बल मस्तिष्क के कारण। शिक्षित पर, जो प्रायः शंकावादी होते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते, भला इनका क्या असर हो सकता है। तो भी उन्होंने यह सिद्धि प्राप्त करने का निश्चय किया। उन्हें उससे किसी फल की आशा न थी, केवल उसकी परीक्षा लेना चाहते थे।

लेकिन कहीं सचमुच इस जड़ी में कुछ चमत्कार हो, तो फिर क्या पूछना! इस कल्पना ही से उनका हृदय पुलकित हो उठा। सोफ़िया मेरी हो जायगी। तब उसके प्रेम में और ही बात होगी!

ज्यों ही मंगल का दिन आया, वह नदी पर गए, स्नान किया, और चाक़ू से अपनी एक उँगली काटकर उसके रक्त में जड़ी को भिगोया, और तब उसे एक ऊँची चट्टान पर पत्थरों से ढककर रख आए। पंद्रह दिन तक लगातार यही क्रिया करते रहे। ठंड ऐसी पड़ती थी कि हाथ-पाँव गले जाते थे, बरतनों में पानी जम जाता था। लेकिन विनय नित्य स्नान करने जाते। सोफ़िया ने उन्हें इतना कर्मनिष्ठ न देखा था। कहती इतने सवेरे

न नहाओ, कहीं सरदी न लग जाय, जंगली आदमी भी दिन-भर अँगीठियाँ जलाए बैठे रहते हैं, बाहर मुँह नहीं निकाला जाता, ज़रा धूप निकल आने दिया करो। लेकिन विनय मुस्किराकर कह देते, बीमार पड़ूँगा, तो कम-से-कम तुम मेरे पास बैठोगी तो! उनकी कई उँगलियों में घाव हो गए, पर वह इन घावों को छिपाए रहते थे।

इन दिनों विनय की दृष्टि सोफ़िया की एक-एक बात, एक-एक गति पर लगी रहती थी। वह देखना चाहते थे कि मेरी क्रिया का कुछ असर हो रहा है या नहीं, किंतु कोई प्रत्यक्ष फल न दिखाई देता था। पंद्रहवें दिन जाकर उन्हें सोफ़िया के व्यवहार में कुछ थोड़ा-सा अंतर दिखाई पड़ा। शायद किसी और समय उनका इस ओर ध्यान भी न जाता, किंतु आजकल तो उनकी दृष्टि बहुत सूक्ष्म हो गई थी। जब वह घर से बाहर जाने लगे, तो सोफ़िया अज्ञात भाव से निकल आई, और कई फ़र्लांग तक उनसे बातें करती हुई चली गई। जब विनय ने बहुत आग्रह किया, तब लौटी। विनय ने समझा, यह उसी क्रिया का असर है।

आज से धूनी देने की क्रिया आरंभ होती थी। विनय बहुत चिंतित थे—"यह क्रिया क्योंकर पूरी होगी! अकेले सोफ़ी के कमरे में जाना सभ्यता, सज्जनता और शिष्टता के विरुद्ध है। कहीं सोफ़ी जाग जाय, और मुझे देख ले, तो मुझे कितना नीच समझेगी। कदाचित् सदैव के लिये मुझसे घृणा करने लगे। न भी जागे, तो भी यह कौन-सी भलमंसी है कि कोई आदमी किसी युवती के कमरे में प्रवेश करे। न-जाने वह किस दशा में लेटी होगी। संभव है, केश खुले हों, वस्त्र हट गया हो। उस समय मेरी मनोवृत्तियाँ कितनी कुचेष्ट हो जायँगी। मेरा कितना नैतिक पतन हो गया है!"

सारे दिन वह इन्हीं अशांतिमय विचारों में पड़े रहे, लेकिन संध्या होते ही वह कुम्हार के घर से एक नया प्याला लाए, और उसे हिफ़ाज़त से रख दिया। मानव-चरित्र की एक विचित्रता यह है कि हम बहुधा ऐसे

काम कर डालते हैं, जिन्हें करने की हमें इच्छा नहीं होती। कोई गुप्त प्रेरणा हमें इच्छा के विरुद्ध ले जाती है।

आधी रात हुई, तो विनय प्याली में आग और हाथ में वह रक्त-सिंचित जड़ी लिए हुए सोफ़ी की कोठरी के द्वार पर आए। कंबल का परदा पड़ा हुआ था। झोपड़े में किवाड़ कहाँ! कंबल के पास खड़े होकर उन्होंने कान लगाकर सुना। सोफ़ी मीठी नींद सो रही थी। वह थर-थर काँपते, पसीने से तर, अंदर घुसे। दीपक के मंद प्रकाश में सोफ़ी निद्रा में मग्न लेटी हुई ऐसी मालूम होती थी, मानो मस्तिष्क में मधुर कल्पना विश्राम कर रही हो। विनय के हृदय पर आतंक-सा छा गया। कई मिनट तक मंत्र-मुग्ध-से खड़े रहे, पर अपने को सँभाले हुए, मानो किसी देवी के मंदिर में हैं। उन्नत हृदयों में सौंदर्य उपासना-भाव को जाग्रत् कर देता है, वासनाएँ विश्रांत हो जाती हैं। विनय कुछ देर तक सोफ़ी को भक्ति-भाव से देखते रहे। तब वह धीरे से बैठ गए, प्याले में जड़ी का एक टुकड़ा तोड़कर रख दिया, और उसे सोफ़िया के सिर-हाने की ओर खिसका दिया। एक क्षण में जड़ी की सुगंध से सारा कमरा बस उठा। ऊद और अंबर में यह सुगंध कहाँ? धुएँ में कुछ ऐसी उद्दीपन-शक्ति थी कि विनय का चित्त चंचल हो उठा। ज्यों ही धुआँ बंद हुआ, विनय ने प्याले से जड़ी की राख निकाल ली। भीलनी के आदेशानुसार उसे सोफ़िया पर छिड़क दिया, और बाहर निकल आए। लेकिन अपनी कोठरी में आकर वह घंटों बैठे पश्चात्ताप करते रहे। बार-बार अपने नैतिक भावों को चोट पहुँचाने की चेष्टा की। इस कृत्य को विश्वासघात, सतीत्व-हत्या कहकर मन में घृणा का संचार करना चाहा। सोते वक़्त निश्चय किया कि बस, इस क्रिया का आज ही से अंत है। दूसरे दिन दिन-भर उनका हृदय खिन्न, मलिन, उद्विग्न रहा। ज्यों-ज्यों रात निकट आती थी, उन्हें शंका होती जाती थी कि कहीं मैं फिर यह क्रिया न करने लगूँ। दो-तीन भीलों को बुला लाए, और उन्हें

अपने पास सुलाया। भोजन करने में बड़ी देर की, जिसमें चारपाई पर पड़ते-ही-पड़ते नींद आ जाय। जब भोजन करके उठे, तो सोफ़ी आकर उनके पास बैठ गई। यह पहला ही अवसर था कि वह रात को उनके पास बैठी बातें करती रही। आज के समाचार-पत्रों में प्रभु सेवक की पूना में दी हुई वक्तृता प्रकाशित हुई थी। सोफ़ी ने उसे उच्च स्वर से पढ़ा। गर्व से उसका सिर ऊँचा हो गया। बोली—"देखो, कितना विलासप्रिय आदमी था, जिसे सदैव अच्छे वस्त्रों और अन्य सुख-सामग्रियों की धुन सवार रहती थी। उसकी कितनी कायापलट हुई है। मैं समझती थी, इससे कभी कुछ न होगा, आत्मसेवन में ही इसका जीवन व्यतीत होगा। मानव-हृदय के रहस्य कितने दुर्बोध होते हैं। उसका यह त्याग और अनुराग देखकर आश्चर्य होता है!"

विनय—"जब प्रभु सेवक इस संस्था के कर्णधार हो गए, तो मुझे कोई चिंता नहीं। डॉक्टर गंगुली उसे दवा बाँटनेवालों की मंडली बनाकर छोड़ते। पिताजी पर मेरा विश्वास नहीं, और इंद्रदत्त तो बिलकुल उजड्ड है। प्रभु सेवक से ज़्यादा योग्य पुरुष न मिल सकता था। वह यहाँ होते, तो बलाएँ लेता। यह दैवी सहायता है, और अब मुझे आशा होती है कि हमारी साधना निष्फल न होगी।"

झींगों के झर्राटों की आवाज़ें आने लगीं। सोफ़ी चलने को उठी, तो उसने विनय को ऐसी चितवनों से देखा, जिसमें प्रेम के सिवा और भी कुछ था—आर्द्र आकांक्षा झलक रही थी। एक आकर्षण था, जिसने विनय को सिर से पैर तक हिला दिया। जब वह चली गई, तो उन्होंने एक पुस्तक उठा ली, और पढ़ने लगे। लेकिन ज्यों-ज्यों क्रिया का समय आता था, उनका दिल बैठा जाता था। ऐसा जान पड़ता था, कोई ज़बरदस्ती उन्हें ठेल रहा है। जब उन्हें यक़ीन हो गया कि सोफ़िया सो गई होगी, तो वह धीरे से उठे, प्याले में आग ली, और चले। आज वह कल से भी ज़्यादा भयभीत हो रहे थे। एक बार जी में आया कि

प्याले को पटक दूँ। लेकिन इसके एक ही क्षण बाद उन्होंने सोफ़ी के कमरे में क़दम रक्खा। आज उन्होंने आँखें ऊपर उठाई ही नहीं। सिर नीचा किए धूनी सुलगाई, और राख छिड़क कर चले आए। चलती बार उन्होंने सोफ़िया का मुख-चंद्र देखा। ऐसा भासित हुआ कि वह मुस्किरा रही है। कलेजा धक से हो गया। सारे शरीर में सनसनी-सी दौड़ गई। ईश्वर! अब लाज तुम्हारे हाथ है, इसने देख न लिया हो! विद्युद्गति से अपनी कोठरी में आए, दीपक बुझा दिया, और चारपाई पर गिर पड़े।

घंटों कलेजा धड़कता रहा।

इस भाँति पाँच दिनों तक विनय ने बड़ी कठिनाइयों से यह साधना की, और इतने ही दिनों में उन्हें सोफ़िया पर इसका असर साफ़ नज़र आने लगा। यहाँ तक कि पाँचवें दिन वह दोपहर तक उनके साथ भीलों की झोपड़ियों की सैर करती रही। उसके नेत्रों में गंभीर चिंता की जगह अब एक लालसा-पूर्ण चंचलता झलकती थी, और अधरों पर मधुर हास्य की आभा। आज रात को भोजन के उपरांत वह उनके पास बैठकर समाचार-पत्र पढ़ने लगी, और पढ़ते-पढ़ते उसने अपना सिर विनय की गोद में रख दिया, और उनके हाथों को अपने हाथों में लेकर बोली—"सच बताओ विनय, एक बात तुमसे पूछूँ, बताओगे न? सच बताना, तुम यह तो नहीं चाहते कि यह बला सिर से टल जाय? मैं कहे देती हूँ, जीते जी न टलूँगी, न तुम्हें छोड़ूँगी, तुम भी मुझसे भागकर नहीं जा सकते। किसी तरह न जाने दूँगी, जहाँ जाओगे, मैं भी चलूँगी, तुम्हारे गले का हार बनी रहूँगी।"

यह कहते-कहते उसने विनय के हाथ छोड़ दिए, और उनके गले में बाहें डाल दीं।

विनय को ऐसा मालूम हुआ कि मेरे पैर उखड़ गए हैं, और मैं लहरों में बहा जा रहा हूँ। एक विचित्र आशंका से उनका हृदय काँप उठा, मानो उन्होंने खेल में सिंहनी को जगा दिया हो। उन्होंने अज्ञात

भाव से सोफ़ी के कर-पाश से अपने को मुक्त कर लिया, और बोले—"सोफ़ी !"

सोफ़ी चौंक पड़ी, मानो निद्रा में हो। फिर उठकर बैठ गई, और बोली—"मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मैं पूर्व-जन्म में, उससे पहले भी, आदि से तुम्हारी हूँ, कुछ स्वप्न-सा याद आता है कि हम और तुम किसी नदी के किनारे एक झोपड़े में रहते थे। सच !"

विनय ने सशंक होकर कहा—"तुम्हारा जी कैसा है ?"

सोफ़ी—"मुझे कुछ हुआ थोड़े ही है, मैं तो अपने पूर्व-जन्म की बात याद कर रही हूँ। मुझे ऐसा याद आता है कि तुम मुझे झोपड़े में अकेली छोड़कर अपनी नाव पर कहीं परदेश चले गए थे, और मैं नित्य नदी के तीर बैठी हुई तुम्हारी राह देखती थी, पर तुम न आते थे।"

विनय—"सोफ़िया, मुझे भय हो रहा है कि तुम्हारा जी अच्छा नहीं है। रात बहुत हो गई है, अब सो जाओ।"

सोफ़ी—"मेरा तो आज यहाँ से जाने को जी नहीं चाहता। क्या तुम्हें नींद आ रही है ? तो सोओ, मैं बैठी हूँ, जब तुम सो जाओगे, मैं चली जाऊँगी।"

एक क्षण बाद फिर बोली—"मुझे न-जाने क्यों संशय हो रहा है कि तुम मुझे छोड़कर चले जाओगे। सच बताओ, क्या तुम मुझे छोड़ जाओगे ?"

विनय—"सोफ़ी, अब हम अनंत काल तक अलग न होंगे।"

सोफ़ी—"तुम इतने निर्दय नहीं हो, मैं जानती हूँ। मैं रानीजी से न डरूँगी, साफ़-साफ़ कह दूँगी, विनय मेरे हैं।"

विनय की दशा उस भूखे आदमी की-सी थी, जिसके सामने परसी थाली रक्खी हुई हो, क्षुधा से चित्त व्याकुल हो रहा हो, आँतें सिकुड़ी जाती हों, आँखों में अँधेरा छा रहा हो ; मगर थाली में हाथ न डाल सकता हो, इसलिये कि पहले किसी देवता का भोग लगना है। उन्हें अब

इसमें कोई संदेह न रहा था कि सोफ़ी की व्याकुलता उसी क्रिया का फल है। उन्हें विस्मय होता था कि उस जड़ी में ऐसी कौन-सी शक्ति है। वह अपने कृत्य पर लज्जित थे, और सबसे अधिक भयभीत थे, आत्मा से नहीं, परमात्मा से भी नहीं, सोफ़ी से। जब सोफ़ी को ज्ञात हो जायगा—कभी-न-कभी तो यह नशा उतरेगा ही—तब वह मुझसे इसका कारण पूछेगी, और मैं छिपा न सकूँगा! उस समय वह मुझे क्या कहेगी!

आख़िर जब अँगीठी की आग ठंडी हो गई, और सोफ़ी को सरदी मालूम होने लगी, तो सोफ़ी चली गई। क्रिया का समय भी आ पहुँचा। लेकिन आज विनय को उसका साहस न हुआ। उन्हें उसकी परीक्षा ही करनी थी, परीक्षा हो गई, और तांत्रिक साधनों पर उन्हें हमेशा के लिये श्रद्धा हो गई।

सोफ़िया को चारपाई पर लेटते ही ऐसा भ्रम हुआ कि रानी जाह्नवी सामने खड़ी ताक रही हैं। उसने कंबल से सिर निकालकर देखा, और तब अपनी मानसिक दुर्बलता पर झुँझलाकर सोचने लगी—आजकल मुझे क्या हो गया है? मुझे क्यों भाँति-भाँति के संशय होते रहते हैं? क्यों नित्य अनिष्ट-शंका हृदय पर छाई रहती है? जैसे मैं विचार-हीन-सी हो गई हूँ। विनय आजकल क्यों मुझसे खिंचे हुए हैं? कदाचित् वह डर रहे हैं कि रानीजी कहीं उन्हें शाप न दे दें, अथवा आत्मघात न कर लें। इनकी बातों में पहले की उत्सुकता, प्रेमातुरता नहीं है। रानी मेरे जीवन का सर्वनाश किए देती हैं।

इन्हीं अशांतिमय विचारों में डूबी हुई वह सो गई, तो देखती क्या है कि वास्तव में रानीजी मेरे सामने खड़ी क्रोधोन्मत्त नेत्रों से ताक रही हैं, और कह रही हैं—"विनय मेरा है! वह मेरा पुत्र है, उसे मैंने जन्म दिया है, उसे मैंने पाला है, तू क्यों उसे मेरे हाथों से छीने लेती है। अगर तूने उसे मुझसे छीना, मेरे कुल को कलंकित किया, तो मैं तुम दोनो का इसी तलवार से वध कर दूँगी!"

सोफ़ी तलवार की चमक देखकर घबरा गई। चिल्ला उठी। नींद टूट गई। उसकी सारी देह तृणवत् काँप रही थी। वह दिल मज़बूत करके उठी, और विनयसिंह की कोठरी में आकर उनके सीने से चिमट गई। विनय की आँखें लग ही रही थीं। चौंककर सिर उठाया।

सोफ़ी—"विनय, विनय, जागो, मैं डर रही हूँ।"

विनय तुरंत चारपाई से उतरकर खड़े हो गए, और पूछा—"क्या है सोफ़ी?"

सोफ़ी—"रानीजी को अभी-अभी मैंने अपने कमरे में देखा। अभी वहीं खड़ी हैं।"

विनय—"सोफ़ी, शांत हो जाओ। तुमने कोई स्वप्न देखा है। डरने की कोई बात नहीं।"

सोफ़ी—"स्वप्न नहीं था विनय, मैंने रानीजी को प्रत्यक्ष देखा।"

विनय—"वह यहाँ कैसे आ जायँगी? हवा तो नहीं हैं!"

सोफ़ी—"तुम इन बातों को नहीं जानते विनय! प्रत्येक प्राणी के दो शरीर होते हैं—एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म। दोनो अनुरूप होते हैं, अंतर केवल इतना ही है कि सूक्ष्म शरीर स्थूल से कहीं सूक्ष्म होता है। वह साधारण दशाओं में अदृश्य रहता है, लेकिन समाधि या निद्रावस्था में स्थूल शरीर का स्थानापन्न बन जाता है। रानीजी का सूक्ष्म शरीर अवश्य यहाँ है।"

दोनो ने बैठकर रात काटी।

सोफ़िया को अब विनय के बिना क्षण-भर भी चैन न आता। उसे केवल मानसिक अशांति न थी, ऐंद्रियिक सुख-भोग के लिये भी वह उत्कंठित रहती। जिन विषयों की कल्पना-मात्र से उसे अरुचि थी, जिन बातों को याद करके ही उसके मुख पर लालिमा छा जाती, वे ही कल्पनाएँ और वे ही भावनाएँ अब नित्य उसके चित्त पर आच्छादित रहतीं। उसे अपनी वासना-लिप्सा पर आश्चर्य होता था। किंतु जब वह विलास-कल्पना करते-

करते उस क्षेत्र में प्रविष्ट होती, जो दांपत्य जीवन ही के लिये नियंत्रित है, तो रानीजी की वही क्रोध-तेज-पूर्ण मूर्ति उसके सम्मुख आकर खड़ी हो जाती, और वह चौंककर कमरे से निकल भागती। इस भाँति उसने दस-बारह दिन काटे। कृपाण के नीचे खड़े अभियोगी की दशा भी इतनी चिंताजनक न होगी!

एक दिन वह घबराई हुई विनय के पास आई, और बोली—"विनय, मैं बनारस जाऊँगी। मैं बड़े संकट में हूँ। रानीजी मुझे यहाँ चैन न लेने देंगी। अगर यहाँ रही, तो शायद जीवन से हाथ धोना पड़े। मुझ पर अवश्य कोई-न-कोई अनुष्ठान किया गया है। मैं इतनी अव्यवस्थित-चित्त कभी न थी। मुझे स्वयं ऐसा मालूम होता है कि अब मैं वह हूँ ही नहीं, कोई और ही हूँ। मैं जाकर रानीजी के पैरों पर गिरूँगी। उनसे अपना अपराध क्षमा कराऊँगी, और उन्हीं की आज्ञा से तुम्हें प्राप्त करूँगी। उनकी इच्छा के बग़ैर मैं तुम्हें नहीं पा सकती, और ज़बरदस्ती ले लूँ, तो कुशल से न बीतेगी। विनय, मुझे स्वप्न में भी यह शंका न थी कि मैं तुम्हारे लिये इतनी अजीर्ण हो जाऊँगी। मेरा हृदय कभी इतना दुर्बल और इतना मोह-ग्रस्त न था।"

विनय ने चिंतित होकर कहा—"सोफ़ी, मुझे आशा है कि थोड़े दिनों में तुम्हारा चित्त शांत हो जायगा।"

सोफ़ी—"नहीं विनय, कदापि नहीं। रानीजी ने तुम्हें एक महान् उद्देश्य के लिये बलि कर रक्खा है। बलि-जीवन का उपभोग अनिष्टकारक होता है। मैं उनसे भिक्षा माँगूँगी।"

विनय—"तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।"

सोफ़ी—"नहीं-नहीं, ईश्वर के लिये ऐसा मत कहो। मैं तुम्हें रानीजी के सामने न ले जाऊँगी। मुझे अकेले जाने दो।"

विनय—"इस दशा में मैं तुम्हें अकेले कभी न जाने दूँगा। अगर ऐसा ही है, तो मैं तुम्हें वहाँ छोड़कर वापस आ जाऊँगा।"

सोफ़ी—"वचन दो कि बिना मुझसे पूछे रानीजी के पास न जाओगे।"

विनय—"हाँ, सोफ़ी, यह स्वीकार है। वचन देता हूँ।"

सोफ़ी—"फिर भी दिल नहीं मानता। डर लगता है, वहाँ तुम आवेश में आकर कहीं रानीजी के पास न चले जाओ। तुम यहीं क्यों नहीं रहते? मैं तुम्हें नित्यप्रति पत्र लिखा करूँगी, और जल्द-से-जल्द लौट आऊँगी।"

विनय ने उसे तस्कीन देने के लिये अकेले जाने की अनुमति दे दी, लेकिन उनका स्नेह-सिंचित हृदय यह कब मान सकता था कि सोफ़िया इस अव्यवस्थित दशा में इतनी लंबी यात्रा करे। सोचा, उसकी निगाह बचाकर किसी दूसरी गाड़ी में बैठ जाऊँगा। उन्हें लौटकर आने की बहुत कम आशा थी। भीलों ने सुना, तो भाँति-भाँति के उपहार लेकर विदा करने आए। मृग-चर्मों, बघनखों और नाना प्रकार की जड़ी-बूटियों का ढेर लग गया। एक भील ने धनुष भेंट किया। सोफ़ी और विनय, दोनो ही को इस स्थान से प्रेम हो गया था। निवासियों का सरल, स्वाभाविक, निष्कपट जीवन उन्हें ऐसा भा गया था कि उन लोगों को छोड़कर जाते हुए हार्दिक वेदना होती थी। भीलगण खड़े रो रहे थे, और कह रहे थे, जल्द आना, हमें भूल न जाना। बुढ़िया भीलनी तो उन्हें छोड़ती ही न थी। सब-के-सब स्टेशन तक उन्हें पहुँचाने आए। लेकिन जब गाड़ी आई, और वह बैठी, विनय से बिदा होने का समय आया, तो वह विनय के गले से लिपटकर रोने लगी। विनय चाहते थे कि निकल जायँ, और किसी दूसरी गाड़ी में जा बैठें, पर वह उन्हें छोड़ती ही न थी। मानो यह अंतिम वियोग है। जब गाड़ी ने सीटी दी, तो वह हृदय-वेदना से विकल होकर बोली—"विनय, मुझसे इतने दिनों कैसे रहा जायगा? रो-रोकर मर जाऊँगी। ईश्वर, मैं क्या करूँ?"

विनय—"सोफ़ी, घबराओ नहीं, मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।"

सोफ़ी—"नहीं-नहीं, ईश्वर के लिये। मैं अकेली ही जाऊँगी।"

विनय गाड़ी में आकर बैठ गए। गाड़ी रवाना हो गई। ज़रा देर बाद सोफ़िया ने कहा—"तुम न आते, तो मैं शायद घर तक न पहुँचती। मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा था कि प्राण निकले जा रहे हैं। सच बताना विनय तुमने मुझ पर मोहिनी तो नहीं डाल दी है? मैं इतनी अधीर क्यों हो गई हूँ?"

विनय ने लज्जित होकर कहा—"क्या जानें सोफ़ी, मैंने एक क्रिया तो की है। नहीं कह सकता कि वह मोहिनी थी या कुछ और!"

सोफ़ी—"सच!"

विनय—"हाँ, बिलकुल सच। मैं तुम्हारी प्रेम-शिथिलता से डर गया था कि कहीं तुम मुझे फिर न परीक्षा में डालो।"

सोफ़ी ने विनय की गरदन में हाथ डाल दिए, और बोली—"तुम बड़े छलिया हो। अपना जादू उतार लो, मुझे क्यों तड़पा रहे हो?"

विनय—"क्या कहूँ, उतारना नहीं सीखा, यही तो भूल हुई।"

सोफ़ी—"तो मुझे भी वही मंत्र क्यों नहीं सिखा देते? न मैं उतार सकूँगी, न तुम उतार सकोगे। (एक क्षण बाद) लेकिन नहीं, मैं तुम्हें संज्ञा-हीन न बनाऊँगी। दो में से एक को तो होश रहना चाहिए। दोनो मदमत्त हो जायँगे, तो अनर्थ हो जायगा। अच्छा बताओ, कौन-सी क्रिया की थी?"

विनय ने अपनी जेब से वह जड़ी निकालकर दिखाते हुए कहा—"इसी की धूनी देता था।"

सोफ़ी—"जब मैं सो जाती थी, तब?"

विनय—(सकुचाते हुए) "हाँ, सोफ़ी, तभी।"

सोफ़ी—"तुम बड़े ढीठ हो। अच्छा, अब यह जड़ी मुझे दे दो। तुम्हारा प्रेम शिथिल होते देखूँगी, तो मैं भी यही क्रिया करूँगी।"

यह कहकर उसने जड़ी लेकर रख ली। थोड़ी देर बाद उसने पूछा—"यह तो बताओ, वहाँ तुम रहोगे कहाँ? मैं रानीजी के पास तुम्हें न आने दूँगी।"

विनय—"अब मेरा कोई मित्र नहीं रहा। सभी मुझसे असंतुष्ट हो रहे होंगे। नायकराम के घर चला जाऊँगा। तुम वहीं आकर मुझसे मिल लिया करना। वह तो घर पहुँच ही गया होगा।"

सोफ़िया—"कहीं जाकर कह न दे!"

विनय—"नहीं, मंदबुद्धि हो, पर विश्वासघाती नहीं।"

सोफ़िया—"अच्छी बात है। देखूँ, रानीजी से मुराद मिलती है या मौत!"

तीसरे दिन यात्रा समाप्त हो गई, तो संध्या हो चुकी थी। सोफ़िया और विनय दोनो डरते हुए गाड़ी से उतरे कि कहीं किसी परिचित आदमी से भेंट न हो जाय। सोफ़िया ने सेवा-भवन (विनयसिंह का घर) चलने का विचार किया ; लेकिन आज वह बहुत कातर हो रही थी, रानीजी न-जाने कैसे पेश आएँ। वह पछता रही थी कि नाहक़ यहाँ आई ; न-जाने कैसी पड़े, कैसी न पड़े। अब उसे अपने ग्रामीण जीवन की याद आने लगी। कितनी शांति थी, कितनी सरल जीवन था ; न कोई विघ्न था, न बाधा ; न किसी से द्वेष था, न मत्सर। विनयसिंह उसे तस्कीन देते हुए बोले—"दिल मज़बूत रखना, ज़रा भी मत डरना, सच्ची घटनाएँ बयान करना, बिलकुल सच्ची, तनिक भी अतिशयोक्ति न हो, ज़रा भी ख़ुशामद न हो। दया-प्रार्थना का एक शब्द भी मुख से मत निकालना। मैं बातों को घटा-बढ़ाकर अपनी प्राण-रक्षा नहीं करना चाहता! न्याय और शुद्ध न्याय चाहता हूँ। यदि वह तुमसे अशिष्टता का व्यवहार करें, कटु वचनों का प्रहार करने लगें, तो तुम क्षण-भर भी मत ठहरना। प्रातःकाल आकर मुझसे एक-एक बात कहना। या कहो, तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ?"

सोफ़ी उन्हें साथ ले चलने पर राज़ी न हुई। विनय तो पाँड़ेपुर की तरफ़ चले, वह सेवा-भवन की ओर चली। ताँगेवाले ने कहा—"मिस साहब, आप कहीं चली गई थीं क्या? बहुत दिनों बाद दिखलाई दीं।" सोफ़ी का कलेजा धक-धक करने लगा। बोली—"तुमने मुझे कब देखा? मैं तो इस शहर में पहली ही बार आई हूँ।"

ताँगेवाले ने कहा—"आप ही-जैसी एक मिस साहब यहाँ सेवक साहब की बेटी भी थीं। मैंने समझा, आप ही होंगी।"

सोफ़िया—"मैं ईसाई नहीं हूँ।"

जब वह सेवा-भवन के समीप पहुँची, तो ताँगे से उतर पड़ी। वह रानी-जी से मिलने के पहले अपने आने की कानोंकान भी ख़बर न होने देना चाहती थी। हाथ में अपना बेग लिए हुए ड्योढ़ी पर गई, और दरबान से बोली—"जाकर रानीजी से कहो, मिस सोफ़िया आपसे मिलना चाहती हैं।"

दरबान उसे पहचानता ही था। उठकर सलाम किया, और बोला—"हजूर भीतर चलें, इतला क्या करनी है! बहुत दिनों बाद आपके दरसन हुए।"

सोफ़िया—मैं बहुत अच्छी तरह खड़ी हूँ। तुम जाकर इत्तिला तो दो।"

दरबान—"सरकार, उनका मिजाज आप जानती ही हैं। बिगड़ जायँगी कि उन्हें साथ क्यों न लाया, इतला क्यों देने आया?"

सोफ़िया—"मेरी ख़ातिर से दो-चार बात सुन लेना।"

दरबान अंदर गया, तो सोफ़िया का दिल इस तरह धड़क रहा था, जैसे कोई पत्ता हिल रहा हो। मुख पर एक रंग जाता था, एक रंग आता था। धड़का लगा हुआ था—"कहीं रानी साहब गुस्से में भरी वहीं से बिगड़ती हुई न आएँ, या कहला दें, चली जा, नहीं मिलती! बिना एक बार उनसे मिले, तो मैं न जाऊँगी, चाहे वह हज़ार बार दुत्कारें।"

एक मिनट भी न गुज़रने पाया था कि रानीजी, एक शाल ओढ़े हुए, द्वार पर आ गईं, और उससे टूटकर गले मिलीं, जैसे कोई माता ससुराल से आनेवाली बेटी को गले लगा ले। उनकी आँखों से आँसुओं की वर्षा होने लगी। अवरुद्ध कंठ से बोलीं—"तुम यहीं क्यों खड़ी हो गईं बेटी, अंदर क्यों न चली आईं? मैं तो नित्यप्रति तुम्हारी बाट जोहती रहती थी। तुमसे मिलने को जी तड़प-तड़प रह जाता था। मुझे आशा हो रही थी कि तुम आ रही हो, पर तुम आती न थीं। कई बार यों ही स्टेशन तक

गई कि शायद तुम्हें देख पाऊँ। ईश्वर से नित्य मनाती थी कि एक बार तुमसे मिला दे। चलो, भीतर चलो। मैंने तुम्हें जो दुर्वचन कहे थे, उन्हें भूल जाओ। (दरबान से) यह बैग उठा ले। महरी से कह दे, मिस सोफ़िया का पुराना कमरा साफ़ कर दे। बेटी, तुम्हारे कमरे की ओर ताकने की हिम्मत नहीं पड़ती, दिल भर-भर आता है।"

यह कहते हुए सोफ़िया का हाथ पकड़े अपने कमरे में आईं, और उसे अपनी बग़ल में मसनद पर बैठाकर बोलीं—"आज मेरी मनोकामना पूरी हो गई। तुमसे मिलने के लिये जी बहुत बेचैन था।"

सोफ़िया का चिंता-पीड़ित हृदय इस निरपेक्षित स्नेह-बाहुल्य से विह्वल हो उठा। वह केवल इतना कह सकी—"मुझे भी आपके दर्शनों की बड़ी अभिलाषा थी। आपसे दया-भिक्षा माँगने आई हूँ।"

रानी—"बेटी, तुम देवी हो, मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था। मैंने तुम्हें पहचाना न था। मुझे सब मालूम है बेटी, सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है, यह मुझे न मालूम था। आह! अगर पहले से जानती।"

यह कहते-कहते रानीजी फूट-फूटकर रोने लगीं। जब चित्त शांत हुआ, तो फिर बोलीं—"अगर पहले से जान गई होती, तो आज इस घर को देखकर कलेजा ठंडा होता। आह! मैंने विनय के साथ घोर अन्याय किया। तुम्हें न मालूम होगा बेटी, जब तुमने......(सोचकर) वीरपालसिंह ही नाम था न? हाँ, जब तुमने उसके घर पर रात के समय विनय का तिरस्कार किया, तो वह तो लज्जित होकर रियासत के अधिकारियों के पास क़ैदियों पर दया करने के लिये दौड़ता रहा। दिन-दिन-भर निराहार और निर्जल पड़ा रहता, रात-रात-भर पड़ा रोया करता, कभी दीवान के पास जाता, कभी एजेंट के पास, कभी पुलिस के प्रधान कर्मचारी के पास, कभी महाराजा के पास। सबसे अनुनय-विनय करके हार गया। किसी ने न सुनी। क़ैदियों की दशा पर किसी को दया न आई। बेचारा विनय हताश

होकर अपने डेरे पर आया। न-जाने किस सोच में बैठा था कि मेरा पत्र उसे मिला। हाय! (रोकर) सोफ़ी, वह पत्र नहीं था; विष का प्याला था, जिसे मैंने अपने हाथों उसे पिलाया; कटार थी, जिसे मैंने अपने हाथों उसकी गरदन पर फेरा। मैंने लिखा था, तुम इस योग्य नहीं हो कि मैं तुम्हें अपना पुत्र समझूँ, तुम मुझे अपनी सूरत न दिखाना। और भी न-जाने कितनी कठोर बातें लिखी थीं। याद करती हूँ, तो छाती फटने लगती है। यह पत्र पाते ही वह बिना किसी से कुछ कहे-सुने नायकराम के साथ यहाँ आने के लिये तैयार हो गया। कई स्टेशनों तक नायकराम उसके साथ आए। पंडाजी को फिर नींद आ गई। और, जब आँख खुली, तो विनय का कहीं गाड़ी में पता न था। उन्होंने सारी गाड़ी तलाश की। फिर उदयपुर तक गए। रास्ते में एक-एक स्टेशन पर उतरकर पूछताँछ की, पर कुछ पता न चला। बेटी, यह इस अभागिनी की राम-कथा है। मैं हत्यारिन हूँ! मुझसे बढ़ी अभागिनी संसार में और कौन होगी? न-जाने विनय का क्या हाल हुआ! कुछ पता नहीं। उसमें बड़ा आत्माभीमान था बेटी, बड़ा बात का धनी था। मेरी बातें उसके दिल पर चोट कर गईं। मेरे प्यारे लाल ने कभी सुख न पाया। उसका सारा जीवन तपस्या ही में कटा।"

यह कहकर रानी फिर रोने लगीं। सोफ़ी भी रो रही थी। पर दोनो के मनोभावों में कितना अंतर था। रानी के आँसू दुःख, शोक और विषाद के थे, सोफ़ी के आँसू हर्ष और उल्लास के।

एक क्षण में रानीजी ने पूछा—"क्यों बेटी, तुमने उसे जेल में देखा था, तो बहुत दुबला हो गया था?"

सोफ़ी—"जी हाँ, पहचाने न जाते थे।"

रानी—"उसने समझा, विद्रोहियों ने तुम्हारे साथ न-जाने क्या व्यवहार किया हो। बस, इस बात पर उसे ज़िद पड़ गई। आराम से बैठो बेटी, अब यही तुम्हारा घर है। अब मेरे लिये तुम्हीं विनय की प्रतिच्छाया

हो। अब यह बताओ, तुम इतने दिनों कहाँ थीं ? इंद्रदत्त तो कहता था कि तुम विनय का तिरस्कार करने के तीन ही चार दिन बाद वहाँ से चली आई थीं। इतने दिनों कहाँ रहीं ? साल-भर से ऊपर तो हो गया होगा।"

सोफ़िया का हृदय आनंद से गद्‌गद हो रहा था। जी में तो आया कि इसी वक़्त सारा वृत्तांत कह सुनाऊँ, माता की शोकाग्नि शांत कर दूँ। पर भय हुआ कि कहीं इनका धर्माभिमान फिर न जाग्रत् हो जाय। विनय की ओर से तो अब वह निश्चित हो गई थी। केवल अपने ही विषय में शंका थी। देवता को न पाकर हम पाषाण-प्रतिष्ठा करते हैं। देवता मिल जाय, तो पत्थर को कौन पूजे ? बोली—"क्या बताऊँ कहाँ थी ? इधर-उधर भटकती फिरती थी। और शरण ही कहाँ थी ! अपनी भूल पर पछताती और रोती थी। निराश होकर यहाँ चली आई।"

रानी—"तुम व्यर्थ इतने दिनों कष्ट उठाती रहीं। तुम्हारा यह क्या घर न था ? बुरा न मानना बेटी, तुमने विनय के साथ बड़ा अन्याय किया। उतना ही, जितना मैंने। तुम्हारी बात उसे और भी ज़्यादा लगी; क्योंकि उसने जो कुछ किया था, तुम्हारे ही हित के लिये किया था। मैं तो अपने प्रियतम के साथ इतनी निर्दयता कभी न कर सकती ! अब तुम स्वयं अपनी भूल पर पछता रही होगी। हम दोनो ही अभागिनी हैं। आह ! बेचारे विनय को कहीं सुख न मिला। तम्हारा हृदय अत्यंत कठोर है। सोचो, अगर तुम्हें ख़बर मिलती कि विनय को डाकुओं ने पकड़कर मार डाला है, तो तुम्हारी क्या दशा हो जाती। शायद तुम भी इतनी ही दया-शून्य हो जाती। यह मानवीय स्वभाव है। मगर अब पछताने से क्या होता है। मैं आप ही नित्य पछताया करती हूँ। अब तो वह काम सँभालना है, जो उसे अपने जीवन में सबसे प्यारा था। तुमने उसके लिये बड़े कष्ट उठाए; अपमान, लज्जा, दंड, सब कुछ झेला। अब उसका काम सँभालो। इसी को अपने जीवन का उद्देश्य समझो।

तुम्हें क्या ख़बर होगी, कुछ दिनों तक प्रभु सेवक इस संस्था के व्यवस्थापक हो गए थे। काम करनेवाला हो, तो ऐसा हो। थोड़े ही दिनों में उसने सारा मुल्क छान डाला, और पूरे पाँच सौ वालंटियर जमा कर लिए, बड़े-बड़े शहरों में शाखाएँ खोल दीं, बहुत-सा रुपया जमा कर लिया। मुझे इससे बड़ा आनंद मिलता था कि विनय ने जिस संस्था पर अपना जीवन बलिदान कर दिया, वह फल-फूल रही है। मगर ईश्वर को न-जाने क्या मंजूर था। प्रभु सेवक और कुँवर साहब में अनबन हो गई। प्रभु सेवक उसे ठीक उसी मार्ग पर ले जा रहा था, जिस पर विनय ले जाना चाहता था। कुँवर साहब और उनके परम मित्र डॉ० गंगुली उसे दूसरे ही रास्ते पर ले जाना चाहते थे। आख़िर प्रभु सेवक ने पद-त्याग कर दिया। तभी से संस्था डाँवाडोल हो रही है, जाने बचती है या जाती है। कुँवर साहब में एक विचित्र परिवर्तन हो गया है। वह अब अधिकारियों से सशंक रहने लगे हैं। अफ़वाह थी कि गवर्नमेंट उनकी कुल जायदाद ज़ब्त करनेवाली है। अधिकारिमंडल के इस संशय को शांत करने के लिये उन्होंने प्रभु सेवक के कार्य-क्रम से अपना विरोध प्रकाशित करा दिया। यही अनबन का मुख्य कारण था। अभी दो महीने भी नहीं गुज़रे, लेकिन शीराज़ा बिखर गया। सैकड़ों सेवक निराश होकर अपने काम-धंधे में लग गए। मुश्किल से दो सौ आदमी और होंगे। चलो बेटी, तुम्हारा कमरा अब साफ़ हो गया होगा, तुम्हारे भोजन का प्रबंध करके तब इतमीनान से बातें करूँ। (महराजिन से) इन्हें पहचानती है न ? तब यह मेरी मेहमान थीं, अब मेरी बहू हैं। जा, इनके लिये दो-चार नई चीज़ें बना ला। आह ! आज विनय होता, तो मैं अपने हाथों से इसे उसके गले लगा देती, ब्याह रचाती। शास्त्रों में इसकी व्यवस्था है।"

सोफ़िया की प्रबल इच्छा हुई कि रहस्य खोल दूँ। बात ओठों तक आई, और रुक गई।

सहसा शोर मचा—"लाल साहब आ गए ! लाल साहब आ गए !

भैया विनयसिंह आ गए !" नौकर-चाकर चारो ओर से दौड़े, लौंडियाँ-महरियाँ काम छोड़-छोड़कर भागीं। एक क्षण में विनय ने कमरे में क़दम रक्खा। रानी ने उसे सिर से पाँव तक देखा, मानो निश्चय कर रही थीं कि मेरा ही विनय है या कोई और अथवा देखना चाहती थीं कि उस पर कोई आघात के चिह्न तो नहीं हैं, तब उठीं, और बोलीं—"बहुत दिनों में आए बेटा! आओ, छाती से लगा लूँ।" लेकिन विनय ने तुरंत उनके चरणों पर सिर रख दिया। रानीजी को अश्रु-प्रवाह में न कुछ सूझता था, और न प्रेमावेश में कोई बात मुँह से निकलती थी, झुकी हुई विनय का सिर पकड़कर उठाने की चेष्टा कर रही थीं। भक्ति और वात्सल्य का कितना स्वर्गीय संयोग था।

लेकिन विनय को रानी की बातें भूली न थीं। माता को देखकर उसके दिल में जोश उठा कि इनके चरणों पर आत्मसमर्पण कर दूँ। एक विवश-कारी उद्गार था प्राण दे देने के लिये, वहीं माता के चरणों पर जीवन का अंत कर देने के लिये, दिखा देने के लिये कि यद्यपि मैंने अपराध किए हैं, पर सर्वथा लज्जाहीन नहीं हूँ, जीना नहीं जानता, लेकिन मरना जानता हूँ। उसने इधर-उधर निगाह दौड़ाई। सामने ही दीवार पर तलवार लटक रही थी। वह कौंदकर तलवार उतार लाया, और उसे सर्र से खींचकर बोला—"अम्मा, इस योग्य तो नहीं हूँ कि आपका पुत्र कहलाऊँ, लेकिन आपकी अंतिम आज्ञा शिरोधार्य करके अपनी सारी अपकीर्ति का प्रायश्चित्त किए देता हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिए!"

सोफ़िया चिल्लाकर विनय से लिपट गई। जाह्नवी ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और बोलीं—"विनय, ईश्वर साक्षी है, मैं तुम्हें कब का क्षमा कर चुकी। तलवार छोड़ दो। सोफ़ी, तू इनके हाथ से तलवार छीन ले, मेरी मदद कर।"

विनयसिंह की मुखाकृति तेजोमय हो रही थी, आँखें बीरबहूटी बनी हुई थीं। उसे अनुभव हो रहा था कि गरदन पर तलवार मार लेना

कितना सरल है। सोफ़िया ने दोनो हाथों से उसकी कलाई पकड़ ली, और अश्रु-पूरित लोचनों से ताकती हुई बोली—"विनय, मुझ पर दया करो!"

उसकी दृष्टि इतनी करुण, इतनी दीन थी कि विनय का हृदय पसीज गया। मुट्ठी ढीली पड़ गई। सोफ़िया ने तलवार लेकर खूँटी पर लटका दी। इतने में कुँवर भरतसिंह आकर खड़े हो गए, और विनय को हृदय से लगाते हुए बोले—"तुम तो बिलकुल पहचाने नहीं जाते, मोछें कितनी बढ़ गई हैं! इतने दुबले क्यों हो? बीमार थे क्या?"

विनय—"जी नहीं, बीमार तो नहीं था। ऐसा दुबला भी नहीं हूँ। अब माताजी के हाथों के पकवान खाकर मोटा हो जाऊँगा।"

कुँवर—"तुम दूर क्यों खड़ी हो सोफ़िया? आओ, तुम्हें भी प्यार कर लूँ। रोज़ ही तुम्हारी याद आती थी। विनय बड़ा भाग्यशाली था कि तुम-जैसी रमणी पाई। संसार में तो मिलती नहीं, स्वर्ग की मैं नहीं कहता। अच्छा संयोग है कि तुम दोनो एक ही दिन आए। बेटी, मैं तुमसे विनय की सिफ़ारिश करता हूँ। तुमने इन्हें जो फटकार बताई थी, उसे सुनकर बेचारा नायकराम स्त्रियों से इतना डर गया है कि तय की-कराई सगाई से इनकार कर गया। उम्र-भर स्त्री के लिये तरसता रहा, पर अब नाम भी नहीं लेता। कहता है—यह बेवफ़ा ज़ात होती है। भैया विनयसिंह ने जिसके लिये बदनामी सही, जान पर खेले, वही उनसे आँखें फेर ले! कान पकड़े, अब तो मर जाऊँगा, पर ब्याह न करूँगा। अपना हाथ बढ़ाओ विनय! सोफ़ी, यह हाथ लो, तो मुझे इतमीनान हो जाय कि तुम्हारे दिल साफ़ हो गए। जाह्नवी, चलो, हम लोग बाहर चलें, इन्हें एक दूसरे को मनाने दो। इन्हें कितनी ही शिकायतें करनी होंगी, बातें करने के लिये विकल हो रहे होंगे। आज बड़ा शुभ दिन है।"

जब एकांत हुआ; तो सोफ़ी ने पूछा—"तुम इतनी जल्द कैसे आ गए?"

विनय ने सकुचाते हुए कहा—"सोफ़ी, मुझे यहाँ मुँह छिपाकर बैठते हुए शर्म आती थी। प्राण-भय से दबक जाना कायरों का काम है। माताजी की जो इच्छा हो, वही सही। नायकराम कहता रहा, पहले मिस साहब को आ जाने दो; लेकिन मुझसे न रहा गया।"

सोफ़िया—"ख़ैर, अच्छा ही हुआ, खूब आ गए। माताजी तुम्हारी चर्चा करके आठ-आठ आँसू रोती थीं। उनका दिल तुम्हारी तरफ़ से साफ़ हो गया है।"

विनय—"तुम्हें तो कुछ नहीं कहा?"

सोफ़िया—"मुझसे तो ऐसा टूटकर गले मिलीं कि मैं चकित हो गई। यह उन्हीं कठोर वचनों का प्रभाव है, जो मैंने तुम्हें कहे थे। माता आप चाहे पुत्र को कितनी ही ताड़ना दे, यह गवारा नहीं करती कि कोई दूसरा उसे कड़ी निगाह से भी देखे। मेरे अन्याय ने उनकी न्याय-भावना को जाग्रत् कर दिया।"

विनय—"हम लोग बड़े शुभ मुहूर्त में चले थे।"

सोफ़िया—"हाँ विनय, अभी तक कुशल से बीती। आगे की ईश्वर जाने।"

विनय—"हम अपना दुख का हिस्सा भोग चुके।"

सोफ़िया ने आशंकित स्वर से कहा—"ईश्वर करें, ऐसा ही हो।"

किंतु सोफ़िया के अंतस्थल में अनिष्ट-शंका का प्रतिबिंब दिखाई दे रहा था। वह उसे प्रकट न कर सकती थी, पर उसका चित्त उदास था। संभव है कि जन्मगत धार्मिक संस्कारों से विमुख हो जाने का खेद इसका कारण हो। अथवा वह इसे वह अतिवृष्टि समझ रही हो, जो अनावृष्टि की सूचना देती है। कह नहीं सकते, पर जब सोफ़ी रात को भोजन करके सोई, तो उसका चित्त किसी बोझ से दबा हुआ था।

मिल के तैयार होने में अब बहुत थोड़ी कसर रह गई थी। बाहर से तंबाकू की गाड़ियाँ लदी चली आती थीं। किसानों को तंबाकू बोने के लिये दादनी दी जा रही थी। गवर्नर से मिल को खोलने की रस्म अदा करने के लिये प्रार्थना की गई थी, और उन्होंने स्वीकार भी कर लिया था। तिथि निश्चित हो चुकी थी। इसलिये निर्माण-कार्य को उस तिथि तक समाप्त करने के लिये बड़े उत्साह से काम किया जा रहा था। उस दिन तक कोई काम बाक़ी न रहना चाहिए। मज़ा तो जब आए कि दावत में इसी मिल का बना हुआ सिगार भी रक्खा जाय। मिस्टर जॉन सेवक सुबह से शाम तक इन्हीं तैयारियों में दत्तचित्त रहते थे। यहाँ तक कि रात को भी दुगुनी मज़दूरी देकर काम कराया जा रहा था। मिल के आस-पास पक्के मकान बन चुके थे। सड़क के दोनो किनारों पर और निकट के खेतों में मज़दूरों ने झोपड़ियाँ डाल ली थीं। एक मील तक सड़क के दोनो ओर की झोपड़ियों की श्रेणियाँ नज़र आती थीं। यहाँ बड़ी चहल-पहल रहती थी। दूकानदारों ने भी अपने-अपने छप्पर डाल लिए थे। पाक,मिठाई, नाज, गुड़, घी, साग, भाजी और मादक वस्तुओं की दूकानें खुल गई थीं। मालूम होता था, कोई पैठ है। मिल के परदेसी मज़दूर, जिन्हें न बिरादरी का भय था, न संबंधियों का लिहाज़, दिन-भर तो मिल में काम करते, रात को ताड़ी- शराब पीते। जुआ नित्य होता था। ऐसे स्थानों पर कुलटाएँ भी आ पहुँचती हैं। यहाँ भी एक छोटा-मोटा चकला आबाद हो गया था। पाँड़ेपुर का पुराना बाज़ार सर्द होता जाता था। मिठुआ, घीसू, विद्याधर तीनो अक्सर इधर सैर करने आते, और जुआ खेलते। घीसू तो दूध बेचने के बहाने आता, विद्याधर नौकरी खोजने के बहाने, और

मिठुआ केवल उन दोनो का साथ देने आया करता था। दस-ग्यारह बजे रात तक वहाँ बड़ी बहार रहती थी। कोई चाट खा रहा है, कोई तँबोली की दूकान के सामने खड़ा है, कोई वेश्याओं से विनोद कर रहा है। अश्लील हास-परिहास, लज्जास्पद नेत्र-कटाक्ष और कुवासना-पूर्ण हाव-भाव का अविरल प्रवाह होता रहता था। पाँड़ेपुर में ये दिलचस्पियाँ कहाँ? लड़कों की हिम्मत न पड़ती थी कि ताड़ी की दूकान के सामने खड़े हों, कहीं घर का कोई आदमी देख न ले। युवकों की मजाल न थी कि किसी स्त्री को छेड़ें, कहीं मेरे घर जाकर कह न दे। सभी एक दूसरे से संबंध रखते थे। यहाँ वे रुकावटें कहाँ? प्रत्येक प्राणी स्वच्छंद था; उसे न किसी का भय था, न संकोच। कोई किसी पर हँसनेवाला न था। तीनो ही युवकों को मना किया जाता था, वहाँ न जाया करो, जाओ भी, तो अपना काम करके चले आया करो; किंतु जवानी दीवानी होती है, कौन किसी की सुनता था। सबसे बुरी दशा बजरंगी की थी। घीसू नित्य रुपए-आठ आने उड़ा लिया करता। पूछने पर बिगड़कर कहता, क्या मैं चोर हूँ?

एक दिन बजरंगी ने सूरदास से कहा—"सूरे, लड़के बरबाद हुए जाते हैं। जब देखो, चकले ही में डटे रहते हैं। घिसुआ में चोरी की बान कभी न थी। अब ऐसा हथलपका हो गया है कि सौ जतन से पैसे रख दो, खोजकर निकाल लेता है।"

जगधर सूरदास के पास बैठा हुआ था। ये बातें सुनकर बोला—"मेरी भी वही दसा है भाई। विद्याधर को कितना पढ़ाया-लिखाया, मिडिल तक खींच-खाँचकर ले गया, आप भूखा रहता था, घर के लोग कपड़ों को तरसते थे, पर उसके लिये किसी बात की कमी न थी। आसा थी, चार पैसे कमाएगा, मेरा बुढ़ापा कट जायगा, घर-बार सँभालेगा, बिरादरी में मरजाद बढ़ाएगा। सो अब रोज वहाँ जाकर जुआ खेलता है। मुझसे बहाना करता है कि वहाँ एक बाबू के पास काम सीखने जाता हूँ।

सुनता हूँ, किसी औरत से उसकी आसनाई हो गई है। अभी पुतली-घर के कई मजूर उसे खोजते हुए मेरे घर आए थे। उसे पा जायँ, तो मार-पीट करें। वे भी उसी औरत के आसना हैं। मैंने हाथ-पैर पड़कर उनको बिदा किया। यह कारखाना क्या खुला, हमारी तबाही आ गई! फ़ायदा ज़रूर है, चार पैसे की आमदनी है, पहले एक ही खोंचा न बिकता था, अब तीन-तीन बिक जाते हैं; लेकिन ऐसा सोना किस काम का, जिससे कान फटें!"

बजरंगी—"अजी, जुआ ही खेलता, तब तक गनीमत थी, हमारा घीसू तो आवारा हो गया है। देखते नहीं हो, सूरत कैसी बिगड़ गई है! कैसी देह निकल आई थी! मुझे पूरी आसा थी कि अब की दंगल मारेगा, अखाड़े का कोई पट्ठा उसके जोड़ का नहीं है, मगर जब से चकले की चाट पड़ गई है, दिन-दिन घुलता जाता है। दादा को तुमने देखा था न? दस-पाँच कोस के गिर्द में कोई उनसे हाथ न मिला सकता था, चुटकी से सुपारी तोड़ देते थे। मैंने भी जवानी में कितने ही दंगल मारे। तुमने तो देखा ही था उस पंजाबी को कैसा मारा कि पाँच सौ रुपए इनाम पाए, और अखबारों में दूर-दूर तक नाम हो गया। कभी किसी माई के लाल ने मेरी पीठ में धूल नहीं लगाई, तो बात क्या थी? लँगोट के सच्चे थे। मोछें निकल आई थीं, तब तक किसी औरत का मुँह नहीं देखा था। ब्याह भी हो गया, तब भी मेहनत-कसरत की धुन में औरत का ध्यान ही न करते थे। उसी के बल पर अब भी दावा है कि दस-पाँच का सामना हो जाय, तो छक्के छुड़ा दूँ, पर इस लौंडे ने डोंगा डुबा दिया। घूरे उस्ताद कहते थे कि इसमें दम ही नहीं है, जहाँ दो पकड़ हुए, बस भैंसे की तरह हाँफने लगता है।"

सूरदास—"मैं अंधा आदमी लौंडों के ये कौतुक क्या जानूँ, पर सुभागी कहती है कि मिठुआ के ढंग भी अच्छे नहीं हैं। जब से टेसन पर कुली हो गया है, रुपए-आठ आने रोज कमाता है, मुदा कसम

ले लो, घर पर एक पैसा भी देता हो। भोजन मेरे सिर करता है ; जो कुछ पाता है, नशे-पानी में उड़ा देता है।"

जगधर—"तुम भी तो झूठमूठ लाज ढो रहे हो। निकाल क्यों नहीं देते घर से? अपने सिर पड़ेगी, तो आटे-दाल का भाव मालूम होगा। अपना लड़का हो, तो एक बात है, भाई-भतीजे किसके होते हैं!"

सूरदास—"पाला तो लड़के ही की तरह है, दिल नहीं मानता।"

जगधर—"अपना बनाने से थोड़े ही अपना हो जायगा।"

ठाकुरदीन भी आ गया था। जगधर की बात सुनकर बोला—"भगवान ने क्या तुम्हारे करम में काँटे ही बोना लिखा है, किसी का भी भला नहीं देख सकते।"

सूरदास—"उसके मन में जो आए, करे, पर मेरे हाथों तो यह नहीं हो सकता कि मैं आप खाकर सोऊँ और उसकी बात न पूछूँ।"

ठाकुरदीन—"कोई बात कहने के पहले सोच लेना चाहिए कि सुननेवाले को अच्छी लगेगी या बुरी। जिस लड़के को बालपन से पाला, और इस तरह पाला कि कोई अपने बेटे को भी न पालता होगा, उसे अब छोड़ दे।"

जमुनी—"अब के कलजुगी लड़के जो कुछ न करें, थोड़ा है। अभी दूध के दाँत नहीं टूटे, सुभागी ने घीसू को गोद खेलाया है, सो आज वह उसी से दिल्लगी करता है। छोटे-बड़े का लिहाज उठ गया। वह तो कहो सुभागी की काठी अच्छी है, नहीं बाल-बच्चे हुए होते, तो घीसू से जेठे होते।"

यहाँ तो ये बातें हो रही थीं, उधर तीनो लौंडे नायकराम के दालान में बैठे हुए मंसूबे बाँध रहे थे। घीसू ने कहा—"सुभागी मारे डालती है। देखकर यही जी चाहता है कि गले लगा लें। सिर पर साग की टोकरी रखकर बल खाती हुई चलती है। सो जान ले लेती है। बड़ी काफर है!"

विद्याधर—"तुम तो हो घामड़, पढ़े-लिखे तो हो नहीं, बात क्या समझो। मासूक कभी अपने मुँह से थोड़े ही कहता है कि मैं राजी हूँ। उसकी आँखों से ताड़ जाना चाहिए। जितनी ही बिगड़े, उतनी ही दिल से राजी समझो। कुछ पढ़े होते, तो जानते, औरतें कैसे नखरे करती हैं।"

मिठुवा—"पहले सुभागी मुझसे भी इसी तरह बिगड़ती थी, किसी तरह हत्थे ही न चढ़े, बात तक न सुने; पर मैंने हिम्मत करके एक दिन कलाई पकड़ ली, और बोला—'अब न छोड़ूँगा, चाहे मार ही डाल। मरना तो एक दिन है ही, तेरे ही हाथों मरूँगा। यों भी तो मर रहा हूँ, तेरे हाथों मरूँगा, तो सीधे सरग जाऊँगा।' पहले तो बिगड़कर गालियाँ देने लगी, फिर कहने लगी—छोड़ दो, कहीं कोई देख ले, तो गजब हो जाय। मैं तेरी बुवा लगती हूँ। पर मैंने एक न सुनी। बस फिर क्या था। उसी दिन से आ गई चंगुल में।"

मिठुआ अपनी प्रेम-विजय की कल्पित कथाएँ गढ़ने में निपुण था। निरक्षर होने पर भी गप्पें मारने में उसने विद्याधर को मात कर दिया था। अपनी कल्पनाओं में कुछ ऐसा रंग भरता था कि मित्रों को उन गपोड़ों पर विश्वास आ जाता था। घीसू बोला—"क्या करूँ, मेरी तो हिम्मत ही नहीं पड़ती। डरता हूँ, कहीं शोर मचा दे, तो आफत आ जाय। तुम्हारी हिम्मत कैसे पड़ गई थी?"

विद्याधर—"तुम्हारा सिर, जाहिल-जपट तो हो। मासूक अपने आसिक को आजमाता है कि इसमें कुछ जीवट भी है कि यों ही छैला बना फिरता है, औरत उसी को प्यार करती है, जो दिलावर हो, निडर हो, आग में कूद पड़े।"

घीसू—"तुम तैयार हो?"

विद्याधर—"हाँ, आज ही।"

मिठुआ—"मगर देख लेना, दादा द्वार पर नीम के नीचे सोते हैं।"

घीसू—"इसका क्या डर। एक धक्का दूँगा, दूर जाके गिरेगा।"

तीनो मिस्कौट करते, इस षड्यंत्र के दाँव-पेंच सोचते हुए, कुली बाज़ार की तरफ़ चले गए। वहाँ तीनों ने शराब पी, दस-ग्यारह बजे रात तक बैठे गाना-बजाना सुनते रहे। मदिरालयों में स्वर-हीन कानों के लिये संगीत की कभी कमी नहीं रहती। तीनो नशे में चूर होकर लौटे, तो घीसू बोला—"सलाह पक्की है न? आज वारा-न्यारा हो जाय, चित पड़े, या पट।"

आधी रात बीत चुकी थी। चौकीदार पहरा देकर जा चुका था। घीसू और विद्याधर सूरदास के द्वार पर आए।

घीसू—"तुम आगे चलो, मैं यहीं खड़ा हूँ।"

विद्याधर—"नहीं, तुम जाओ। तुम गँवार आदमी हो। कोई देख लेगा, तो बात भी न बना सकोगे।"

नशे ने घीसू को आपे से बाहर कर रक्खा था। कुछ यह दिखाना भी मंज़ूर था कि तुम लोग मुझे जितना बोदा समझते हो, उतना बोदा नहीं हूँ। झोपड़ी में घुस ही तो पड़ा, और जाकर सुभागी की बाँह पकड़ ली। सुभागी चौंककर उठ बैठी, और ज़ोर से बोली—"कौन है? हट।"

घीसू—"चुप-चुप, मैं हूँ।"

सुभागी—"चोर-चोर! चोर-चोर!"

सूरदास जागा। उठकर मड़ैया में जाना चाहता था कि किसी ने उसे पकड़ लिया। उसने डाँटकर पूछा, कौन है? जब कुछ उत्तर न मिला, तब उसने भी उस आदमी का हाथ पकड़ लिया, और चिल्लाया—चोर! चोर! मुहल्ले के लोग ये आवाज़ें सुनते ही लाठियाँ लेकर निकल पड़े। बजरंगी ने पूछा, कहाँ गया कहाँ? सुभागी बोली, मैं पकड़े हुए हूँ। सूरदास ने कहा, एक को मैं पकड़े हुए हूँ। लोगों ने आकर देखा, तो भीतर सुभागी घीसू को पकड़े हुए है, बाहर सूरदास विद्याधर को। मिठुआ

नायकराम के द्वार पर खड़ा था। यह हुल्लड़ सुनते ही भाग खड़ा हुआ। एक क्षण में सारा मुहल्ला टूट पड़ा। चोर को पकड़ने के लिये विरले ही निकलते हैं, पकड़े गए चोर पर पँचलत्तियाँ जमाने के लिये सभी पहुँच जाते हैं। लेकिन यहाँ आकर देखते हैं, तो न चोर, न चोर का भाई, बल्कि अपने ही मुहल्ले के लौंडे हैं।

एक स्त्री बोली—"यह जमाने की खूबी है कि गाँव-घर का विचार भी उठ गया, किसकी आबरू बचेगी!"

ठाकुरदीन—"ऐसे लौंडों का सिर काट लेना चाहिए।"

नायकराम—"चुप रहो ठाकुरदीन, यह गुस्सा करने की बात नहीं, रोने की बात है।"

जगधर, बजरंगी, जमुनी सिर झुकाए चुप खड़े थे, मुँह से बात न निकलती थी। बजरंगी को तो ऐसा क्रोध आ रहा था कि घीसू का गला दबा दे। यह जमाव और हलचल देखकर कई कांस्टेबिल भी आ पहुँचे। अच्छा शिकार फँसा, मुट्ठियाँ गरम होंगी। तुरंत दोनो युवकों की कलाइयाँ पकड़ लीं। जमुनी ने रोकर कहा—"ये लौंडे मुँह में कालिख लगानेवाले हैं। अच्छा होगा, छ-छ महीने की सजा काट आएँगे, तब इनकी आँखें खुलेंगी। समझाते-समझाते हार गई कि बेटा कुराह मत चलो, लेकिन कौन सुनता है। अब जाके चक्की पीसो। इससे तो अच्छा था कि बाँझ ही रहती।"

नायकराम—"अच्छा, अब अपने-अपने घर जाते जाव। जमादार, लौंडे हैं, छोड़ दो, आओ चलें।"

जमादर—"ऐसा न कहो पंडाजी, कोतवाल साहब को मालूम हो जायगा, तो समझेंगे, इन सबों ने कुछ ले-देकर छोड़ दिया होगा।"

नायकराम—"क्या कहते हो सूरे, अब ये लोग जायँ न?"

ठाकुरदीन—"हाँ और क्या। लड़कों से भूल-चूक हो ही जाती है। काम तो बुरा किया, पर अब जाने दो, जो हुआ सो हुआ।"

सूरदास—"मैं कौन होता हूँ कि जाने दूँ। जाने दें कोतवाल, डिप्टी, हाकिम लोग।"

बजरंगी—"सूरे, भगवान् जानता है, जान का डर न होता, तो इस दुष्ट को कच्चा ही चबा जाता।"

सूरदास—"अब तो हाकिम लोगों के हाथ में है, छोड़ें चाहे सजा दें।"

बजरंगी—"तुम कुछ न करोगे, तो कुछ न होगा। जमादारों को हम मना लेंगे।"

सूरदास—"तो भैया, साफ़-साफ़ बात यह है कि मैं बिना सरकार में रपट किए न मानूँगा, चाहे सारा मुहल्ला मेरा दुसमन हो जाय।"

बजरंगी—"क्या यही होगा सूरदास? गाँव-घर, टोले-मुहल्ले का कुछ लिहाज न करोगे? लड़कों से भूल तो हो ही गई, अब उनकी जिंदगानी ख़राब करने से क्या मिलेगा?"

जगधर—"सुभागी ही कहाँ की देवी है। जब से भैरों ने छोड़ दिया, सारा मुहल्ला उसका रंग-ढंग देख रहा है। बिना पहले की साँठ-गाँठ के कोई किसी के घर में नहीं घुसता।"

सूरदास—"तो यह सब मुझसे क्या कहते हो भाई, सुभागी देवी हो, चाहे हरजाई हो, वह जाने, उसका काम जाने। मैंने अपने घर में चोरों को पकड़ा है, इसकी थाने में जरूर इत्तला करूँगा, थानेवाले न सुनेंगे, तो हाकिम से कहूँगा। लड़के लड़कों की राह रहें, तो लड़के हैं; सोहदों की राह चलें, तो सोहदे हैं। बदमासों के और क्या सींग-पूछ होती है?"

बजरंगी—"सूरे, कहे देता हूँ, खून हो जायगा।"

सूरदास—"तो क्या हो जायगा। कौन कोई मेरे नाम को रोनेवाला बैठा हुआ है।"

नायकराम ने वहाँ ठहरना व्यर्थ समझा। क्यों नींद ख़राब करें? चलने लगे, तो जगधर ने कहा—"पंडाजी, तुम भी जाते हो, यहाँ क्या होगा?"

नायकराम ने जवाब दिया—"भाई, सूरदास मानेगा नहीं, चाहे लाख कहो। मैं भी तो कह चुका, कहो और हाथ-पैर पड़ूँ, पर होना-हवाना कुछ नहीं। घीसू और विद्या की तो बात ही क्या, मिठुआ भी होता, तो सूरे उसे भी न छोड़ता। जिद्दी आदमी है।"

जगधर—"ऐसा कहाँ का धन्ना सेठ है कि अपने मन ही की करेगा। तुम चलो, जरा डाटकर कहो तो।"

नायकराम लौटकर सूरदास से बोले—"सूरे, कभी-कभी गाँव-घर के साथ मुलाहजा भी करना पड़ता है। लड़कों की जिंदगानी खराब करके क्या पाओगे?"

सूरदास—"पंडाजी, तुम भी औरों की-सी कहने लगे। दुनिया में कहीं नियाव है कि नहीं! क्या औरत की आबरू कुछ होती ही नहीं? सुभागी गरीब है, अबला है, मजूरी करके अपना पेट पालती है, इसलिये जो कोई चाहे, उसकी आबरू बिगाड़ दे? जो चाहे, उसे हरजाई समझ ले?"

सारा मुहल्ला एक हो गया, यहाँ तक कि दोनो चौकीदार भी मुहल्ले-वालों की-सी कहने लगे। एक बोला—"औरत खुद हरजाई है।"

दूसरा—"मुहल्ले के आदमी चाहें, तो खून पचा लें, यह कौन-सा बड़ा जुर्म है।"

पहला—"सहादत ही न मिलेगी, तो जुर्म क्या साबित होगा।"

सूरदास—"सहादत तो जब न मिलेगी, जब मैं मर जाऊँगा। वह हरजाई है?"

चौकीदार—"हरजाई तो है ही। एक बार नहीं, सौ बार उसे बजार में तरकारी बेचते और हँसते देखा है।"

सूरदास—"तो बजार में तरकारी बेचना और हँसना हरजाइयों का काम है?"

चौकीदार—"अरे, तो जाओगे तो थाने ही तक न! वहाँ भी तो हमीं से रपट करोगे।"

नायकराम—"अच्छी बात है, इसे रपट करने दो। मैं देख लूँगा। दरोगाजी कोई बिराने आदमी नहीं हैं।"

सूरदास—"हाँ, दरोगाजी के मन में जो आए करें, दोस-पाप उनके साथ है।"

नायकराम—"कहता हूँ, मुहल्ले में न रहने पाओगे।"

सूरदास—"जब तक जीता हूँ, तब तक तो रहूँगा, मरने के बाद देखी जायगी।"

कोई सूरदास को धमकाता था, कोई समझाता था। वहाँ वही लोग रह गए थे, जो इस मुआमले को दबा देना चाहते थे। जो लोग इसे आगे बढ़ाने के पक्ष में थे, वे बजरंगी और नायकराम के भय से कुछ कह न सकने के कारण अपने-अपने घर चले गए थे। इन दोनो आदमियों से वैर मोल लेने की किसी में हिम्मत न थी। पर सूरदास अपनी बात पर ऐसा अड़ा कि किसी भाँति मानता ही न था, अंत को यही निश्चय हुआ कि इसे थाने जाकर रपट कर आने दो। हम लोग थानेदार ही को राज़ी कर लेंगे। दस-बीस रुपए से गम खाएँगे।

नायकराम—"अरे, वही लाला थानेदार हैं न? उन्हें मैं चुटकी बजाते-बजाते गाँठ लूँगा। मेरी पुरानी जान-पहचान है।"

जगधर—"पंडाजी, मेरे पास तो रुपए भी नहीं हैं, मेरी जान कैसे बचेगी?"

नायकराम—"मैं भी तो परदेस से लौटा हूँ। हाथ खाली है। जाके कहीं रुपए की फिकिर करो।"

जगधर—"मैं सूरे को अपना हितू समझता था। जब कभी काम पड़ा है, उसकी मदद की है। इसी के पीछे भैरों से मेरी दुसमनी हुई। और, अब भी यह मेरा न हुआ!"

नायकराम—"यह किसी का नहीं है, और सबका है। जाकर देखो, जहाँ से हो सके, २५) तो ले ही आओ।"

जगधर—"भैया, रुपए किससे माँगने जाऊँ ? कौन पतियाएगा ?"

नायकराम—"अरे, विद्या की अम्मा से कोई गहना ही माँग लो। इस बखत तो प्रान बचें, फिर छुड़ा देना।"

जगधर बहाने करने लगा—"वह छल्ला तक न देगी ; मैं मर भी जाऊँ, तो कफन के लिये रुपए न निकालेगी।" यह कहते-कहते वह रोने लगा। नायकराम को उस पर दया आ गई। रुपए देने का वचन दे दिया।

सूरदास प्रातःकाल थाने की ओर चला, तो बजरंगी ने कहा—"सूरे, तुम्हारे सिर पर मौत खेल रही है, जाओ।"

जमुनी सूरे के पैरों से लिपट गई, और रोती हुई बोली—"सूरे, तुम हमारे वैरी हो जाओगे, यह कभी आसा न थी।"

बजरंगी ने कहा—"नीच है और क्या। हम इसको पालते ही चले आते हैं। भूखों कभी नहीं सोने दिया। बीमारी-आरामी में कभी साथ नहीं छोड़ा। जब कभी दूध माँगने आया, खाली हाथ नहीं जाने दिया। इस नेकी का यह बदला! सच कहा है, अंधों में मुरौवत नहीं होती। एक पापिन के पीछे!"

नायकराम पहले ही लपककर थाने जा पहुँचे, और थानेदार से सारा वृत्तांत सुनाकर कहा—"पचास का डौल है, कम न ज्यादा। रपट ही न लिखिए।"

दारोग़ा ने कहा—"पंडाजी, जब तुम बीच में पड़े हुए हो, तो सौ-पचास की कोई बात नहीं; लेकिन अंधे को मालूम हो जायगा कि रपट नहीं लिखी गई, तो सीधा डिप्टी साहब के पास जा पहुँचेगा। फिर मेरी जान आफ़त में पड़ जायगी। निहायत रूखा अफ़सर है, पुलिस का तो जानी दुश्मन ही समझो। अंधा यों माननेवाला असामी नहीं है। जब इसने चतारी के राजा साहब को नाकों चने चबवा दिए, तो दूसरों की कौन गिनती है, बस यही हो सकता है कि जब मैं तफ़तीश करने आऊँ, तो आप लोग किसी को शहादत न देने दें। अदम सबूत में मुआमला

ख़ारिज हो जायगा ! मैं इतना ही कर सकता हूँ कि शहादत के लिये किसी को दबाऊँगा नहीं, गवाहों के बयान में भी कुछ काट-छाँट कर दूँगा।"

दूसरे दिन संध्या-समय दारोग़ाजी तहक़ीक़ात करने आए। मुहल्ले के सब आदमी जमा हुए ; मगर जिससे पूछो, यही कहता है—'मुझे कुछ मालूम नहीं, मैं कुछ नहीं जानता, मैंने रात को किसी की 'चोर-चोर' आवाज़ नहीं सुनी, मैंने किसी को सूरदास के द्वार पर नहीं देखा, मैं तो घर में द्वार बंद किए पड़ा सोता था। यहाँ तक कि ठाकुरदीन ने भी साफ़ कहा—"साहब, मैं कुछ नहीं जानता।" दारोग़ा ने सूरदास पर बिगड़कर कहा —"झूठी रपट करता है बदमाश !"

सूरदास—"रपट झूठी नहीं है, सच्ची है।"

दारोग़ा—"तेरे कहने से सच्ची मान लूँ ! कोई गवाह भी है ?"

सूरदास ने मुहल्लेवालों को संबोधित करके कहा—"यारो, सच्ची बात कहने से मत डरो। मेल-मुरौवत इसे नहीं कहते कि किसी औरत की आबरू बिगाड़ दी जाय, और लोग उस पर परदा डाल दें। किसी के घर में चोरी हो जाय, और लोग छिपा लें। अगर यही हाल रहा, तो समझ लो कि किसी की आबरू न बचेगी। भगवान ने सभी को बहू-बेटियाँ दी हैं, कुछ उनका ख़ियाल करो। औरत की आबरू कोई हँसी-खेल नहीं है। इसके पीछे सिर कट जाते हैं, लहू की नदी बह जाती है। मैं और किसी से नहीं पूछता, ठाकुरदीन, तुम्हें भगवान का भय है, पहले तुम्हीं आए थे, तुमने यहाँ क्या देखा ? क्या मैं और सुभागी, दोनो घीसू और विद्याधर का हाथ नहीं पकड़े हुए थे ? देखो, मुँहदेखी नहीं, साथ कोई न जायगा, जो कुछ देखा हो, सच कह दो।"

ठाकुरदीन धर्म-भीरु प्राणी था। ये बातें सुनकर भयभीत हो गया। बोला—"चोरी-डाके की बात तो मैं कुछ नहीं जानता, यही पहले भी कह चुका, बात बदलनी नहीं आती। हाँ, जब मैं आया तो तुम और सुभागी दोनो लड़कों को पकड़े चिल्ला रहे थे।"

सूरदास—"मैं उन दोनो को उनके घर से तो नहीं पकड़ लाया था ?"

ठाकुरदीन—"यह दैव जाने। हाँ, चोर-चोर की आवाज मेरे कान में आई थी।"

सूरदास—"अच्छा, अब मैं तुमसे पूछता हूँ जमादार, तुम आए थे न ? बोलो, यहाँ जमाव था कि नहीं ?"

चौकीदार ने ठाकुरदीन को फूटते देखा, तो डरा कि कहीं अंधा दो-चार आदमियों को और फोड़ लेगा, तो हम झूठे पड़ेंगे। बोला—"हाँ, जमाव क्यों नहीं था।"

सूरदास—"घीसू को सुभागी पकड़े हुए थी कि नहीं ? विद्याधर को मैं पकड़े हुए था कि नहीं ?"

चौकीदार—"चोरी होते हमने नहीं देखी।"

सूरदास—"हम इन दोनो लड़कों को पकड़े हुए थे कि नहीं ?"

चौकीदार—"हाँ, पकड़े तो थे, पर चोरी होते नहीं देखी।"

सूरदास—"दारोगाजी, अभी सहादत मिली कि और दूँ ? यहाँ नंगे-लुच्चे नहीं बसते, भलेमानसों ही की बस्ती है। कहिए, बजरंगी से कहला दूँ ; कहिए, खुद घीसू से कहला दूँ। कोई झूठी बात न कहेगा। मुरौवत मुरौवत की जगह है, मुहब्बत मुहब्बत की जगह है। मुरौवत और मुहब्बत के पीछे कोई अपना परलोक न बिगाड़ेगा।"

बजरंगी ने देखा, अब लड़के की जान नहीं बचती, तो अपना ईमान क्यों बिगाड़ें, दारोगा के सामने आकर खड़ा हो गया, और बोला—"दारोगाजी, सूरे जो बात कहते हैं, वह ठीक है। जिसने जैसी करनी की है, वैसी भोगे। हम क्यों अपनी आकबत बिगाड़ें। लड़का ऐसा नालायक न होता, तो आज मुँह में कालिख क्यों लगती। जब उसका चलन ही बिगड़ गया, तो मैं कहाँ तक बचाऊँगा। सजा भोगेगा, तो आप आँखें खुलेंगी।"

हवा बदल गई। एक क्षण में सात्त्वियों का ताँता बँध गया। दोनो अभियुक्त हिरासत में ले लिए गए। मुक़दमा चला, तीन-तीन महीने की सज़ा हो गई। बजरंगी और जगधर, दोनो सूरदास के भक्त थे। नायकराम का यह काम था कि सब किसी से सूरदास के गुन गाया करे। अब ये तीनो उसके दुश्मन हो गए। दो बार पहले भी वह अपने मुहल्ले का द्रोही बन चुका था, पर उन दोनो अवसरों पर किसी को उसकी जात से इतना आघात न पहुँचा था, अब की तो उसने घोर अपराध किया था। जमुनी जब सूरदास को देखती, तो सौ काम छोड़कर उसे कोसती। सुभागी को घर से निकलना मुश्किल हो गया। यहाँ तक कि मिठुआ ने भी साथ छोड़ दिया। अब वह रात को भी स्टेशन पर ही रह जाता। अपने साथियों की दशा ने उसकी आँखें खोल दीं। नायकराम तो इतने बिगड़े कि सूरदास के द्वार का रास्ता ही छोड़ दिया, चक्कर खाकर आते-जाते। बस उसके संगियों में ले-देके एक भैरों रह गया। हाँ, कभी-कभी दूसरों की निगाह बचाकर ठाकुरदीन कुशल-समाचार पूछ जाता। और तो और, दयागिर भी उससे कन्नी काटने लगे कि कहीं लोग उसका मित्र समझकर मेरी दक्षिणा-भिक्षा न बंद कर दें। सत्य के मित्र कम होते हैं, शत्रुओं से कहीं कम!

[४१]

प्रभु सेवक ने तीन वर्ष अमेरिका में रहकर और हज़ारों रुपए खर्च करके जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त किया था, वह मि० जॉन सेवक ने उनकी संगति से उतने ही महीनों में प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं, प्रभु सेवक की भाँति वह केवल बतलाए हुए मार्ग पर आँखें बंद करके चलने पर ही संतुष्ट न थे, उनकी निगाह आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ भी रहती थी। विशेषज्ञों में एक संकीर्णता होती है, जो उनकी दृष्टि को सीमित रखती है। वह किसी विषय पर स्वाधीन होकर विस्तीर्ण दृष्टि नहीं डाल सकते, नियम, सिद्धांत और परंपरागत व्यवहार उनकी दृष्टि को फैलने नहीं देते। वैद्य प्रत्येक रोग की ओषधि ग्रंथों में खोजता है; वह केवल निदान का दास है, लक्षणों का गुलाम, वह यह नहीं जानता कि कितने ही रोगों की ओषधि लुक़मान के पास भी न थी। सहज बुद्धि अगर सूक्ष्मदर्शी नहीं होती, तो संकुचित भी नहीं होती। वह हरएक विषय पर व्यापक रीति से विचार कर सकती, ज़रा-ज़रा-सी बातों में उलझकर नहीं रह जाती। यही कारण है कि मंत्री-भवन में बैठा हुआ सेना-मंत्री सेनापति पर शासन करता है। प्रभु सेवक के पृथक् हो जाने से मि० जॉन सेवक लेश-मात्र भी चिंतित नहीं हुए। वह दूने उत्साह से काम करने लगे। व्यवहार-कुशल मनुष्य थे। जितनी आसानी से कार्यालय में बैठकर बहीखाते लिख सकते थे, उतनी ही आसानी से अवसर पड़ने पर एंजिन के पहियों को भी चला सकते थे। पहले कभी-कभी सरसरी निगाह से मिल को देख लिया करते थे, अब नियमानुसार और यथा समय जाते। बहुधा दिन को भोजन नहीं करते, और शाम को घर आते। कभी-कभी रात के नौ-दस बजे जाते। वह प्रभु सेवक को दिखा देना चाहते थे कि मैंने तुम्हारे ही बल-

बूते पर यह काम नहीं उठाया है; कौवे के न बोलने पर भी दिन निकल ही आता है। उनके धन-प्रेम का आधार संतान-प्रेम न था। वह उनके जीवन का मुख्य अंग, उनकी जीवन-धारा का मुख्य स्रोत था। संसार के और सभी धंधे इसके अंतर्गत थे।

मज़दूरों और कारीगरों के लिये मकान बनवाने की समस्या अभी तक हल न हुई थी। यद्यपि ज़िले के मैजिस्ट्रेट से उन्होंने मेल-जोल पैदा कर लिया था, पर चतारी के राजा साहब की ओर से उन्हें बड़ी शंका थी! राजा साहब एक बार लोकमत की उपेक्षा करके इतने बदनाम हो चुके थे कि उससे कहीं महत्त्व-पूर्ण विजय की आशा भी अब उन्हें वे चोटें खाने के लिये उत्तेजित न कर सकती थी। मिल बड़ी धूम से चल रही थी, लेकिन उसकी उन्नति के मार्ग में मज़दूरों के मकानों का न होना सबसे बड़ी बाधा थी। जॉन सेवक इसी उधेड़-बुन में पड़े रहते थे।

संयोग से परिस्थितियों में कुछ ऐसा उलट-फेर हुआ कि यह विकट समस्या बिना विशेष उद्योग के हल हो गई। प्रभु सेवक के असहयोग ने वह काम कर दिखाया, जो कदाचित् उनके सहयोग से भी न हो सकता!

जब से सोफ़िया और विनयसिंह आ गए थे, सेवक-दल बड़ी उन्नति कर रहा था। उसकी राजनीति की गति दिन-दिन तीव्र और उग्र होती जाती थी। कुँवर साहब ने जितनी आसानी से पहली बार अधिकारियों की शंकाओं को शांत कर दिया था, उतनी आसानी से अब की न कर सके। समस्या कहीं विषम हो गई थी। प्रभु सेवक को इस्तीफ़ा देने के लिये मजबूर करना मुश्किल न था, विनय को घर से निकाल देना, उसे अधिकारियों की दया पर छोड़ देना, कहीं मुश्किल था। इसमें संदेह नहीं कि कुँवर साहब निर्भीक पुरुष थे, जाति-प्रेम में पगे हुए, स्वच्छंद, निःस्पृह और विचारशील। उनका जीवन इतना सरल और सात्त्विक था, कि उन्हें लोग त्यागमूर्ति कहा करते थे। उनको भोग-विला . के लिए

किसी बड़ी जायदाद की बिलकुल ज़रूरत न थी। किंतु प्रत्यक्ष रूप से अधिकारियों के कोपभाजन बनने के लिये वह तैयार न थे। वह अपना सर्वस्व जाति-हित के लिये दे सकते थे, किंतु इस तरह कि हित का साधन उनके हाथ में रहे। उनमें वह आत्मसमर्पण की क्षमता न थी, जो निष्काम और निःस्वार्थ भाव से अपने को मिटा देती है। उन्हें विश्वास था कि हम आड़ में रहकर उससे कहीं अधिक उपयोगी बन सकते हैं, जितने सामने आकर। विनय का दूसरा ही मत था। वह कहता था, हम जायदाद के लिये अपनी आत्मिक स्वतंत्रता की हत्या क्यों करें। हम जायदाद के स्वामी बनकर रहेंगे, उसके दास बनकर नहीं। अगर संपत्ति से निवृत्ति न प्राप्त कर सके, तो इस तपस्या का प्रयोजन ही क्या? यह तो गुनाह बेलज़्ज़त है। निवृत्ति ही के लिये तो यह साधना की जा रही है। कुँवर साहब इसका यह जवाब देते कि हम इस जायदाद के स्वामी नहीं, केवल रक्षक हैं। यह आनेवाली संतानों की धरोहर-मात्र है। हमको क्या अधिकार है कि भावी संतान से वह सुख और समृद्धि छीन लें, जिसके वे वारिस होंगे। बहुत संभव है, वे इतने आदर्शवादी न हों, या उन्हें परिस्थिति के बदल जाने से आत्म-त्याग की ज़रूरत ही न रहे। यह भी संभव है कि उनमें वे स्वाभाविक गुण न हों, जिनके सामने संपत्ति की कोई हस्ती नहीं। ऐसी ही युक्तियों से वह विनय का समाधान करने की विफल चेष्टा किया करते थे। वास्तव में बात यह थी कि जीवन-पर्यंत ऐश्वर्य का सुख और सम्मान भोगने के पश्चात् वह निवृत्ति का यथार्थ आशय ही न ग्रहण कर सकते थे। वह संतान के लिये संपत्ति न चाहते थे, संपत्ति के लिये संतान चाहते थे। जायदाद के सामने संतान का स्थान गौण था। उन्हें अधिकारियों की खुशामद से घृणा थी, हुक्काम की हाँ में हाँ मिलाना हेय समझते थे; किंतु हुक्काम की नज़रों में गड़ना, उनके हृदय में खटकना, इस हद तक कि वे शत्रुता पर तत्पर हो जायँ, उन्हें बेवक़ूफ़ी मालूम

होती थी। कुँवर साहब के हाथों में विनय को सीधी राह पर लाने का एक ही उपाय था, और वह यह कि सोफ़िया से उसका विवाह हो जाय। इस बेड़ी में जकड़कर उसकी उद्दंडता को वह शांत करना चाहते थे; लेकिन अब जो कुछ विलंब था, वह सोफ़िया की ओर से। सोफ़िया को अब भी भय था कि यद्यपि रानी मुझ पर बड़ी कृपा-दृष्टि रखती हैं, पर दिल से उन्हें यह संबंध पसंद नहीं। उसका यह भय सर्वथा अकारण भी न था। रानी भी सोफ़िया से प्रेम कर सकती थीं, और करती थीं, उसका आदर कर सकती थीं, और करती थीं; पर अपनी वधू में वह त्याग और विचार की अपेक्षा लज्जाशीलता, सरलता, संकोच और कुल-प्रतिष्ठा को अधिक मूल्यवान् समझती थीं, संन्यासिनी वधू नहीं, भोग करनेवाली वधू चाहती थीं। किंतु वह अपने हृदयगत भावों को भूलकर भी मुँह से न निकालती थीं। नहीं, वह इस विचार को मन में आने ही न देना चाहती थीं, इसे कृतघ्नता समझती थीं।

कुँवर साहब कई दिन तक इसी संकट में पड़े रहे। मि० जॉन सेवक से बातचीत किए बिना विवाह कैसे ठीक होता? आखिर एक दिन इच्छा न होने पर भी विवश होकर उनके पास गए। संध्या हो गई थी। मि० सेवक अभी-अभी मिल से लौटे थे, और मज़दूरों के मकानों की स्कीम सामने रक्खे हुए कुछ सोच रहे थे। कुँवर साहब को देखते ही उठे, और बड़े तपाक से हाथ मिलाया।

कुँवर साहब कुर्सी पर बैठते हुए बोले—"आप विनय और सोफ़िया के विवाह के विषय में क्या निश्चय करते हैं? आप मेरे मित्र और सोफ़िया के पिता हैं, और दोनो ही नातों से मुझे आपसे यह कहने का अधिकार है कि अब इस काम में देर न कीजिए।"

जॉन सेवक—"मित्रता के नाते आप मुझसे चाहे जो सेवा ले सकते हैं, लेकिन (गंभीर भाव से) सोफ़िया के पिता के नाते मुझे कोई निश्चय करने का अधिकार नहीं। उसने मुझे इस अधिकार से वंचित

कर दिया। नहीं तो उसे इतने दिन यहाँ आए हो गए, क्या एक बार भी यहाँ तक न आती? उसने हमसे यह अधिकार छीन लिया।"

इतने में मिसेज़ सेवक भी आ गईं। पति की बातें सुनकर बोलीं—"मैं तो मर जाऊँगी, लेकिन उसकी सूरत न देखूँगी। हमारा उससे अब कोई संबंध नहीं रहा।"

कुँवर—"आप लोग सोफ़िया पर अन्याय कर रहे हैं। जब से वह आई है, एक दिन के लिये भी घर से नहीं निकली। इसका कारण केवल संकोच है, और कुछ नहीं। शायद डरती है कि बाहर निकलूँ, और किसी पुराने परिचित से साक्षात् हो जाय, तो उससे क्या बात करूँगी। थोड़ी देर के लिये कल्पना कर लीजिए कि हममें से कोई भी उसकी जगह होता, तो उसके मन में कैसे भाव आते। इस विषय में वह क्षम्य है। मैं तो इसे अपना दुर्भाग्य समझूँगा, अगर आप लोग उससे यों विरक्त हो जायँगे। अब विवाह में विलंब न होना चाहिए।"

मिसेज़ सेवक—"खुदा वह दिन न लाए! मेरे लिये तो वह मर गई, उसका फ़ातेहा पढ़ चुकी, उसके नाम को जितना रोना था, रो चुकी!"

कुँवर—"यह ज़्यादती आप लोग मेरी रियासत के साथ कर रहे हैं, विवाह एक ऐसा उपाय है, जो विनय की उद्दंडता को शांत कर सकता है।"

जॉन सेवक—"मेरी तो सलाह है कि आप रियासत को कोर्ट ऑफ़्-वार्ड्स के सिपुर्द कर दीजिए। गवर्नमेंट आपके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेगी, और आपके प्रति उसका सारा संदेह शांत हो जायगा। तब कुँवर विनयसिंह की राजनीतिक उद्दंडता का रियासत पर ज़रा भी असर न पड़ेगा; और यद्यपि इस समय आपको यह व्यवस्था बुरी मालूम होगी, लेकिन कुछ दिनों बाद जब उनके विचारों में प्रौढ़ता आ जायगी, तो वह आपके कृतज्ञ होंगे, और आपको अपना सच्चा हितैषी समझेंगे। इ

इतना निवेदन है कि इस काम में हाथ डालने के पहले आप अपने को ख़ूब दृढ़ कर लें। उस वक़्त अगर आपकी ओर से ज़रा भी पसोपेश हुआ, तो आपका सारा प्रयत्न विफल हो जायगा, आप गवर्नमेंट के संदेह को शांत करने की जगह और भी उकसा देंगे।"

कुँवर—"मैं जायदाद की रक्षा के लिये सब कुछ करने को तैयार हूँ। मेरी इच्छा केवल इतनी है कि विनय को आर्थिक कष्ट न होने पाए। बस, अपने लिये मैं कुछ नहीं चाहता।"

जॉन सेवक—"आप प्रत्यक्ष रूप से तो कुँवर विनयसिंह के लिये कोई व्यवस्था नहीं कर सकते। हाँ, यह हो सकता है कि आप अपनी वृत्ति में से जितना उचित समझें, उन्हें दे दिया करें।

कुँवर—"अच्छा, मान लीजिए, विनय इसी मार्ग पर और भी अग्रसर होते गए, तो?"

जॉन सेवक—"तो उन्हें रियासत पर कोई अधिकार न होगा।"

कुँवर—"लेकिन उनकी संतान का तो यह अधिकार रहेगा?"

जॉन सेवक—"अवश्य।"

कुँवर—"गवर्नमेंट स्पष्ट रूप से यह शर्त मंज़ूर कर लेगी?"

जॉन सेवक—"न मंज़ूर करने का कोई कारण नहीं मालूम पड़ता।"

कुँवर—"ऐसा तो न होगा कि विनय के कामों का फल उनकी संतान को भोगना पड़े? सरकार रियासत को हमेशा के लिये ज़ब्त कर ले? ऐसा दो-एक जगह हुआ है। बरार ही को देखिए।"

जॉन सेवक—"कोई ख़ास बात पैदा हो जाय, तो नहीं कह सकते; लेकिन सरकार की यह नीति कभी नहीं रही। बरार की बात जाने दीजिए। यह इतना बड़ा सूबा है कि किसी रियासत में उसका मिल जाना राजनीतिक कठिनाइयों का कारण हो सकता है।"

कुँवर—"तो मैं कल डॉक्टर गंगुली को शिमले से तार भेजकर बुलाए लेता हूँ?"

जॉन सेवक—"आप चाहें, तो बुला लें। मैं तो समझता हूँ, यहीं से मसविदा बनाकर उनके पास भेज दिया जाय। या मैं स्वयं चला जाऊँ, और सारी बातें आपके इच्छानुसार तय कर आऊँ।"

कुँवर साहब ने धन्यवाद दिया, और घर चले आए। रात-भर वह इसी हैस-बैस में पड़े रहे कि विनय और जाह्नवी से इस निश्चय का समाचार कहूँ या न कहूँ। उनका जवाब उन्हें मालूम था। उनसे उपेक्षा और दुराग्रह के सिवा सहानुभूति की ज़रा भी आशा नहीं। कहने से फ़ायदा ही क्या? अभी तो विनय को कुछ भय भी है। यह हाल सुनेगा, तो और भी दिलेर हो जायगा। अंत को उन्होंने यही निश्चय किया कि अभी बतला देने से कोई फ़ायदा नहीं, और विघ्न पड़ने की संभावना है। जब काम पूरा हो जायगा, तो कहने-सुनने को काफ़ी समय मिलेगा।

मिस्टर जॉन सेवक पैरों तले घास न जमने देना चाहते थे। दूसरे ही दिन उन्होंने एक बैरिस्टर से प्रार्थना-पत्र लिखवाया, और कुँवर साहब को दिखाया। उसी दिन वह कागज़ डॉक्टर गंगुली के पास भेज दिया गया। डॉक्टर गंगुली ने इस प्रस्ताव को बहुत पसंद किया, और खुद शिमले से आए। यहाँ कुँवर साहब से परामर्श किया और दोनो आदमी प्रांतीय गवर्नर के पास जा पहुँचे। गवर्नर को इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी, विशेषतः ऐसी दशा में, जब रियासत पर एक कौड़ी भी क़र्ज़ न था? कर्मचारियों ने रियासत के हिसाब-किताब की जाँच शुरू की, और एक महीने के अंदर रियासत पर सरकारी अधिकार हो गया। कुँवर साहब लज्जा और ग्लानि के मारे इन दिनों विनय से बहुत कम बोलते, घर में बहुत कम आते, और आँखें चुराते रहते थे कि कहीं यह प्रसंग न छिड़ जाय। जिस दिन सारी शर्तें तय हो गईं, कुँवर साहब से न रहा गया, विनयसिंह से बोले—"रियासत पर तो सरकारी अधिकार हो गया।"

विनय ने चौंककर पूछा—"क्या ज़ब्त हो गई?"

कुँवर—"नहीं, मैंने कोर्ट ऑफ़् वार्ड्स के सिपुर्द कर दिया।"

यह कहकर उन्होंने शर्तों का उल्लेख किया, और विनीत भाव से बोले—"क्षमा करना, मैंने तुमसे इस विषय में सलाह नहीं ली।"

विनय—"मुझे इसका बिलकुल दुख नहीं है, लेकिन आपने व्यर्थ ही अपने को गवर्नमेंट के हाथ में डाल दिया। अब आपकी हैसियत केवल एक वसीक़ेदार की है, जिसका वसीक़ा किसी वक़्त बंद किया जा सकता है।"

कुँवर—"इसका इलज़ाम तुम्हारे सिर है।"

विनय—"आपने यह निश्चय करने के पहले ही मुझसे सलाह ली होती, तो यह नौबत न आने पाती। मैं आजीवन रियासत से पृथक् रहने का प्रतिज्ञा-पत्र लिख देता, और आप उसे प्रकाशित करके हुक्काम को प्रसन्न रख सकते थे।"

कुँवर—(सोचकर) "उस दशा में भी यह संदेह हो सकता था कि मैं गुप्त रीति से तुम्हारी सहायता कर रहा हूँ। इस संदेह को मिटाने के लिये मेरे पास और कौन साधन था?"

विनय—"तो मैं इस घर से निकल जाता, और आपसे मिलना-जुलना छोड़ देता। अब भी अगर आप इस इंतज़ाम को रद करा सकें, तो अच्छा हो। मैं अपने खयाल से नहीं, आप ही के खयाल से कह रहा हूँ। मैं अपने निर्वाह की कोई राह निकाल लूँगा।"

कुँवर साहब सजल-नयन होकर बोले—"विनय, मुझसे ऐसी कठोर बातें न करो। मैं तुम्हारे तिरस्कार का नहीं, तुम्हारी सहानुभूति और दया का पात्र होने योग्य हूँ। मैं जानता हूँ, केवल सामाजिक सेवा से हमारा उद्धार नहीं हो सकता। यह भी जानता हूँ कि हम स्वच्छंद होकर सामाजिक सेवा भी नहीं कर सकते। कोई आयोजना, जिससे देश में अपनी दशा को अनुभव करने की जागृति उत्पन्न हो, जो भ्रातृत्व और जातीयता के भावों को जगाए, संदेह से मुक्त नहीं रह सकती। यह सब जानते हुए मैंने सेवा-क्षेत्र में क़दम रक्खे थे। पर यह न जानता था कि

थोड़े ही समय में यह संस्था यह रूप धारण करेगी, और इसका यह परिणाम होगा! मैंने सोचा था, मैं परोक्ष में इसका संचालन करता रहूँगा; यह न जानता था कि इसके लिये मुझे अपना सर्वस्व—और अपना ही नहीं, भावी संतान का सर्वस्व भी—होम कर देना पड़ेगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझमें इतने महान् त्याग की सामर्थ्य नहीं।"

विनय ने इसका कुछ जवाब न दिया। अपने या सोफ़ी के विषय में भी उन्हें कोई चिंता न थी, चिंता थी, सेवा-दल के संचालन की। इसके लिये धन कहाँ से आएगा? उन्हें कभी भिक्षा माँगने की ज़रूरत न पड़ी थी। जनता से रुपए कैसे मिलते हैं, यह गुर न जानते थे। कम-से-कम पाँच हज़ार माहवार का ख़र्च था। इतना धन एकत्र करने के लिये एक संस्था की अलग ही ज़रूरत थी। अब उन्हें अनुभव हुआ कि धन-संपत्ति इतनी तुच्छ वस्तु नहीं! पाँच हज़ार रुपए माहवार, ६० हज़ार रुपए साल, के लिये १२ लाख का स्थायी कोश होना आवश्यक है। कुछ बुद्धि काम न करती थी। जाह्नवी के पास निज का कुछ धन था, पर वह उसे देना न चाहती थीं। और, अब तो उसकी रक्षा करने की और भी ज़रूरत थी, क्योंकि वह विनय को दरिद्र नहीं बनाना चाहती थीं।

तीसरे पहर का समय था। विनय और इंद्रदत्त, दोनो रुपयों की चिंता में मग्न बैठे हुए थे। सहसा सोफ़िया ने आकर कहा—"मैं एक उपाय बताऊँ?"

इंद्रदत्त—"भिक्षा माँगने चलें?"

सोफ़िया—"क्यों न एक ड्रामा खेला जाय! थिएटर है ही, कुछ पर्दे बना लिए जायँ, मैं भी पर्दे बनाने में मदद दूँगी।"

विनय—"प्रस्ताव तो अच्छा है, लेकिन नायिका तुम्हें बनना पड़ेगा।"

सोफ़िया—"नायिका का पार्ट इंदुरानी खेलेंगी, मैं परिचारिका का पार्ट लूँगी।"

इंद्रदत्त—"अच्छा, कौन-सा नाटक खेला जाय? भट्टजी का 'दुर्गावती' नाटक?"

विनय—"मुझे तो 'प्रसाद' का 'अजातशत्रु' बहुत पसंद है।"

सोफ़िया—"मुझे 'कर्बला' बहुत पसंद आया। वीर और करुण, दोनो ही रसों का अच्छा समावेश है।"

इतने में एक डाकिया अंदर दाख़िल हुआ, और एक मुहरबंद रजिस्टर्ड लिफ़ाफ़ा विनय के हाथ में रखकर चला गया। लिफ़ाफ़े पर प्रभु सेवक की मुहर थी। लंदन से आया था।

विनय—"अच्छा, बताओ, इसमें क्या होगा?"

सोफ़िया—"रुपए तो होंगे नहीं, और चाहे जो हो। वह ग़रीब रुपये कहाँ पाएगा? वहाँ होटल का ख़र्च ही मुश्किल से दे पाता होगा।"

विनय—"और मैं कहता हूँ कि रुपयों के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता।"

इंद्रदत्त—"कभी नहीं। कोई नई रचना होगी।"

विनय—"तो रजिस्ट्री कराने की क्या ज़रूरत थी?"

इंद्रदत्त—"रुपए होते, तो बीमा न कराया होता?"

विनय—"मैं कहता हूँ; रुपए हैं, चाहे शर्त बद लो।"

इंद्रदत्त—"मेरे पास कुल पाँच रुपए हैं, पाँच-पाँच की बाज़ी है।"

विनय—"यह नहीं। अगर इसमें रुपए हों, तो मैं तुम्हारी गरदन पर सवार होकर यहाँ से कमरे के उस सिरे तक जाऊँगा। न हुए, तो तुम मेरी गरदन पर सवार होना। बोलो।"

इंद्रदत्त—"मंज़ूर है, खोलो लिफ़ाफ़ा।"

लिफ़ाफ़ा खोला गया तो चेक निकला। पूरे दस हज़ार का। लंदन बैंक के नाम। विनय उछल पड़े। बोले—"मैं कहता न था। यहाँ सामुद्रिक विद्या पढ़े हैं। आइए, लाइए गरदन।"

इंद्रदत्त—"ठहरो-ठहरो, गरदन तोड़ के रख दोगे क्या! ज़रा ख़त

तो पढ़ो, क्या लिखा है, कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं ? लगे 'सवारी गाँठने ।"

विनय—"जी नहीं, यह नहीं होने का । आपको सवारी देनी होगी। गरदन टूटे या रहे, इसका मैं ज़िम्मेदार नहीं । कुछ दुबले-पतले तो हो नहीं, ख़ासे देव तो बने हुए हो ।"

इंद्रदत्त—"भई, आज मंगल के दिन नज़र न लगाओ । कुल दो मन पैंतीस सेर तो रह गया हूँ । राजपूताना जाने के पहले तीन मन से ज़्यादा था ।"

विनय—"ख़ैर, देर न कीजिए, गरदन झुकाकर खड़े हो जाइए ।"

इंद्रदत्त—"सोफ़िया, मेरी रक्षा करो ; तुम्हीं ने पहले कहा था, इसमें रुपए न होंगे । वही सुनकर मैंने भी कह दिया था ।"

सोफ़िया—"मैं तुम्हारे झगड़ों में नहीं पड़ती । तुम जानो, वह जानें ।" यह कहकर उसने ख़त पढ़ना शुरू किया—

"प्रिय बंधुवर, मैं नहीं जानता कि मैं यह पत्र किसे लिख रहा हूँ। कुछ ख़बर नहीं कि आजकल व्यवस्थापक कौन है । मगर सेवक-दल से मुझे अब भी वही प्रेम है; जो पहले था । उसकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता हूँ । आप मेरा कुशल-समाचार जानने के लिये उत्सुक होंगे । मैं पूना ही में था कि वहाँ के गवर्नर ने मुझे मुलाक़ात करने को बुलाया । उनसे देर तक साहित्य-चर्चा होती रही । एक ही मर्मज्ञ हैं । हमारे देश में ऐसे रसिक कम निकलेंगे । विनय (उसका कुछ हाल नहीं मालूम हुआ) के सिवा मैंने और किसी को इतना काव्य-रस-चतुर नहीं पाया । कितनी सजीव सहृदयता थी ! गवर्नर महोदय की प्रेरणा से मैं यहाँ आया, और जब से आया हूँ, आतिथ्य का अविरल प्रवाह हो रहा है । वास्तव में जीवित राष्ट्र ही गुणियों का आदर करना जानते हैं । बड़े ही सहृदय, उदार, स्नेहशील प्राणी हैं । मुझे इस जाति से अब श्रद्धा हो गई है, और मुझे

विश्वास हो गया है कि इस जाति के हाथों हमारा अहित कभी नहीं हो सकता। कल युनिवर्सिटी की ओर से मुझे एक अभिनंदन-पत्र दिया गया। साहित्य-सेवियों का ऐसा समारोह मैंने काहे को कभी देखा था। महिलाओं का स्नेह और सत्कार देखकर मैं मुग्ध हो गया। दो दिन पहले इंडिया-हाउस में भोज था। आज साहित्य-परिषद् ने निमंत्रित किया है। कल लिबरल-एसोसिएशन दावत देगा। परसों पारसी-समाज का नंबर है। उसी दिन यूनियन-क्लब की ओर से पार्टी दी जायगी। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि मैं इतनी जल्द बड़ा आदमी हो जाऊँगा। मैं ख्याति और सम्मान के निंदकों में नहीं हूँ। इसके सिवा गुणियों को और क्या पुरस्कार मिल सकता है? मुझे अब मालूम हुआ कि मैं क्या करने के लिये संसार में आया हूँ। मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? अब तक भ्रम में पड़ा हुआ था। अब से मेरे जीवन का मिशन होगा प्राच्य और पाश्चात्य को प्रेम-सूत्र में बाँधना, पारस्परिक द्वंद्व को मिटाना, और दोनो में समान भावों को जाग्रत् करना। मैं यही व्रत धारण करूँगा। पूर्व ने किसी ज़माने में पश्चिम को धर्म का मार्ग दिखाया था; अब वह उसे प्रेम का शब्द सुनाएगा, प्रेम का पथ दिखाएगा। मेरी कविताओं का पहला संग्रह मैकमिलन कंपनी द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होगा। गवर्नर महोदय मेरी उन कविताओं की भूमिका लिखेंगे। इस संग्रह के लिये प्रकाशकों ने मुझे चालीस हज़ार रुपए दिए हैं। इच्छा तो यही थी कि ये सब रुपए अपनी प्यारी संस्था की भेंट करता; पर विचार हो रहा है कि अमेरिका की सैर भी करूँ। इसलिये इस समय जो कुछ भेजता हूँ, उसे स्वीकार कीजिए। मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। इसलिये धन्यवाद की आशा नहीं रखता। हाँ, इतना निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि आपको सेवा के उच्चादर्शों का पालन करना चाहिए, और राजनीतिक परिस्थितियों से विरक्त होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के प्रचार को अपना लक्ष्य पर बनाना चाहिए। मेरे व्याख्यानों की रिपोर्ट

आपको यहाँ के समाचार-पत्रों में मिलेगी। आप देखेंगे कि मेरे राजनीतिक विचारों में कितना अंतर हो गया है। मैं अब स्वदेशी नहीं, सर्वदेशीय हूँ, अखिल संसार मेरा स्वदेश है, प्राणि-मात्र से मेरा बंधुत्व है, और भौगोलिक तथा जातीय सीमाओं को मिटाना मेरे जीवन का उद्देश्य है। ईश्वर से प्रार्थना कीजिए कि अमेरिका से सकुशल लौट आऊँ।

आपका सच्चा बंधु—

प्रभु सेवक।"

सोफ़िया ने पत्र मेज पर रख दिया, और गंभीर भाव से बोली—"इसके दोनो ही अर्थ हो सकते हैं, आत्मिक उत्थान या पतन। मैं तो पतन ही समझती हूँ।"

विनय—"क्यों? उत्थान क्यों नहीं?"

सोफ़िया—"इसलिये कि प्रभु सेवक की आत्मा शृंगार-प्रिय है। वह कभी स्थिर चित्त नहीं रहे। जो प्राणी सम्मान से इतना फूल उठता है, वह उपेक्षा से इतना ही हताश भी हो जायगा।"

विनय—"यह कोई बात नहीं। कदाचित् मैं भी इसी तरह फूल उठता! यह तो बिलकुल स्वाभाविक है। यहाँ उनकी क्या क़द्र हुई! मरते दम तक गुमनाम पड़े रहते।"

इंद्रदत्त—"जब हमारे काम के नहीं रहे, तो प्रसिद्ध हुआ करें। ऐसे विश्व-प्रेमियों से कभी किसी का उपकार न हुआ है, न होगा। जिसमें अपना नहीं, उसमें पराया क्या होगा!"

सोफ़िया—"सार्वदेशिकता हमारे कई कवियों को ले डूबी, इन्हें भी ले डूबेगी। इनका होना, न होना हमारे लिये दोनो बराबर हैं, बल्कि मुझे तो अब इनसे हानि पहुँचने की शंका है। मैं जाकर अभी इस पत्र का जवाब लिखती हूँ।"

यह कहते हुए सोफ़िया वह पत्र हाथ में लिए हुए अपने कमरे में चली गई। विनय ने कहा—"क्या करूँ, रुपए वापस कर दूँ?"

इंद्रदत्त—"रुपए क्यों वापस करोगे! उन्होंने कोई शर्त तो की नहीं है, मित्रोचित सलाह दी है, और बहुत अच्छी सलाह दी है। हमारा भी तो वही उद्देश्य है। अंतर केवल इतना है कि वह समता के बिना ही बंधुत्व का प्रचार करना चाहते हैं, हम बंधुत्व के लिये समता को आवश्यक समझते हैं।"

विनय—"यों क्यों नहीं कहते कि बंधुत्व समता ही पर स्थित है।"

इंद्रदत्त—"सोफ़िया देवी खूब खबर लेंगी।"

विनय—"अच्छा, अभी रुपए रक्खे लेता हूँ, पीछे देखा जायगा।"

इंद्रदत्त—"दो-चार ऐसे ही मित्र और मिल जायँ, तो हमारा काम चल निकले।"

विनय—"सोफ़िया का ड्रामा खेलने की सलाह कैसी है?"

इंद्रदत्त—"क्या पूछना, उनका अभिनय देखकर लोग दंग रह जायँगे।"

विनय—"तुम मेरी जगह होते, तो उसे स्टेज पर लाना पसंद करते?"

इंद्रदत्त—"पेशा समझकर तो नहीं, लेकिन परोपकार के लिये स्टेज पर लाने में शायद मुझे आपत्ति न होती।"

विनय—"तो तुम मुझसे कहीं ज़्यादा उदार हो। मैं तो इसे किसी हालत में पसंद न करूँगा। हाँ, यह तो बताओ, तुम्हें सोफ़िया आजकल कुछ उदास मालूम होती है? कल इसने मुझसे जो बातें कीं, वे बहुत निराशाजनक थीं। उसको भय है कि उसी के कारण रियासत का यह हाल हुआ है। माताजी तो उस पर जान देती हैं, पर वह उनसे दूर भागती है। फिर वही आध्यात्मिक बातें करती है, जिनका आशय आज तक मेरी समझ में नहीं आया—मैं तुम्हारे पाँव की बेड़ी नहीं बनना चाहती, मेरे लिये केवल तुम्हारी स्नेह-दृष्टि काफ़ी है, और जाने क्या-क्या। और, मेरा यह हाल है कि घंटे-भर भी उसे न देखूँ, तो चित्त विकल हो जाता है।"

इतने में मोटर की आवाज़ आई, और एक क्षण में इंदु आ पहुँची।

इंद्रदत्त—"आइए इंदुरानी, आइए। आप ही का इंतज़ार था।"

इंदु—"झूठे हो, मेरी इस वक़्त ज़रा भी चर्चा न थी, रुपए की चिंता में पड़े हुए हो।"

इंद्रदत्त—"तो मालूम होता है, आप कुछ लाई हैं। लाइए, वास्तव में हम लोग बहुत चिंतित हो रहे थे।"

इंदु—"मुझसे माँगते हो? मेरा हाल जानकर भी? एक बार चंदा देकर हमेशा के लिये सीख गई। (विनय से) सोफ़िया कहाँ हैं? अम्माजी तो अब राज़ी हैं न?"

विनय—"किसी के दिल की बात कोई क्या जाने।"

इंदु—"मैं तो समझती हूँ, अम्माजी राज़ी भी हो जायँ, तो भी तुम सोफ़ी को न पाओगे। तुम्हें इन बातों से दुख तो अवश्य होगा, लेकिन किसी आघात के लिये पहले से तैयार रहना इससे कहीं अच्छा है कि वह आकस्मिक रीति से सिर पर आ पड़े।"

विनय ने आँसू पीते हुए कहा—"मुझे भी कुछ ऐसा ही अनुमान होता है।"

इंदु—"सोफ़िया कल मुझसे मिलने गई थी। उसकी बातों ने उसे भी रुलाया और मुझे भी। वड़े धर्म-संकट में पड़ी हुई है। न तुम्हें निराश करना चाहती है, न माताजी को अप्रसन्न करना चाहती है। न-जाने क्यों उसे अब भी संदेह है कि माताजी उसे अपनी वधू नहीं बनाना चाहतीं। मैं समझती हूं कि यह केवल उसका भ्रम है, वह स्वयं अपने मन के रहस्य को नहीं समझती। वह स्त्री नहीं है, केवल एक कल्पना है, भावों और आकांक्षाओं से भरी हुई। तुम उसका रसास्वादन कर सकते हो, पर उसे अनुभव नहीं कर सकते, उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। कवि अपने अंतरतम भावों को व्यक्त नहीं कर सकता। वाणी में इतनी सामर्थ्य ही नहीं। सोफिया वही कवि की अंतरतम भावना है।"

इंद्रदत्त—"और आपकी ये सब बातें भी कोरी कवि-कल्पना हैं। सोफ़िया न कवि-कल्पना है, और न कोई गुप्त रहस्य; न देवी है, न देवता। न अप्सरा है, न परी। जैसी अन्य स्त्रियाँ होती हैं, वैसी ही एक स्त्री वह भी है, वह उसके भाव हैं, वही उसके विचार हैं। आप लोगों ने कभी विवाह की तैयारी की, कोई भी ऐसी बात की, जिससे मालूम हो कि आप लोग विवाह के लिये उत्सुक हैं? तो जब आप लोग स्वयं उदासीन हो रहे हैं, तो उसे क्या ग़रज़ पड़ी हुई है कि इसकी चर्चा करती फिरे। मैं तो अक्खड़ आदमी हूँ। उसे लाख विनय से प्रेम हो, पर अपने मुँह से तो विवाह की बात न कहेगी। आप लोग वही चाहते हैं, जो किसी तरह नहीं हो सकता। इसलिये अपनी लाज की रक्षा करने को उसने यही युक्ति निकाल रक्खी है। आप लोग तैयारियाँ कीजिए, फिर उसकी ओर से आपत्ति हो, तो अलबत्ता उससे शिकायत हो सकती है। जब देखती है, आप लोग स्वयं धुकुर-पुकुर कर रहे हैं, तो वह भी इन युक्तियों से अपनी आबरू बचाती है।"

इंदु—"ऐसा कहीं भूलकर भी न करना, नहीं तो वह इस घर में भी न रहेगी।"

इतने में सोफ़िया वह पत्र लिए हुए आती दिखाई दी, जो उसने प्रभु सेवक के नाम लिखा था। इंदु ने बात पलट दी, और बोली—"तुम लोगों को तो अभी खबर न होगी, मि० सेवक को पाँड़ेपुर मिल गया।"

सोफ़िया ने इंदु के गले मिलते हुए पूछा—"पापा वह गाँव लेकर क्या करेंगे?"

इंदु—"अभी तुम्हें मालूम ही नहीं। वह मुहल्ला खुदवाकर फेंक दिया जायगा, और वहाँ मिल के मज़दूरों के लिये घर बनेंगे।"

इंद्रदत्त—"राजा साहब ने मंज़ूर कर लिया? इतनी जल्द भूल गए! अब की शहर में रहना मुश्किल हो जायगा।"

इंदु—"सरकार का आदेश था, कैसे न मंज़ूर करते।"

इंद्रदत्त—"साहब ने बड़ी दौड़ लगाई। सरकार पर भी मंत्र चला दिया।"

इंदु—"क्यों, इतनी बड़ी रियासत पर सरकार का अधिकार नहीं करा दिया? एक राजद्रोही राजा को अपंग नहीं बना दिया? एक क्रांतिकारी संस्था की जड़ नहीं खोद डाली? सरकार पर इतने एहसान ही छोड़ देते। चतुर व्यवसायी न हुए कोई राजा-ठाकुर हुए! सबसे बड़ी बात तो यह है कि कंपनी ने पच्चीस सैकड़े नफ़ा देकर बोर्ड के अधिकांश सदस्यों को वशीभूत कर लिया।"

विनय—"राजा साहब को पद-त्याग कर देना चाहिए था। इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी सिर पर लेने से तो यह कहीं अच्छा होता।"

इंदु—"कुछ सोच-समझकर तो स्वीकार किया होगा। सुना, पाँड़ेपुर-वाले अपने घर छोड़ने पर राज़ी नहीं होते।"

इंद्रदत्त—"न होना चाहिए।"

सोफ़िया—"ज़रा चलकर देखना चाहिए, वहाँ क्या हो रहा है? लेकिन कहीं मुझे पापा नज़र आ गए, तो? नहीं, मैं न जाऊँगी, तुम्हीं लोग जाओ।"

तीनो आदमी पाँड़ेपुर की तरफ़ चले।

———

अदालत ने अगर दोनो युवकों को कठिन दंड दिया, तो जनता ने भी सूरदास को उससे कम कठिन दंड न दिया। चारो ओर थुड़ी-थुड़ी होने लगी। मुहल्लेवालों का तो कहना ही क्या, आस-पास के गाँववाले भी दो-चार खोटी-खरी सुना जाते थे—माँगता तो है भीख, पर अपने को कितना लगाता है ! ज़रा चार भले आदमियों ने मुँह लगा लिया, तो घमंड के मारे पाँव धरती पर नहीं रखता। सूरदास को मारे शर्म के घर से बाहर निकलना मुश्किल हो गया। इसका एक अच्छा फल यह हुआ कि बजरंगी और जगधर का क्रोध शांत हो गया। बजरंगी ने सोचा, अब क्या मारूँ-पीटूँ, उसके मुँह में तो यों ही कालिख लग गई ; जगधर की अकेले इतनी हिम्मत कहाँ ! दूसरा फल यह हुआ कि सुभागी फिर भैरों के घर जाने को राज़ी हो गई। उसे ज्ञात हो गया कि विना किसी आड़ के मैं इन झोंकों से नहीं बच सकती। सूरदास की आड़ केवल टट्टी की आड़ थी।

एक दिन सूरदास बैठा हुआ दुनिया की हठधर्मी और अनीति का दुखड़ा रो रहा था कि सुभागी बोली—"भैया, तुम्हारे ऊपर मेरे कारन चारो ओर से बौछार पड़ रही है, बजरंगी और जगधर दोनो मारने पर उतारू हैं, न हो, तो मुझे भी अब मेरे घर पहुँचा दो। यही न होगा, मारे-पीटेगा, क्या करूँगी, सह लूँगी, इस बेआबरूई से तो बचूँगी।"

भैरों तो पहले ही से मुँह फैलाए हुए था, बहुत खुश हुआ, आकर सुभागी को बड़े आदर से ले गया। सुभागी जाकर बुढ़िया के पैरों पर गिर पड़ी, और ख़ूब रोई। बुढ़िया ने उठकर छाती से लगा लिया। बेचारी अब आँखों से माज़ूर हो गई थी। भैरों जब कहीं चला जाता, तो दूकान पर कोई बैठनेवाला न रहता, लोग अँधेरे में लकड़ी उठा ले

जाते थे। खाना तो ख़ैर किसी तरह बना लेती थी, किंतु इस नोच-घसोट का नुकसान न सहा जाता था। सुभागी घर की देख-भाल तो करेगी! रहा भैरों, उसके हृदय में अब छल-कपट का लेश भी न रहा था। सूरदास पर उसे इतनी श्रद्धा हो गई थी कि कदाचित् किसी देवता पर भी न होगी। अब वह अपनी पिछली बातों पर पछताता, और मुक्त कंठ से सूरदास के गुण गाता था।

इतने दिनों तक सूरदास घर-बार की चिंताओं से मुक्त था, पकी-पकाई रोटियाँ मिल जाती थीं, बरतन धुल जाते थे, घर में झाड़ू लग जाती थी। अब फिर वही पुरानी विपत्ति सिर पर सवार हुई। मिठुआ अब स्टेशन ही पर रहता था। घीसू और विद्याधर के दंड से उसकी आँखें खुल गई थीं। कान पकड़े, अब कभी जुआ और चरस के नगीच न जाऊँगा। बाज़ार से चबेना लेकर खाता, और स्टेशन के बरामदे में पड़ा रहता था। कौन नित्य तीन-चार मील चले! ज़रा भी चिंता न थी कि सूरदास की कैसे निभती है, अब मेरे हाथ-पाँव हुए, कुछ मेरा धर्म भी उसके प्रति है या नहीं, आखिर किस दिन के लिये उसने मुझे अपने लड़के की भाँति पाला था। सूरदास कई बार ख़ुद स्टेशन पर गया, और उससे कहा कि साँझ को घर चला आया कर, क्या अब भी भीख माँगूँ, मगर उसकी बला सुनती थी। एक बार उसने साफ़ कह दिया, यहाँ मेरा गुज़र तो होता नहीं, तुम्हारे लिये कहाँ से लाऊँ, मेरे लिये तुमने कौन-सी बड़ी तपस्या की थी, एक टुकड़ा रोटी दे देते थे, कुत्ते को न दिया, मुझी को दे दिया। तुमसे मैं कहने गया था कि मुझे खिलाओ-पिलाओ, छोड़ क्यों न दिया, जिन लड़कों के मा-बाप नहीं होते, वे सब मर ही जाते हैं, जैसे तुम एक टुकड़ा दे देते थे, वैसे बहुत टुकड़े मिल जाते। इन बातों से सूरदास का दिल ऐसा टूटा कि फिर उसने घर आने को न कहा।

इधर सोफ़िया कई बार सूरदास से मिल चुकी थी। वह और तो कहीं न जाती, पर समय निकालकर सूरदास से अवश्य मिल जाती। ऐसे मौक़े

से आती कि सेवकजी से सामना न होने पाए। जब आती, सूरदास के लिये कोई-न-कोई सौग़ात ज़रूर लाती। उसने इंद्रदत्त से उसका सारा वृत्तांत सुना था—उसका अदालत में जनता से अपील करना, चंदे के रुपए स्वयं न लेकर दूसरे को दे देना, ज़मीन के रुपए, जो सरकार से मिले थे, दान दे देना—तब से उसे उससे और भी भक्ति हो गई थी। गँवारों की धर्म-पिपासा ईंट-पत्थर पूजने से शांत हो जाती है, भद्रजनों की भक्ति सिद्ध पुरुषों की सेवा से। उन्हें प्रत्येक दीवाना पूर्व-जन्म का कोई ऋषि मालूम होता है। उसकी गालियाँ सुनते हैं, उसके जूठे बरतन धोते हैं, यहाँ तक कि उसके धूल-धूसरित पैरों को धोकर चरणामृत लेते हैं। उन्हें उसकी काया में कोई देवात्मा बैठी हुई मालूम होती है। सोफ़िया को सूरदास से कुछ ऐसी ही भक्ति हो गई थी। एक बार वह उसके लिये संतरे और सेब ले गई। सूरदास घर लाया, पर आप न खाया, मिठुआ की याद आई, उसकी कठोर बातें विस्मृत हो गईं, सबेरे उन्हें लिए स्टेशन गया, और उसे दे आया। एक बार सोफ़ी के साथ इंदु भी आई थी। सरदी के दिन थे। सूरदास खड़ा काँप रहा था। इंदु ने वह कम्मल, जो वह अपने पैरों पर डाले हुए थी, सूरदास को दे दिया। सूरदास को वह कम्मल ऐसा अच्छा मालूम हुआ कि खुद न ओढ़ सका। मैं बुड्ढा भिखारी, यह कम्मल ओढ़कर कहाँ जाऊँगा? कौन भीख देगा? रात को जमीन पर लेटूँ, दिन-भर सड़क के किनारे खड़ा रहूँ, मुझे यह कम्मल लेकर क्या करना? जाकर मिठुआ को दे आया। इधर तो अब भी इतना प्रेम था, उधर मिठुआ इतना स्वार्थी था कि खाने को भी न पूछता। सूरदास समझता कि लड़का है, यही इसके खाने-पहनने के दिन हैं, मेरी खबर नहीं लेता, खुद तो आराम से खाता-पहनता है। अपना है, तो कब न काम आएगा।

फागुन का महीना था, संध्या का समय। एक स्त्री घास बेचकर जा रही थी। मज़दूरों ने अभी-अभी काम से छुट्टी पाई थी। दिन-भर चुपचाप

परखियों के सामने खड़े-खड़े उकता गए थे, विनोद के लिये उत्सुक हो रहे थे। घसियारिन को देखते ही उस पर अश्लील कबीरों की बौछार शुरू कर दी। सूरदास को यह बुरा मालूम हुआ, बोला—"यारो, क्यों अपनी जबान खराब करते हो? वह बिचारी तो अपनी राह चली जाती है, और तुम लोग उसका पीछा नहीं छोड़ते। वह भी तो किसी की बहू-बेटी होगी।"

एक मज़दूर बोला—"भीख माँगो, भीख जो तुम्हारे करम में लिखा है। हम गाते हैं, तो तुम्हारी नानी क्यों मरती है?"

सूरदास—"गाने को थोड़े ही कोई मने करता है।"

मज़दूर—"तो हम क्या लाठी चलाते हैं?"

सूरदास—"उस औरत को छेड़ते क्यों हो?"

मज़दूर—"तो तुम्हें क्यों बुरा लगता है? तुम्हारी बहन है कि बेटी?"

सूरदास—"बेटी भी है, बहन भी है, हमारी हुई तो, किसी दूसरे भाई की हुई तो।"

उसके मुँह से वाक्य का अंतिम शब्द निकलने भी न पाया था कि एक मज़दूर ने चुपके से जाकर उसकी एक टाँग पकड़कर खींच ली। बेचारा बेखबर खड़ा था। कंकड़ पर इतनी ज़ोर से मुँह के बल गिरा कि सामने के दो दाँत टूट गए, छाती में बड़ी चोट आई, ओठ कट गए, मूर्च्छा-सी आ गई। पंद्रह-बीस मिनट तक वहीं अचेत पड़ा रहा। कोई मज़दूर निकट भी न आया, सब अपनी राह चले गए। संयोग से नायकराम उसी समय शहर से आ रहे थे। सूरदास को सड़क पर पड़े देखा, तो चकराए कि माजरा क्या है, किसी ने मारा-पीटा तो नहीं? बजरंगी के सिवा और किसमें इतना दम है। बुरा किया। कितना ही हो, अपने धर्म का सच्चा है। दया आ गई। समीप आकर हिलाया, तो सूरदास को होश आया, उठकर नायकराम का एक हाथ पकड़ लिया, और दूसरे हाथ से लाठी टेकता हुआ चला।

नायकराम ने पूछा—"किसी ने मारा है क्या सूरे, मुँह से लहू बह रहा है?"

सूरदास—"नहीं भैया, ठोकर खाकर गिर पड़ा था।"

नायकराम—"छिपाओ मत, अगर बजरंगी या जगधर ने मारा हो, तो बता दो। दोनो को साल-साल-भर के लिये भिजवा न दूँ, तो ब्राह्मण नहीं।"

सूरदास—"नहीं भैया, किसी ने नहीं मारा, झूठ किसे लगा दूँ।"

नायकराम—"मिलवालों में से तो किसी ने नहीं मारा? ये सब राह-चलते आदमियों को बहुत छेड़ा करते हैं। कहता हूँ, लुटवा दूँगा, इन झोपड़ों में आग न लगा दूँ, तो कहना। बताओ, किसने यह काम किया? तुम तो आज तक कभी ठोकर खाकर नहीं गिरे। सारी देह लहू से लतपत हो गई है।"

सूरदास ने किसी का नाम न बतलाया। जानता था कि नायकराम क्रोध में आ जायगा, तो मरने-मारने को न डरेगा। घर पहुँचा, तो सारा मुहल्ला दौड़ा। हाय! हाय! किस मुद्दई ने बेचारे अंधे को मारा, देखो तो, मुँह कितना सूज आया है! लोगों ने सूरदास को बिछावन पर लिटा दिया। भैरों दौड़ा, बजरंगी ने आग जलाई, अफ़ीम और तेल की मालिश होने लगी। सभी के दिल उसकी तरफ़ से नर्म पड़ गए। अकेला जगधर खुश था, जमुनी से बोला—"भगवान ने हमारा बदला लिया है। हम सबर कर गए, पर भगवान तो न्याय करनेवाले हैं।"

जमुनी चिढ़कर बोली—"चुप भी रहो, आए हो बड़े न्यायी की पूँछ बन के। बिपत में बैरी पर भी न हँसना चाहिए, वह हमारा बैरी नहीं है। सच बात के पीछे जान दे देगा, चाहे किसी को अच्छा लगे या बुरा। आज हममें से कोई बीमार पड़ जाय, तो देखो, रात-की-रात बैठा रहता है कि नहीं। ऐसे आदमी से क्या बैर!"

जगधर लज्जित हो गया।

पंद्रह दिन तक सूरदास घर से निकलने के लायक़ न हुआ। कई दिन मुँह से ख़ून आता रहा। सुभागी दिन-भर उसके पास बैठी रहती। भैरों रात को उसके पास सोता। जमुनी नूर के तड़के गरम दूध लेकर आती, और उसे अपने हाथों से पिला जाती। बजरंगी बाज़ार से दवाएँ लाता। अगर कोई उसे देखने न आया, तो वह मिठुआ था। उसके पास तीन-चार आदमी गया, पर उसकी इतनी हिम्मत भी न हुई कि सेवा-शुश्रूषा के लिये नहीं, तो कुशल-समाचार पूछने ही के लिये चला आता। डरता था कि जाऊँगा, तो लोगों के कहने-सुनने से कुछ-न-कुछ देना ही पड़ेगा। उसे अब रुपए का चस्का लग गया था। सूरदास के मुँह से भी इतना निकल ही गया—"दुनिया अपने मतलब की है। बाप नन्हा-सा छोड़कर मर गया। मा-बेटे की परवस्ती की, मा मर गई, तो अपने लड़के की तरह पाला-पोसा, आप लड़कोरी बन गया, उसकी नींद सोता था, उसकी नींद जागता था, आज चार पैसे कमाने लगा, तो बात भी नहीं पूछता। ख़ैर, हमारे भी भगवान हैं। जहाँ रहे, सुखी रहे। उसकी नीयत उसके साथ, मेरी नीयत मेरे साथ। उसे मेरी कलक न हो, मुझे तो उसकी कलक है। मैं कैसे भूल जाऊँ कि मैंने लड़के की तरह उसको पाला है!"

इधर तो सूरदास रोग-शय्या पर पड़ा हुआ था, उधर पाँडेपुर का भाग्य-निर्णय हो रहा था। एक दिन प्रातःकाल राजा महेंद्रकुमार, मि० जॉन सेवक, जायदाद के तख़मीने का अफ़सर, पुलिस के कुछ सिपाही और एक दरोग़ा पाँडेपुर आ पहुँचे। राजा साहब ने निवासियों को जमा करके सम-झाया—"सरकार को एक ख़ास सरकारी काम के लिये इस मुहल्ले की ज़रूरत है। उसने फ़ैसला किया है कि तुम लोगों को उचित दाम देकर यह ज़मीन ले ली जाय, लाट साहब का हुक्म आ गया है। तख़मीने के अफ़सर साहब इसी काम के लिये तैनात किए गए हैं। कल से उनका इजलास यहीं हुआ करेगा। आप सब मकानों की क़ीमत का तख़मीना करेंगे, और उसी के मुताबिक़ तुम्हें मुआवज़ा मिल जायगा। तुम्हें जो कुछ

अर्ज़-मारूज़ करना हो, आप ही से करना। आज से तीन महीने के अंदर तुम्हें अपने-अपने मकान ख़ाली कर देने पड़ेंगे, मुआवज़ा पीछे मिलता रहेगा। जो आदमी इतने दिनों के अंदर मकान न ख़ाली करेगा, उसके मुआवज़े के रुपए ज़ब्त कर लिए जायँगे, और वह ज़बरदस्ती घर से निकाल दिया जायगा। अगर कोई रोक-टोक करेगा, तो पुलिस उसका चालान करेगी, उसको सज़ा हो जायगी। सरकार तुम लोगों को बेवजह तकलीफ़ नहीं दे रही है, उसको इस ज़मीन की सख़्त ज़रूरत है। मैं सिर्फ़ सरकारी हुक्म की तामील कर रहा हूँ।"

गाँववालों को पहले ही इसकी टोह मिल चुकी थी, किंतु इस ख़याल से मन को बोध दे रहे थे कि कौन जाने, ख़बर ठीक है या नहीं। ज्यों-ज्यों विलंब होता था, उनकी आलस्य-प्रिय आत्माएँ निश्चित होती जाती थीं। किसी को आशा थी कि हाकिमों से कह-सुनकर अपना घर बचा लूँगा, कोई कुछ दे-दिलाकर अपनी रक्षा करने की फ़िक्र कर रहा था, कोई उज़्र-दारी करने का निश्चय किए हुए था, कोई यह सोचकर शांत बैठा हुआ था कि न-जाने क्या होगा, पहले से क्यों अपनी जान हलकान करें, जब सिर पर पड़ेगी, तब देखी जायगी। तिस पर भी आज जो लोगों ने सहसा यह हुक्म सुना, तो मानो वज्राघात हो गया। सब-के-सब साथ हाथ बाँधकर राजा साहब के सामने खड़े हो गए, और कहने लगे—"सरकार, यहाँ रहते हमारी कितनी पीढ़ियाँ गुज़र गईं, अब सरकार हमको निकाल देगी, तो कहाँ जायँगे? दो-चार आदमी हों, तो कहीं घुस पड़ें, मुहल्ले-का-मुहल्ला उजड़कर कहाँ जायगा? सरकार जैसे हमें निकालती है, वैसे कहीं ठिकाना भी बता दे।"

राजा साहब बोले—"मुझे स्वयं इस बात का बड़ा दुःख है, और मैंने तुम्हारी ओर से सरकार की सेवा में उज़्र भी किया था; मगर सरकार कहती है, इस ज़मीन के बग़ैर हमारा काम नहीं चल सकता। मुझे तुम्हारे साथ सच्ची सहानुभूति है, पर मजबूर हूँ, कुछ नहीं कर सकता, सरकार का हुक्म है, मानना पड़ेगा।"

बजरंगी—"घमंड है घमंड कि और लोग क्यों नहीं आए। गया क्यों नहीं हाकिमों के सामने? ऐसा मर थोड़े ही रहा है!"

जमुनी—"कैसे आता? वह तो हाकिमों से बुरा बने, यहाँ तुम लोग अपने-अपने मन की करने लगो, तो उसकी भद्द हो।"

भैरों—"ठीक तो कहती हो, मुद्दई सुस्त, तो गवाह कैसे चुस्त होगा। पहले चलकर पूछो, उसकी सलाह क्या है। अगर मानने लायक हो, तो मानो; न मानने लायक हो, न मानो। हाँ, एक बात जो तय हो जाय, उस पर टिकना पड़ेगा। यह नहीं कि कहा तो कुछ पीछे से निकल भागे, सरदार तो भरम में पड़ा रहे कि आदमी पीछे हैं, और आदमी अपने-अपने घर की राह लें।"

बजरंगी—"चलो पंडाजी, पूछ ही देखें।"

नायकराम—"वह कहेगा बड़े साहब के पास चलो, वहाँ सुनाई न हो, तो परागराज लाट साहब के पास चलो। है इतना बूता?"

जगधर—"भैया की बात, महाराज, यहाँ तो किसी का मुँह नहीं खुला, लाट साहब के पास कौन जाता है!"

जमुनी—"एक बार चले क्यों नहीं जाते? देखो तो, क्या सलाह देता है?"

नायकराम—"मैं तैयार हूँ, चलो।"

ठाकुरदीन—"मैं न जाऊँगा, और जिसे जाना हो, जाय।"

जगधर—"तो क्या हमीं को बड़ी गरज पड़ी है?"

बजरंगी—"जो सबकी गत होगी, वही हमारी भी होगी।"

घंटे-भर तक पंचायत हुई, पर सूरदास के पास कोई न गया। साझे की सुई ठेले पर लदती है। तू चल, मैं आता हूँ, यही हुआ किया। लोग अपने-अपने घर चले गए। संध्या-समय भैरों सूरदास के पास गया।

सूरदास ने पूछा—"आज क्या हुआ?"

भैरों—"हुआ क्या, घंटे-भर तक बकवास हुई। फिर लोग अपने-अपने घर चले गए।"

सूरदास—"कुछ तय न हुआ कि क्या किया जाय?"

भैरों—"निकाले जायँगे, इसके सिवा और क्या होगा। क्यों सूरे, कोई न सुनेगा?"

सूरदास—"सुननेवाला भी वही है, जो निकालनेवाला है। तीसरा होता, तब न सुनता।"

भैरों—"मेरी मरन है। हजारों मन लकड़ी है, कहाँ ढोकर ले जाऊँगा? कहाँ इतनी जमीन मिलेगी कि फिर टाल लगाऊँ?"

सूरदास—"सभी की मरन है। बजरंगी ही को इतनी जमीन कहाँ मिली जाती है कि पंद्रह-बीस जानवर भी रहें, आप भी रहे। मिलेगी भी, तो इतना किराया देना पड़ेगा कि दिवाला निकल जायगा। देखो, मिठुआ आज भी नहीं आया। मुझे मालूम हो जाय कि वह बीमार है, तो छिन-भर न रुकूँ, कुत्ते की भाँति दौड़ूँ, चाहे वह मेरी बात भी न पूछे। जिनके लिये अपनी जिंदगानी खराब कर दो, वे भी गाढ़े समय पर मुँह फेर लेते हैं।"

भैरों—"अच्छा, तुम बताओ, तुम क्या करोगे, तुमने भी कुछ सोचा है?"

सूरदास—"मेरी क्या पूछते हो, जमीन थी वह निकल ही गई; झोपड़ों के बहुत मिलेंगे, तो दो-चार रुपए मिल जायँगे। मिले, तो क्या, और न मिले, तो क्या। जब तक कोई न बोलेगा, पड़ा रहूँगा। कोई हाथ पकड़कर निकाल देगा, बाहर जा बैठूँगा। वहाँ से उठा देगा, फिर आ बैठूँगा। जहाँ जनम लिया है, वहीं मरूँगा। अपना झोपड़ा जीते-जी न छोड़ा जायगा। मरने पर जो चाहे ले ले। बाप-दादों की जमीन खो दी, अब इतनी निसानी रह गई है, इसे न छोड़ूँगा। इसके साथ ही आप भी मर जाऊँगा।"

भैरों—"सूरे, इतना दम तो यहाँ किसी में नहीं।"

सूरदास—"इसी से तो मैंने किसी से कुछ कहा ही नहीं। भला सोचो, कितना अंधेर है कि हम, जो सत्तर पीढ़ियों से यहाँ आबाद हैं, निकाल दिए जायँ, और दूसरे यहाँ आकर बस जायँ। यह हमारा घर है, किसी के कहने से नहीं छोड़ सकते, जबरजस्ती जो चाहे निकाल दे, न्याय से नहीं निकाल सकता। तुम्हारे हाथ में बल है, तुम हमें मार सकते हो, हमारे हाथ में बल होता, तो हम तुम्हें मारते। यह तो कोई इंसाफ नहीं है। सरकार के हाथ में मारने का बल है, हमारे हाथ में और कोई बल नहीं है, तो मर जाने का बल तो है।"

भैरों ने जाकर दूसरों से ये बातें कहीं। जगधर ने कहा—"देखा, यह सलाह है! घर तो जायगा ही, जान भी जायगी।"

ठाकुरदीन बोले—"यह सूरदास का किया होगा। आगे नाथ न पीछे पगहा, मर ही जायगा, तो क्या? यहाँ मर जायँ, तो बाल-बच्चों को किसके सिर छोड़ें।"

बजरंगी—"मरने के लिये कलेजा चाहिए। जब हम ही मर गए, तो घर लेकर क्या होगा।"

नायकराम—"ऐसे बहुत मरनेवाले देखे हैं, घर से तो निकला नहीं गया, मरने चले हैं।"

भैरों—"उसकी न चलाओ पंडाजी, मन में आने की बात है।"

दूसरे दिन से तख़मीने के अफ़सर ने मिल के एक कमरे में इजलास करना शुरू किया। एक मुंशी मुहल्ले के निवासियों के नाम, मकानों की हैसियत, पक्के हैं या कच्चे, पुराने हैं या नए, लंबाई, चौड़ाई आदि की एक तालिका बनाने लगा। पटवारी और मुंशी घर-घर घूमने लगे। नायकराम मुखिया थे। उनका साथ रहना ज़रूरी था। इस वक़्त सभी प्राणियों का भाग्य-निर्णय इसी त्रिमूर्ति के हाथों में था। नायकराम की चढ़ बनी। दलाली करने लगे। लोगों से कहते, निकलना तो पड़ेगा ही,

अगर कुछ गम खाने से मुआवज़ा बढ़ जाय, तो हरज ही क्या है। बैठे-बिठाए मुट्ठी गर्म होती थी, तो क्यों छोड़ते! सारांश यह कि मकानों की हैसियत का आधार वह भेंट थी, जो इस त्रिमूर्ति को चढ़ाई जाती थी। नायकराम टट्टी की आड़ से शिकार खेलते थे। यश भी कमाते थे, धन भी। भैरों का बड़ा मकान और सामने का मैदान सिमट गए, उनका क्षेत्रफल घट गया, त्रिमूर्ति की वहाँ कुछ पूजा न हुई। जगधर का छोटा-सा मकान फैल गया, त्रिमूर्ति ने उसकी भेंट से प्रसन्न होकर रस्सियाँ ढीली कर दीं, क्षेत्रफल बढ़ गया। ठाकुरदीन ने इन देवतों को प्रसन्न करने के बदले शिवजी को प्रसन्न करना ज़्यादा आसान समझा। वहाँ एक लोटे जल के सिवा विशेष खर्च न था। दोनो वक्त पानी देने लगे। पर इस समय त्रिमूर्ति का दौरदौरा था, शिवजी की एक न चली, त्रिमूर्ति ने उनके छोटे, पर पक्के घर को कच्चा सिद्ध किया। बजरंगी देवतों को प्रसन्न करना क्या जाने, उन्हें नाराज़ ही कर चुका था, पर जमुनी ने अपनी सुबुद्धि से बिगड़ता हुआ काम बना लिया। मुंशीजी उसकी एक बछिया पर रीझ गए, उस पर दाँत लगाए। बजरंगी जानवरों को प्राण से भी प्रिय समझता था, तिनक गया। नायकराम ने कहा, बजरंगी, पछताओगे। बजरंगी ने कहा, चाहे एक कौड़ी मुआवज़ा न मिले, पर बछिया न दूँगा। आखिर जमुनी ने, जो सौदे पटाने में बहुत कुशल थी, उसको एकांत में ले जाकर समझाया कि जानवरों के रहने का कहीं ठिकाना भी है? कहाँ लिए-लिए फिरोगे? एक बछिया के देने से सौ रुपए का काम निकलता है, तो क्यों नहीं निकालते? ऐसी न-जाने कितनी बछिया पैदा होंगी, देकर सिर से बला टालो। उसके समझाने से अंत में बजरंगी भी राज़ी हो गया।

पंद्रह दिन तक त्रिमूर्ति का राज्य रहा। तख़मीने के अफ़सर साहब बारह बजे घर से आते, अपने कमरे में दो-चार सिगार पीते, समाचार-पत्र पढ़ते, एक-दो बजे घर चल देते। जब तालिका तैयार हो गई, तो अफ़सर साहब उसकी जाँच करने लगे। फिर निवासियों की बुलाहट हुई।

अफ़सर ने सबके तख़मीने पढ़-पढ़कर सुनाए। एक सिरे से धाँधली थी। भैरों ने कहा—"हज़ूर, चलकर हमारा घर देख लें, वह बड़ा है कि जगधर का? इनको तो मिलें ४००), और मुझे मिले ३००)। इस हिसाब से मुझे ६००) मिलना चाहिए।"

ठाकुरदीन बिगड़ेदिल थे ही, साफ़-साफ़ कह दिया—"साहब, तख़मीना किसी हिसाब से थोड़े ही बनाया गया है। जिसने मुँह मीठा कर दिया, उसकी चाँदी हो गई; जो भगवान के भरोसे बैठा रहा, उसकी बधिया बैठ गई। अब भी आप मौक़े पर चलकर जाँच नहीं करते कि ठीक-ठीक तख़मीना हो जाय, ग़रीबों के गले रेत रहे हैं।"

अफ़सर ने बिगड़कर कहा—"तुम्हारे गाँव का मुखिया तो तुम्हारी तरफ़ से रख लिया गया था। उसकी सलाह से तख़मीना किया गया है। अब कुछ नहीं हो सकता।"

ठाकुरदीन—"अपने कहलानेवाले तो और लूटते हैं।"

अफ़सर—"अब कुछ नहीं हो सकता।"

सूरदास की झोपड़ी का मुआवज़ा १) रक्खा गया था, नायकराम के घर के पूरे ३ हज़ार! लोगों ने कहा—"यह गाँव-घरवालों का हाल! ये हमारे सगे हैं, भाई का गला काटते हैं। उस पर घमंड यह कि हमें धन का लोभ नहीं। आख़िर तो पंडा ही न, जात्रियों को ठगनेवाला! अभी तो यह हाल है। ज़रा-सा अख़्तियार पाके आँखें फिर गईं। कहीं थानेदार होते, तो किसी को घर में न रहने देते। इसी से कहा है, गंजे के नह नहीं होते।"

मिस्टर क्लार्क के बाद मि० सेनापति ज़िलाधीश हो गए थे। सरकार का धन ख़र्च करते काँपते थे। पैसे की जगह धेले से काम निकालते थे। डरते रहते थे कि कहीं बदनाम न हो जाऊँ। उनमें वह आत्मविश्वास न था, जो अँगरेज़ अफ़सरों को होता है। अँगरेज़ों पर पक्षपात का संदेह नहीं किया जा सकता, वे निर्भीक और स्वाधीन होते हैं। मि० सेनापति

को संदेह हुआ कि मुआवज़े बड़ी नरमी से लिखे गए हैं। उन्होंने उसकी आधी रक़म काफ़ी समझी। अब यह मिसिल प्रांतीय सरकार के पास स्वीकृति के लिये भेजी गई। वहाँ फिर उसकी जाँच होने लगी। इस तरह तीन महीने की अवधि गुज़र गई, और मि० जॉन सेवक पुलिस के सुपरिंटेंडेंट, दारोगा माहिरअली और मज़दूरों के साथ मुहल्ले को ख़ाली कराने के लिये आ पहुँचे। लोगों ने कहा, अभी तो हमको रुपए ही नहीं मिले। जॉन सेवक ने जवाब दिया, हमें तुम्हारे रुपयों से कोई मतलब नहीं, रुपए जिससे मिलें, उससे लो। हमें तो सरकार ने १ मई को मुहल्ला ख़ाली करा देने का वचन दिया है, और अगर कोई कह दे कि आज १ मई नहीं है, तो हम लौट जायँगे। अब लोगों में बड़ी खलबली पड़ी, सरकार की क्या नीयत है? क्या मुआवज़ा दिए बिना ही हमें निकाल दिया जायगा। घर-का-घर छोड़ें, और मुआवज़ा भी न मिले! यह तो बिना मौत मरे। रुपए मिल जाते, तो कहीं ज़मीन लेकर घर बनवाते। खाली हाथ कहाँ जायँ। क्या घर में ख़ज़ाना रक्खा हुआ है! एक तो रुपया के चार आने मिलने का हुक्म हुआ, उसका भी यह हाल! न-जाने सरकार की नीयत बदल गई कि बीचवाले खाए जाते हैं।

माहिरअली ने कहा—"तुम लोगों को जो कुछ कहना-सुनना है, जाकर हाकिम ज़िला से कहो। मकान आज ख़ाली करा लिए जायँगे।"

बजरंगी—"मकान कैसे खाली होंगे, कोई राहजनी है! जिस हाकिम का यह हुकुम है, उसी हाकिम का तो यह हुकुम भी है।"

माहिर—"कहता हूँ, सीधे से अपने बोरिए-बकचे लादो, और चलते-फिरते नज़र आओ। नाहक हमें गुस्सा क्यों दिलाते हो? कहीं मि० हंटर को आ गया जोश, तो फिर तुम्हारी ख़ैरियत नहीं।"

नायकराम—"दरोगाजी, दो-चार दिन की मुहलत दे दीजिए। रुपए मिलेंगे ही, ये बेचारे क्या बुरा कहते हैं कि बिना रुपए-पैसे कहाँ भटकते फिरें।"

मि० जॉन सेवक तो सुपरिंटेंडेंट को साथ लेकर मिल की सैर करने चले गए थे, वहाँ चाय-पानी का प्रबंध किया गया था, माहिरअली की हुकूमत थी। बोले—"पंडाजी, ये झाँसे दूसरों को देना। यहाँ तुम्हें बहुत दिनों से देख रहे हैं, और तुम्हारी नस-नस पहचानते हैं। मकान आज और आज खाली होंगे।"

सहसा एक ओर से दो बच्चे खेलते हुए आ गए, दोनो नंगे पाँव थे, फटे हुए कपड़े पहने, पर प्रसन्न-वदन। माहिरअली को देखते ही चचा-चचा कहते हुए उनकी तरफ़ दौड़े। ये दोनो साबिर और नसीमा थे। कुल्सूम ने इसी मुहल्ले में एक छोटा-सा मकान १) किराए पर ले लिया था। गोदाम का मकान जॉन सेवक ने खाली करा लिया था। बेचारी इसी छोटे-से घर में पड़ी अपनी मुसीबत के दिन काट रही थी। माहिर ने दोनो बच्चों को देखा, तो कुछ झेंपते हुए बोले—"भाग जाओ, भाग जाओ, यहाँ क्या करने आए?" दिल में शरमाए कि सब लोग कहते होंगे, ये इनके भतीजे हैं, और इतने फटे हाल, यह उनकी खबर भी नहीं लेते।

नायकराम ने दोनो बच्चों को दो-दो पैसे देकर कहा—"जाओ, मिठाई खाना, ये तुम्हारे चचा नहीं हैं।"

नसीमा—"हूँ! चचा तो हैं, क्या मैं पहचानती नहीं?"

नायकराम—"चचा होते, तो तुझे गोद में न उठा लेते, मिठाइयाँ न मँगा देते? तू भूल रही है।"

माहिरअली ने क्रुद्ध होकर कहा—"पंडाजी, तुम्हें इन फ़िज़ूल बातों से क्या मतलब? मेरे भतीजे हों या न हों, तुमसे सरोकार? तुम किसी की निज की बातों में बोलनेवाले कौन होते हो? भागो साबिर, नसीमा भाग, नहीं तो सिपाही पकड़ लेगा।"

दोनो बालकों ने अविश्वास-पूर्ण नेत्रों से माहिरअली को देखा, और भागे। रास्ते में नसीमा ने कहा—"चचा हो-जैसे तो हैं, क्यों साबिर, चचा ही हैं न?"

साबिर—"नहीं तो और कौन हैं ?"

नसीमा—"तो फिर हमें भगा क्यों दिया ?"

साबिर—"जब अब्बा थे, तब न हम लोगों को प्यार करते थे। अब तो अब्बा नहीं हैं न। तब तो अब्बा ही सबको खिलाते थे।"

नसीमा—"अम्मा को भी तो अब अब्बा नहीं खिलाते। वह तो हम लोगों को पहले से ज़्यादा प्यार करती हैं। पहले कभी पैसे न देती थीं, अब तो पैसे भी देती हैं।"

साबिर—"वह तो हमारी अम्मा हैं न।"

लड़के तो चले गए, इधर दारोगाजी ने सिपाहियों को हुक्म दिया—"फेक दो असबाब, और मकान फ़ौरन् खाली करा लो। ये लोग लात के आदमी हैं, बातों से न मानेंगे।"

दो कांस्टेबिल हुक्म पाते ही बजरंगी के घर में घुस गए, और बरतन निकाल-निकाल फेकने लगे। बजरंगी बाहर लाल आँखें किए खड़ा ओठ चबा रहा था। जमुनी घर में इधर-उधर दौड़ती-फिरती थी, कभी हाँडियाँ उठाकर बाहर लाती, कभी फेके हुए बरतनों को समेटती। मुँह एक क्षण के लिये भी बंद न होता था—"मूड़ी काटे कारखाना बनाने चले हैं, दुनिया को उजाड़कर अपना घर भरेंगे, भगवान भी ऐसे पापियों का संहार नहीं करते, न-जाने कहाँ जाके सो गए हैं! हाय! हाय! घिसुआ की जोड़ी पटककर तोड़ डाली!"

बजरंगी ने टूटी हुई जोड़ी उठा ली, और एक सिपाही के पास जाकर बोला—"जमादार, यह जोड़ी तोड़ डालने से तुम्हें क्या मिला? साबित उठा ले जाते, तो भला किसी काम तो आती! कुसल है कि लाल पगड़ी बाँधे हुए हो, नहीं तो आज......"

उसके मुँह से पूरी बात भी न निकली थी कि दोनो सिपाहियों ने उस पर डंडे चलाने शुरू किए, बजरंगी से अब ज़ब्त न हो सका, लपककर एक सिपाही की गरदन एक हाथ से और दूसरे की गरदन दूसरे हाथ से

पकड़ ली, और इतने ज़ोर से दबाई कि दोनो की आँखें निकल आईं। जमुनी ने देखा, अब अनर्थ हुआ चाहता है, तो रोती हुई बजरंगी के पास आकर बोली—"तुम्हें भगवान की कसम है, जो किसी से लड़ाई करो। छोड़ो-छोड़ो ! क्यों अपनी जान से बैर कर रहे हो !"

बजरंगी—"तू जा बैठ। फाँसी पा जाऊँ, तो मैके चली जाना। मैं तो इन दोनो के प्राण ही लेकर छोड़ूँगा।"

जमुनी—"तुम्हें घीसू की कसम, तुम मेरा ही मास खाओ, जो इन दोनो को छोड़कर यहाँ से चले न जाओ।"

बजरंगी ने दोनो सिपाहियों को छोड़ दिया, पर उसके हाथ से छूटना था कि वे दौड़े हुए माहिरअली के पास पहुँचे, और कई और सिपाहियों को लिए हुए फिर आए। पर बजरंगी को जमुनी पहले ही से टाल ले गई थी। सिपाहियों को शेर न मिला, तो शेर की माँद को पीटने लगे, घर की सारी चीज़ें तोड़-फोड़ डालीं। जो अपने काम की चीज़ नज़र आई, उस पर हाथ भी साफ़ किया। यही लीला दूसरे घरों में भी हो रही थी। चारो तरफ़ लूट मची हुई थी। किसी ने अंदर से घर के द्वार बंद कर लिए, कोई अपने बाल-बच्चों को लेकर पिछवाड़े से निकल भागा। सिपाहियों को मकान खाली कराने का हुक्म क्या मिला, लूट मचाने का हुक्म मिल गया। किसी को अपने बरतन-भाँड़े समेटने की मुहलत भी न देते थे। नायकराम के घर पर भी धावा हुआ। माहिरअली स्वयं पाँच सिपाहियों को लेकर घुसे। देखा, तो वहाँ चिड़िया का पूत भी न था, घर में झाड़ू फिरी हुई थी, एक टूटी हाँडी भी न मिली। सिपाहियों के हौसले मन ही में रह गए। सोचे थे, इस घर में ख़ूब बढ़-चढ़कर हाथ मारेंगे, पर निराश और लज्जित होकर निकलना पड़ा। बात यह थी कि नायकराम ने पहले ही अपने घर की चीज़ें निकाल फेंकी थीं।

उधर सिपाहियों ने घरों के ताले तोड़ने शुरू किए। कहीं किसी पर मार पड़ती थी, कहीं कोई अपनी चीज़ें लिए भागा जाता था। चिल-पों

मची हुई थी। विचित्र दृश्य था, मानो दिन दहाड़े डाका पड़ रहा हो। सब लोग घरों से निकलकर या निकाले जाकर सड़क पर जमा होते जाते थे। ऐसे अवसरों पर प्रायः उपद्रवकारियों का जमाव हो ही जाता है। लूट का प्रलोभन था ही, किसी को निवासियों से वैर था, किसी को पुलिस से अदावत, प्रतिक्षण शंका होती थी कि कहीं शांति न भंग हो जाय, कहीं कोई हंगामा न मच जाय। माहिरअली ने जन-समुदाय की त्योरियाँ देखीं, तो तुरत एक सिपाही को पुलिस की छावनी की ओर दौड़ाया, और चार बजते-बजते सशस्त्र पुलिस की एक टोली और आ पहुँची। कुमुक आते ही माहिरअली और भी दिलेर हो गए। हुक्म दिया—"मार-मारकर सबों को भगा दो। लोग वहाँ क्यों खड़े हैं? भगा दो। जिस आदमी को यहाँ खड़े देखो, मारो।" अब तक लोग अपने माल और असबाब समेटने में लगे हुए थ। मार भी पड़ती थी, तो चुपके से सह लेते थे। घर में अकेले कई-कई सिपाहियों से कैसे भिड़ते? अब सब-के-सब एक जगह खड़े हो गए थे। उन्हें कुछ तो अपनी सामूहिक शक्ति का अनुभव हो रहा था, उस पर नायकराम उकसाते जाते थे, यहाँ आएँ, तो बिना मारे न छोड़ना, दो-चार के हाथ-पैर जब तक न टूटेंगे, ये सब न मानेंगे। बारूद भड़कनेवाली ही थी कि इतने में इंदु की मोटर पहुँची, और उसमें से विनय, इंद्रदत्त और इंदु उतर पड़े। देखा, तो कई हज़ार आदमियों का हुजूम था। कुछ मुहल्ले के निवासी थे, कुछ राह-चलते मुसाफ़िर, कुछ आस-पास के गाँवों के रहनेवाले, कुछ मिल के मज़दूर। कोई केवल तमाशा देखने आया था, कोई पड़ोसियों से सहानुभूति करने, और कोई इस उपद्रव का ईर्ष्या-पूर्ण आनंद उठाने। माहिरअली और उनके सिपाही उस उत्साह के साथ, जो नीच प्रकृति के प्राणियों को दमन में होता है, लोगों को सड़क पर से हटाने की चेष्टा कर रहे थे; पर भीड़ पीछे हटने के बदले और आगे ही बढ़ती आती थी।

विनय ने माहिरअली के पास जाकर कहा—"दारोग़ाजी, क्या इन आदमियों को एक दिन की भी मुहलत नहीं मिल सकती ?"

माहिर—"मुहलत तो तीन महीने की थी, और अगर तीन साल की भी हो जाय, तो भी मकान ख़ाली करने के वक़्त यही हालत होगी। ये लोग सीधे से कभी न जायँगे।"

विनय—"आप इतनी कृपा कर सकते हैं कि थोड़ी देर के लिये सिपाहियों को रोक लें। जब तक मैं सुपरिंटेंडेंट को यहाँ की हालत की ख़बर दे दूँ ?"

माहिर—"साहब तो यहीं हैं। मि० जॉन सेवक उन्हें मिल दिखाने ले गए थे। मालूम नहीं, वहाँ से कहाँ चले गए, अब तक नहीं लौटे।"

वास्तव में साहब बहादुर कहीं गए न थे, जॉन सेवक के साथ दफ़्तर में बैठे आनद से शराब पी रहे थे। दोनो ही आदमियों ने वास्तविक स्थिति के समझने में ग़लती की थी। उनका अनुमान था कि हमको देखकर लोग रोब में आ गए होंगे, और मारे डर के आप-ही-आप भाग जायँगे।

विनय साहब को ख़बर देने के लिये लपके हुए मिल की तरफ़ चले, तो राजा साहब को मोटर पर आते देखा। ठिठक गए। सोचा, जब यह आ गए हैं, तो साहब के पास जाने की क्या ज़रूरत, इन्हीं से चलकर कहूँ। लेकिन उनके सामने जाते हुए शर्म आती थी कि कहीं जनता ने इनका अपमान किया, तो मैं क्या कहूँगा, कहीं यह न समझ बैठें कि मैंने ही इन लोगों को उकसाया है। वह इसी द्विविधा में पड़े हुए थे कि राजा साहब की निगाह इंदु की मोटर पर गई। जल उठे; इंद्रदत्त और विनय को देखा, ज्वर-सा चढ़ आया—"ये लोग यहाँ विराजमान हैं, फिर क्यों न दंगा हो! जहाँ ये महापुरुष होंगे, वहाँ जो कुछ न हो जाय, थोड़ा है।" उन्हें क्रोध बहुत कम आता था, पर इस समय उनसे

ज़ब्त न हुआ, विनय से बोले—"यह सब आप ही की करामात मालूम होती है !"

विनय ने शांत भाव से कहा—"मैं तो अभी आया हूँ। सुपरिंटेंडेंट के पास जा ही रहा था कि आप आते दिखाई दिए।"

राजा—"ख़ैर, अब तो आप इनके नेता हैं, इन्हें अपने किसी जादू-मंत्र से हटाइएगा कि मुझे कोई दूसरा उपाय करना पड़ेगा ?"

विनय—"इन लोगों को केवल इतनी शिकायत है कि अभी हमें मुआवज़ा नहीं मिला, हम कहाँ जायँ, कैसे ज़मीन ख़रीदें, कैसे नए मकान के सामान लें। आप अगर इन्हें कष्ट करके तसल्ली दे दें, तो सब आप-ही-आप हट जायँगे।"

राजा—"यह इन लोगों का बहाना है। वास्तव में ये लोग उपद्रव मचाना चाहते हैं।"

विनय—"अगर इन्हें मुआवज़ा दे दिया जाय, तो शायद कोई दूसरा उपाय न करना पड़े।"

राजा—"आप छ महीनेवाला रास्ता बताते हैं, मैं एक महीनेवाली राह चाहता हूँ।"

विनय—"उस राह में काँटे हैं।"

राजा—"इसकी कुछ चिंता नहीं। हमें काँटोंवाली राह ही पसंद है।"

विनय—"इस समय इस समूह की दशा सूखे पुआल की-सी है।"

राजा—"अगर पुआल हमारा रास्ता रोकता है, तो हम उसे जला देंगे।"

सभी लोग भयातुर हो रहे थे, न-जाने किस क्षण क्या हो जाय, फिर भी मनुष्यों का समूह किसी अज्ञात शक्ति के वशीभूत होकर राजा साहब की ओर बढ़ा चला आता था। पुलिसवाले भी इधर-उधर से आकर मोटर के पास खड़े होते थे। देखते-देखते उनके चारो ओर मनुष्यों की एक अथाह, अपार नदी लहर मारने लगी, मानो एक ही रेले

में इन गिने-गिनाए आदमियों को निगल जायगी, इस छोटे-से कगार को बहा ले जायगी।

राजा महेंद्रकुमार यहाँ आग में तेल डालने नहीं, उसे शांत करने आए थे। उनके पास दम-दम की ख़बरें पहुँच रही थीं। वह अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करके बहुत चिंतित हो रहे थे। नैतिक रूप से तो उन पर कोई ज़िम्मेदारी न थी। जब प्रांतीय सरकार का दबाव पड़ा, तो वह कर ही क्या सकते थे? अगर पद-त्याग कर देते, तो दूसरा आदमी आकर सरकारी आज्ञा का पालन करता। पाँड़ेपुरवालों के सिर से किसी दशा में भी यह विपत्ति न टल सकती थी, लेकिन वह आदि से निरंतर यह प्रयत्न कर रहे थे कि मकान खाली कराने के पहले लोगों को मुआवज़ा दे दिया जाय। बार-बार याद दिलाते थे। ज्यों-ज्यों अंतिम तिथि आती जाती थी, उनकी शंकाएँ बढ़ती जाती थीं। वह तो यहाँ तक चाहते थे कि निवासियों को कुछ रुपए पेशगी दे दिए जायँ, जिसमें वे पहले ही से अपना-अपना ठिकाना कर लें। पर किसी अज्ञात कारण से रुपए की स्वीकृति में विलंब हो रहा था। वह मि० सेनापति से बार-बार कहते कि आप मंजूरी की आशा पर अपने हुक्म से रुपए दिला दें; पर ज़िलाधीश कानों पर हाथ रखते थे कि न-जाने सरकार का क्या इरादा है, मैं बिना हुक्म पाए कुछ नहीं कर सकता। जब आज भी मंज़ूरी न आई, तो राजा साहब ने तार द्वारा पूछा। दोपहर तक वह जवाब का इंतज़ार करते रहे। आख़िर जब इस जमाव की ख़बर मिली, तो घबराए। उसी वक़्त दौड़े हुए ज़िलाधीश के बँगले पर गए कि उनसे कुछ सलाह लें। उन्हें आशा थी कि वह स्वयं घटनास्थल पर जाने को तैयार होंगे, पर वहाँ जाकर देखा, तो साहब बीमार पड़े थे। बीमारी क्या थी, बीमारी का बहाना था। बदनामी से बचने का यही उपाय था। राजा साहब से बोले—"मुझे खेद है, मैं नहीं जा सकता, आप जाकर उपद्रव को शांत करने के लिये जो उचित समझें, करें।"

महेंद्रकुमार अब बहुत घबराए, अपनी जान किसी भाँति बचती न नज़र आती थी—"अगर कहीं रक्तपात हो गया, तो मैं कहीं का न रहूँगा! सब कुछ मेरे ही सिर आएगी। पहले ही से लोग बदनाम कर रहे हैं। आज मेरे सार्वजनिक जीवन का अंत है! निरपराध मारा जा रहा हूँ! मुझ पर कुछ ऐसा शनीचर सवार हुआ है कि जो कुछ करना चाहता हूँ, उसके प्रतिकूल करता हूँ, जैसे अपने ऊपर कोई अधिकार ही न रहा हो। इस ज़मीन के झमेले में पड़ना ही मेरे लिये ज़हर हो गया। तब से कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती चली जाती हैं, जो मेरी महत्त्वाकांक्षाओं का सर्वनाश किए देती हैं। यश, कीर्ति, नाम, सम्मान को कौन रोए, मुँह दिखाने के लाले पड़े हुए हैं!"

यहाँ से निराश होकर वह फिर घर आए कि चलकर इंदु से राय लूँ, देखूँ, क्या कहती है। पर यहाँ इंदु न थी। पूछा, तो मालूम हुआ, सैर करने गई हैं।

इस समय राजा साहब की दशा उस कृपण की-सी थी, जो अपनी आँखों से अपना धन लुटते देखता हो, और इस भय से कि लोगों पर मेरे धनी होने का भेद खुल जायगा, कुछ बोल न सकता हो। अचानक उन्हें एक बात सूझी—

क्यों न मुआवज़े के रुपऐ अपने ही पास से दे दूँ? रुपए कहीं जाते तो हैं नहीं, जब मंजूरी आ जायगी, वापस ले लूँगा। दो-चार दिन का मुआमला है, मेरी बात रह जायगी, और जनता पर इसका कितना अच्छा असर पड़ेगा! कुल सत्तर हज़ार तो हैं ही। और इसकी क्या ज़रूरत है कि सब रुपए आज ही दे दिए जायँ? कुछ आज दे दूँ, कुछ कल, दे दूँ, तब तक मंजूरी आ ही जायगी। जब लोगों को रुपए मिलने लगेंगे, तो तस्कीन हो जायगी, यह भय न रहेगा कि कहीं सरकार रुपए ज़ब्त न कर ले। खेद है, मुझे पहले यह बात न सूझी, नहीं तो इतना झमेला ही क्यों होता। उन्होंने उसी वक़्त इंपीरियल बैंक के नाम

बीस हज़ार का चेक लिखा। देर बहुत हो गई थी, इसलिये बैंक के मैनेजर के नाम एक पत्र भी लिख दिया कि रुपए देने में विलंब न कीजिएगा, नहीं तो शांति भंग हो जाने का भय है। बैंक से आदमी रुपए लेकर लौटा, तो पाँच बज चुके थे। तुरत मोटर पर सवार होकर पाँड़ेपुर आ पहुँचे। आए तो थे ऐसी शुभेच्छाओं से, पर वहाँ विनय और इंदु को देखकर तैश आ गया। जी में आया, लोगों से कह दूँ, जिनके बूते पर उछल रहे हो, उनसे रुपए लो, इधर सरकार को लिख दूँ कि लोग विद्रोह करने पर तैयार हैं, उनके रुपए ज़ब्त कर लिए जायँ। उसी क्रोध में उन्होंने विनय से वे बातें कीं, जो ऊपर लिखी जा चुकी हैं। मगर जब उन्होंने देखा कि जन-समूह का रेला बढ़ा चला आ रहा है, लोगों के मुख आवेश-विकृत हो रहे हैं, सशस्त्र पुलिस संगीनें चढ़ाए हुए है, और इधर-उधर से दो-चार पत्थर भी चल रहे हैं, तो उनकी वही दशा हुई, जो भय में नशे की होती है। तुरत मोटर पर खड़े हो गए, और ज़ोर से चिल्लाकर बोले—"मित्रो, ज़रा शांत हो जाओ। यों दंगा करने से कुछ न होगा। मैं रुपए लाया हूँ, अभी तुमको मुआवज़ा मिल जायगा। सरकार ने अभी मंज़ूरी नहीं भेजी है, लेकिन तुम्हारी इच्छा हो, तो तुम मुझसे अपने रुपए ले सकते हो। इतनी-सी बात के वास्ते तुम्हारा यह दुराग्रह सर्वथा अनुचित है। मैं जानता हूँ कि यह तुम्हारा दोष नहीं है, तुमने किसी के बहकाने से ही शरारत पर कमर बाँधी है। लेकिन मैं तुम्हें उस विद्रोह-ज्वाला में न कूदने दूँगा, जो तुम्हारे शुभचिंतकों ने तैयार कर रक्खी है। यह लो, तुम्हारे रुपए हैं। सब आदमी बारी-बारी से आकर अपने नाम लिखाओ, अँगूठे का निशान करो, रुपए लो, और चुपके-चुपके घर जाओ।"

एक आदमी ने कहा—"घर तो आपने छीन लिए।"

राजा—"रुपयों से घर मिलने में देर न लगेगी, हमसे तुम्हारी जो कुछ सहायता हो सकेगी, वह उठा न रक्खेंगे। इस भीड़ को तुरंत हट जाना चाहिए, नहीं तो रुपए मिलने में देर होगी।"

जो जन-समूह उमड़े हुए बादलों की तरह भयंकर और गंभीर हो रहा था, यह घोषणा सुनते ही रुई के गालों की भाँति फट गया। न-जाने लोग कहाँ समा गए। केवल वे ही लोग रह गए, जिन्हें रुपए पाने थे, सामयिक सुबुद्धि मँडलाती हुई विपत्ति का कितनी सुगमता से निवारण कर सकती है, इसका यह उज्ज्वल प्रमाण था। एक अनुचित शब्द, एक कठोर वाक्य अवस्था को असाध्य बना देता।

पटवारी ने नामावली पढ़नी शुरू की। राजा साहब अपने हाथों से रुपए बाँटने लगे। असामी रुपए लेता था, अँगूठे का निशान बनाता था, और तब दो सिपाही उसके साथ कर दिए जाते थे कि जाकर मकान ख़ाली करा लें।

रुपए पाकर लौटते हुए लोग यों बातें करते जाते थे—

"एक मुसलमान—"यह राजा बड़ा मूज़ी है ; सरकार ने रुपए भेज दिए थे, पर दबाए बैठा था। हम लोग गरम न पड़ते, तो हज़म कर जाता।"

दूसरा—"सोचा होगा, मकान खाली करा लूँ, और रुपए सरकार को वापस करके सुर्ख़रू बन जाऊँ।"

एक ब्राह्मण ने इसका विरोध किया—"क्या बकते हो, बेचारे ने रुपए अपने पास से दिए हैं।"

तीसरा—"तुम भोले हो, ये चालें क्या जानो, जाके पोथी पढ़ो, और पैसे ठगो।"

चौथा—"सबों ने पहले ही सलाह कर ली होगी। आपस में रुपए बाँट लेते, हम लोग ठाठ ही पर रह जाते।"

एक मुंशीजी बोले—"इतना भी न करें, तो सरकार कैसे ख़ुश हो। इन्हें चाहिए था कि रिआया की तरफ़ से सरकार से लड़ते, मगर आप ख़ुद ही ख़ुशामदी टट्टू बने हुए हैं। सरकार का दबाव तो ढीला है।"

पाँचवाँ—"तो यह समझ लो, हम लोग न आ जाते; तो बेचारों को

कौड़ी भी न मिलती। घर से निकल जाने पर कौन देता है, और कौन लेता है! बेचारे माँगने जाते, तो चपरासियों से मारकर निकलवा देते।"

जनता की दृष्टि में एक वार विश्वास खोकर फिर जमाना मुश्किल है। राजा साहब को जनता के दरबार से यह उपहार मिल रहा था!

संध्या हो गई थी। चार-ही-पाँच असामियों को रुपए मिलने पाए थे कि अँधेरा हो गया। राजा साहब ने लैंप की रोशनी में नौ बजे रात तक रुपए बाँटे। तब नायकराम ने कहा—

"सरकार, अब तो बहुत देर हुई। न हो, कल पर उठा रखिए।"

राजा साहब भी थक गए थे, जनता को भी अब रुपए मिलने में कोई बाधा न दीखती थी, काम कल के लिये स्थगित कर दिया गया। मगर सशस्त्र पुलिस ने वहीं डेरा जमाया कि कहीं फिर न लोग जमा हो जायँ।

दूसरे दिन दस बजे फिर राजा साहब आए, विनय और इंद्रदत्त भी कई सेवकों के साथ आ पहुँचे। नामावली खोली गई। सबसे पहले सूरदास की तलबी हुई। लाठी टेकता हुआ आकर राजा साहब के सामने खड़ा हो गया।

राजा साहब ने उसे सिर से पाँव तक देखा, और बोले—"तुम्हारे मकान का मुआवज़ा केवल १) है, यह लो, और घर ख़ाली कर दो।"

सूरदास—"कैसा रुपया?"

राजा—"अभी तुम्हें मालूम ही नहीं, तुम्हारा मकान सरकार ने ले लिया है। यह उसी का मुआवज़ा है।"

सूरदास—"मैंने तो अपना मकान बेचने को किसी से नहीं कहा।"

राजा—"और लोग भी तो खाली कर रहे हैं।"

सूरदास—"जो लोग छोड़ने पर राज़ी हों, उन्हें दीजिए। मेरी झोपड़ी रहने दीजिए। पड़ा रहूँगा, और हजूर का कल्यान मनाता रहूँगा।"

राजा—"यह तुम्हारी इच्छा की बात नहीं है, सरकारी हुक्म है। सरकार को इस ज़मीन की ज़रूरत है। यह क्योंकर हो सकता है कि और मकान गिरा दिए जायँ, और तुम्हारा झोपड़ा बना रहे?"

सूरदास—"सरकार के पास जमीन की क्या कमी है। सारा मुलुक पड़ा हुआ है। एक गरीब की झोपड़ी छोड़ देने से उसका काम थोड़े ही रुक जायगा।"

राजा—"व्यर्थ की हुज्जत करते हो, यह रुपया लो, अँगूठे का निशान बनाओ, और जाकर झोपड़ी में से अपना सामान निकाल लो।"

सूरदास—"सरकार जमीन लेकर क्या करेगी? यहाँ कोई मंदिर बनेगा? कोई तालाब खुदेगा? कोई धरमसाला बनेगी? बताइए।"

राजा—"यह मैं कुछ नहीं जानता।"

सूरदास—"जानते क्यों नहीं, दुनिया जानती है, बच्चा-बच्चा जानता है। पुतलीघर के मजूरों के लिये घर बनेंगे। बनेंगे, तो उससे मेरा क्या फायदा होगा कि घर छोड़कर निकल जाऊँ! जो कुछ फायदा होगा, साहब को होगा। परजा की तो बरबादी ही है। ऐसे काम के लिये मैं अपना झोपड़ा न छोड़ूँगा। हाँ, कोई धरम का काम होता, तो सबसे पहले मैं अपना झोपड़ा दे देता। इस तरह जबरजस्ती करने का आपको अखतियार है, सिपाहियों को हुक्म दे दें, फूस में आग लगते कितनी देर लगती है। पर यह न्याय नहीं है। पुराने जमाने में एक राजा अपना बगीचा बनवाने लगा, तो एक बुढ़िया की झोपड़ी बीच में पड़ गई। राजा ने उसे बुलाकर कहा, तू यह झोपड़ी मुझे दे दे, जितने रुपए कह, तुझे दे दूँ, जहाँ कह, तेरे लिये घर बनवा दूँ। बुढ़िया ने कहा, मेरा झोपड़ा रहने दीजिए। जब दुनिया देखेगी कि आपके बगीचे के एक कोने में बुढ़िया की झोपड़ी है, तो आपके धरम और न्याय की बड़ाई करेगी। बगीचे की दीवार दस-पाँच हाथ टेढ़ी हो जायगी, पर इससे आपका नाम सदा के लिये अमर हो जायगा। राजा ने बुढ़िया की झोपड़ी छोड़ दी। सरकार का

धरम परजा को पालना है कि उसका घर उजाड़ना, उसको बरबाद करना ?"

राजा साहब ने झुँझलाकर कहा—"मैं तुमसे दलील करने नहीं आया हूँ, सरकारी हुक्म की तामील करने आया हूँ।"

सूरदास—"हजूर, मेरी मजाल है कि आपसे दलील करूँ सकूँ ! मगर मुझे उजाड़िए मत, बाप-दादों की निसानी यही झोपड़ी रह गई है, इसे बनी रहने दीजिए।"

राजा साहब को इतना अवकाश कहाँ था कि एक-एक असामी से घंटों वाद-विवाद करते। उन्होंने दूसरे आदमी के बुलाने का हुक्म दिया।

इंद्रदत्त ने देखा कि सूरदास अब भी वहीं खड़ा है, हटने का नाम नहीं लेता, तो डरे कि राजा साहब कहीं उसे सिपाहियों से धक्के देकर हटवा न दें। धीरे से उसका हाथ पकड़कर अलग ले गए, और बोले—"सूरे, है तो अन्याय; मगर क्या करोगे, झोपड़ी तो छोड़नी ही पड़ेगी। जो कुछ मिलता है, ले लो। राजा साहब की बदनामी का डर है, नहीं तो मैं तुमसे लेने को न कहता।"

कई आदमियों ने इन लोगों को घेर लिया। ऐसे अवसरों पर लोगों की उत्सुकता बढ़ी हुई होती है। क्या हुआ ? क्या कहा ? क्या जवाब दिया ? सभी इन प्रश्नों के जिज्ञासु होते हैं। सूरदास ने सजल नेत्रों से ताकते हुए आवेश-कंपित कंठ से कहा—"भैया, तुम भी कहते हो कि रुपया ले लो ! मुझे तो इस पुतलीघर ने पीस डाला। बाप-दादों की निसानी दस बीघे जमीन थी, वह पहले ही निकल गई, अब यह झोपड़ी भी छीनी जा रही है। संसार इसी माया-मोह का नाम है। जब इससे मुक्त हो जाऊँगा, तो झोपड़ी में रहने न आऊँगा। लेकिन जब तक जीता हूँ, अपना घर मुझसे न छोड़ा जायगा। अपना घर है, नहीं देते। हाँ, जबरजस्ती जो चाहे, ले ले।"

इंद्रदत्त—"जबरदस्ती कोई नहीं कर रहा है। क़ानून के अनुसार ही

ये मकान ख़ाली कराए जा रहे हैं। सरकार को अधिकार है कि वह किसी सरकारी काम के लिये जो मकान या ज़मीन चाहे, ले ले।"

सूरदास—"होगा कानून, मैं तो एक धरम का क़ानून जानता हूँ, इस तरह जबरजस्ती करने के लिये जो कानून चाहे, बना लो। यहाँ कोई सरकार का हाथ पकड़नेवाला तो है नहीं। उसके सलाहकार भी तो सेठ-महाजन ही हैं।"

इंद्रदत्त ने राजा साहब के पास जाकर कहा—"आप अंधे का मुआमला आज स्थगित कर दें, तो अच्छा हो। गँवार आदमी, बात नहीं समझता, बस अपनी ही गाए जाता है।"

राजा ने सूरदास को कुपित नेत्रों से देखकर कहा—"गँवार नहीं है, छटा हुआ बदमाश है। हमें और तुम्हें, दोनो ही को क़ानून पढ़ा सकता है। है भिखारी, मगर टर्रा। मैं इसका झोपड़ा गिरवाए देता हूँ।"

इस वाक्य के अंतिम शब्द सूरदास के कानों में पड़ गए। बोला—"झोपड़ा क्यों गिराइएगा? इससे तो यही अच्छा कि मुझी को गोली मरवा दीजिए।"

यह कहकर सूरदास लाठी टेकता हुआ वहाँ से चला गया। राजा साहब को उसकी धृष्टता पर क्रोध आ गया। ऐश्वर्य अपने को बड़ी मुश्किल से भूलता है, विशेषतः जब दूसरों के सामने उसका अपमान किया जाय। माहिरअली को बुलाकर कहा—"इसकी झोपड़ी अभी गिरा दो।"

दारोग़ा माहिरअली चले, निःशस्त्र पुलिस, सशस्त्र पुलिस और मज़दूरों का एक दल उनके साथ चला, मानो किसी क़िले पर धावा करने जा रहे हैं। उनके पीछे-पीछे जनता का एक समूह भी चला। राजा ने इन आदमियों के तेवर देखे, तो होश उड़ गए। उपद्रव की आशंका हुई। झोपड़े को गिराना इतना सरल न प्रतीत हुआ, जितना उन्होंने समझा था। पछताए कि मैंने व्यर्थ माहिरअली को यह हुक्म दिया। जब मुहल्ला

मैदान हो जाता, तो झोपड़ा आप-ही-आप उजड़ जाता, सूरदास कोई भूत तो है नहीं कि अकेला उसमें पड़ा रहता। मैंने चिंवटी को तलवार से मारने की चेष्टा की! माहिरअली क्रोधी आदमी है, और इन आदमियों के रुख भी बदले हुए हैं। जनता क्रोध में अपने को भूल जाती है, मौत पर हँसती है। कहीं माहिरअली उतावली कर बैठा, तो निस्संदेह उपद्रव हो जायगा। इसका सारा इलज़ाम मेरे सिर जायगा। यह अंधा आप तो डूबा ही हुआ है, मुझे भी डुबाए देता है। बुरी तरह मेरे पीछे पड़ा हुआ है। लेकिन इस समय वह हाकिम की हैसियत में थे। हुक्म को वापस न ले सकते थे। सरकार की आबरू में बट्टा लगने से कहीं ज्यादा भय अपनी आबरू में बट्टा लगने का था। अब यही एक उपाय था कि जनता को झोपड़े की ओर न जाने दिया जाय। सुपरिंटेंडेंट अभी-अभी मिल से लौटा था, और घोड़े पर सवार सिगार पी रहा था कि राजा साहब ने जाकर उससे कहा—"इन आदमियों को रोकना चाहिए।"

उसने कहा—"जाने दीजिए, कोई हरज नहीं, शिकार होगा।"

"भीषण हत्या होगी।"

"हम इसके लिये तैयार हैं।"

विनय के चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। न आगे जाते बनता था, न पीछे। घोर आत्मवेदना का अनुभव करते हुए बोले—"इंद्र, मैं बड़े संकट में हूँ।"

इंद्रदत्त ने कहा—"इसमें क्या संदेह है।"

"जनता को काबू में रखना कठिन है।"

"आप जाइए, मैं देख लूँगा। आपका यहाँ रहना उचित नहीं।"

"तुम अकेले हो जाओगे!"

"कोई चिंता नहीं।"

"तुम भी मेरे साथ क्यों नहीं चलते? अब हम यहाँ रहकर क्या कर लेंगे, हम अपने कर्तव्य का पालन कर चुके।"

"आप जाइए। आपको जो संकट है, वह मुझे नहीं। मुझे अपने किसी आत्मीय के मानापमान का भय नहीं।"

विनय वहीं अशांत और निश्चल खड़े रहे, या यों कहो कि गड़े रहे, मानो कोई स्त्री घर से निकाल दी गई हो। इंद्रदत्त उन्हें वहीं छोड़कर आगे बढ़े, तो जन-समूह उसी गली के मोड़ पर रुका हुआ था, जो सूरदास के झोपड़े की ओर जाती थी। गली के द्वार पर पाँच सिपाही संगीनें चढ़ाए खड़े थे। एक क़दम आगे बढ़ना संगीन की नोक को छाती पर लेना था। संगीनों की दीवार सामने खड़ी थी।

इंद्रदत्त ने एक कुएँ की जगत पर खड़े होकर उच्च स्वर से कहा—"भाइयो, सोच लो, तुम लोग क्या चाहते हो? क्या इस झोपड़ी के लिये पुलिस से लड़ोगे? अपना और अपने भाइयों का रक्त बहाओगे? इन दामों यह झोपड़ी बहुत महँगी है। अगर उसे बचाना चाहते हो, तो इन आदमियों ही से विनय करो, जो इस वक़्त वरदी पहने, संगीनें चढ़ाए, यमदूत बने हुए तुम्हारे सामने खड़े हैं, और यद्यपि प्रकट रूप से वे तुम्हारे शत्रु हैं, पर उनमें एक भी ऐसा न होगा, जिसका हृदय तुम्हारे साथ न हो, जो एक असहाय, दुर्बल, अंधे की झोपड़ी गिराने में अपनी दिलावरी समझता हो। इनमें सभी भले आदमी हैं, जिनके बाल-बच्चे हैं, जो थोड़े वेतन पर तुम्हारे जान-माल की रक्षा करने के लिये घर से आए हैं।"

एक आदमी—"हमारे जान-माल की रक्षा करते हैं, या सरकार के रोब-दाब की?"

इंद्रदत्त—"एक ही बात है। तुम्हारे जान-माल की रक्षा के लिये सरकार के रोब-दाब की रक्षा करनी परमावश्यक है। इन्हें जो वेतन मिलता है, वह एक मजूर से भी कम है...।"

एक प्रश्न—"बग्घी-इक्केवालों से पैसे नहीं लेते?"

दूसरा प्रश्न—"चोरियाँ नहीं कराते? जुआ नहीं खेलाते? घूस नहीं खाते?"

इंद्रदत्त—"यह सब इसीलिये होता है कि वेतन जितना मिलना चाहिए, उतना नहीं मिलता। ये भी हमारी और तुम्हारी भाँति मनुष्य हैं, इनमें भी दया और विवेक है, ये भी दुर्बलों पर हाथ उठाना नीचता समझते हैं। जो कुछ करते हैं, मजबूर होकर। इन्हीं से कहो, अंधे पर तरस खाएँ, उसकी झोपड़ी बचाएँ। (सिपाहियों से) क्यों मित्रो, तुमसे इस दया की आशा रक्खें ? इन मनुष्यों पर क्या करोगे !"

इंद्रदत्त ने एक ओर जनता के मन में सिपाहियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा की, और दूसरी ओर सिपाहियों की मनोगत दया को जाग्रत् करने की। हवलदार संगीनों के पीछे खड़ा था। बोला—"हमारी रोज़ी बचाकर और जो चाहे कीजिए। इधर से न जाइए।"

इंद्रदत्त—"तो रोज़ी के लिये इतने प्राणियों का सर्वनाश कर दोगे ? ये बेचारे भी तो एक दीन की रक्षा करने आए हैं। जो ईश्वर यहाँ तुम्हारा पालन करता है, वह क्या किसी दूसरी जगह तुम्हें भूखों मारेगा ? अरे ! यह कौन पत्थर फेकता है ? याद रक्खो, तुम लोग न्याय की रक्षा करने आए हो, बलवा करने नहीं। ऐसे नीच आघातों से अपने को कलंकित न करो। मत हाथ उठाओ, अगर तुम्हारे ऊपर गोलियों की बाढ़ भी चले ......।"

इंद्रदत्त को कुछ और कहने का अवसर न मिला। सुपरिंटेंडेंट ने गली के मोड़ पर आदमियों का जमाव देखा, तो घोड़ा दौड़ाता इधर चला। इंद्रदत्त की आवाज़ कानों में पड़ी, तो डाटकर बोला—"हटा दो इसको। इन सब आदमियों को अभी सामने से हटा दो। तुम सब आदमी अभी हट जाओ, नहीं हम गोली मार देगा।"

समूह जौ-भर भी न हटा।

"अभी हट जाओ, नहीं हम फ़ायर कर देगा।"

कोई आदमी अपनी जगह से न हिला।

सुपरिंटेंडेंट ने तीसरी बार आदमियों को हट जाने की आज्ञा दी।

समूह शांत, गंभीर, स्थिर रहा।

फ़ायर करने की आज्ञा हुई, सिपाहियों ने बंदूक़ें हाथ में लीं। इतने में राजा साहब बदहवास आकर बोले—"For God's sake Mr. Brown spare me!" लेकिन हुक्म हो चुका था। बाढ़ चली, बंदूक़ों के मुँह से धुआँ निकला, धायँ-धायँ की रोमांचकारी ध्वनि निकली, और कई आदमी चक्कर खाकर गिर पड़े। समूह की ओर से पत्थरों की बौछार होने लगी। दो-चार टहनियाँ गिर पड़ी थीं, किंतु वृक्ष अभी तक खड़ा था।

फिर बंदूक़ चलाने की आज्ञा हुई। राजा साहब ने अब की बहुत गिड़गिड़ाकर कहा—"Mr. Brown, these, shots' are piercing my heart" किंतु आज्ञा मिल चुकी थी, दूसरी बाढ़ चली, फिर कई आदमी गिर पड़े। डालियाँ गिरीं, लेकिन वृक्ष स्थिर खड़ा रहा।

तीसरी बार फ़ायर करने की आज्ञा दी गई। राजा साहब ने सजल-नयन होकर व्यथित कंठ से कहा—"Mr. Brown, now I am done for!" बाढ़ चली, कई आदमी गिरे, और उनके साथ इंद्रदत्त भी गिरे। गोली वक्षःस्थल को चीरती हुई पार हो गई थी। वृक्ष का तना गिर गया!

समूह में भगदर पड़ गई। लोग गिरते-पड़ते, एक दूसरे को कुचलते, भाग खड़े हुए। कोई किसी पेड़ की आड़ में छिपा, कोई किसी घर में घुस गया, कोई सड़क के किनारे की खाइयों में जा बैठा; पर अधिकांश लोग वहाँ से हटकर सड़क पर आ खड़े हुए।

नायकराम ने विनयसिंह से कहा—"भैया, क्या खड़े हो, इंद्रदत्त को गोली लग गई!"

विनय अभी तक उदासीन भाव से खड़े थे। यह ख़बर पाते ही गोली-सी लग गई। बेतहाशा दौड़े, और संगीनों के सामने, गली के द्वार पर, आकर खड़े हो गए। उन्हें देखते ही भागनेवाले सँभल गए; जो छिपे बैठे थे, निकल पड़े। जब ऐसे-ऐसे लोग मरने को तैयार हैं, जिनके लिये

संसार में सुख-ही-सुख है, तो फिर हम किसी गिनती में हैं। यह विचार लोगों के मन में उठा। गिरती हुई दीवार फिर खड़ी हो गई। सुपरिंटेंडेंट ने दाँत पीसकर चौथी बार फ़ायर करने का हुक्म दिया। लेकिन यह क्या? कोई सिपाही बंदूक़ नहीं चलाता, हवलदार ने बंदूक़ ज़मीन पर पटक दी, सिपाहियों ने भी उसके साथ ही अपनी-अपनी बंदूकें रख दीं। हवलदार बोला—"हुज़ूर को अख़्तियार है, जो चाहें करें; लेकिन अब हम लोग गोली नहीं चला सकते। हम भी मनुष्य हैं, हत्यारे नहीं।"

ब्रॉउन—"कोर्टमार्शल होगा।"

हवलदार—"हो जाय।"

ब्रॉउन—"नमकहराम लोग!"

हवलदार—"अपने भाइयों का गला काटने के लिये नहीं, उनकी रक्षा करने के लिये नौकरी की थी!"

यह कहकर सब-के-सब पीछे की ओर फिर गए, और सूरदास के झोपड़े की तरफ़ चले। उनके साथ ही कई हज़ार आदमी जय-जयकार करते हुए चले। विनय उनके आगे-आगे थे! राजा साहब और ब्रॉउन, दोनो खोए हुए-से खड़े थे। उनकी आँखों के सामने एक ऐसी घटना घटित हो रही थी, जो पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी, जो परंपरा के विरुद्ध, मानव-प्रकृति के विरुद्ध, नीति के विरुद्ध थी। सरकार के वे पुराने सेवक, जिनमें से कितनों ही ने अपने जीवन का अधिकांश प्रजा का दमन करने ही में व्यतीत किया था, यों अकड़ते हुए चले जायँ! अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राणों को भी, समर्पित करने को तैयार हो जायँ! राजा साहब अब तक उत्तरदायित्व के भार से काँप रहे थे, अब यह भय हुआ कि कहीं ये लोग मुझ पर टूट न पड़ें। ब्रॉउन तो घोड़े पर सवार आदमियों को हंटर मार-मारकर भगाने की चेष्टा कर रहा था, और राजा साहब अपने लिये छिपने की कोई जगह तलाश कर रहे थे, लेकिन किसी ने उनकी तरफ़ ताका भी नहीं। सब-के-सब विजय-घोष

करते हुए, तरल वेग से सूरदास की झोपड़ी की ओर दौड़े चले जाते थे। वहाँ पहुँचकर देखा, तो झोपड़े के चारो तरफ़ सैकड़ों आदमी खड़े थे, माहिरअली अपने आदमियों के साथ नीम के वृक्ष के नीचे खड़े नई सशस्त्र पुलिस की प्रतीक्षा कर रहे थे, हिम्मत न पड़ती थी कि इस व्यूह को चीरकर झोपड़े के पास जायँ। सबके आगे नायकराम कंधे पर लट्ठ रक्खे खड़े थे। इस व्यूह के मध्य में, झोपड़े के द्वार पर, सूरदास सिर झुकाए बैठा हुआ था, मानो धैर्य, आत्मबल और शांत तेज की सजीव मूर्ति हो।

विनय को देखते ही नायकराम आकर बोला—"भैया, तुम अब कुछ चिंता मत करो! मैं यहाँ सँभाल लूँगा। इधर महीनों से सूरदास से मेरी अनबन थी, बोलचाल तक बंद था, पर आज उसका जीवट-जिगर देखकर दंग हो गया। एक अंधे अपाहिज में यह हियाव! हम लोग देखने ही को मिट्टी का यह बोझ लादे हुए हैं।"

विनय—"इंद्रदत्त का मरना ग़ज़ब हो गया!"

नायकराम—"भैया, दिल न छोटा करो, भगवान की यही इच्छा होगी!"

विनय—"कितनी वीर-मृत्यु पाई है!"

नायकराम—"मैं तो खड़ा देखता ही था, माथे पर सिकन तक नहीं आई।"

विनय—"मुझे क्या मालूम था कि आज यह नौबत आएगी, नहीं पहले खुद जाता। वह अकेले सेवा-दल का काम सँभाल सकते थे, मैं नहीं सँभाल सकता। कितना सहास मुख था! कठिनाइयों को तो ध्यान में ही न लाते थे, आग में कूदने के लिये तैयार रहते थे। कुशल यही है कि अभी विवाह नहीं हुआ था।"

नायकराम—"घरवाले कितना जोर देते रहे, पर इन्होंने एक बार नहीं करके फिर हाँ न की।"

विनय—"एक युवती के प्राण बच गए।"

नायकराम—"कहाँ की बात भैया, ब्याह हो गया होता, तो वह इस तरह धड़क गोलियों के सामने जाते ही न। बेचारे माता-पिता का क्या हाल होगा!"

विनय—"रो-रोकर मर जायँगे और क्या।"

नायकराम—"इतना अच्छा है कि और कई भाई हैं, और घर के पोढ़े हैं।"

विनय—"देखो, इन सिपाहियों की क्या गति होती है। कल तक फ़ौज आ जायगी। इन ग़रीबों की भी कुछ फ़िक्र करनी चाहिए।"

नायकराम—"क्या फिकिर करोगे भैया? उसका कोटमासल होगा। भागकर कहाँ जायँगे।"

विनय—"यही तो उनसे कहना है कि भागें नहीं, जो कुछ किया है, उसका यश लेने से न डरें। हवलदार को फाँसी हो जायगी।"

यह कहते हुए दोनो आदमी झोपड़े के पास आए, तो हवलदार बोला—"कुँवरसाहब, मेरा तो कोटमासल होगा ही, मेरे बाल-बच्चों की खबर लीजिएगा।" यह कहते-कहते वह धाड़ मार-मार रोने लगा।

बहुत-से आदमी जमा हो गए, और कहने लगे—"कुँवर साहब, चंदा खोल दीजिए। हवलदार! तुम सच्चे सूरमा हो, जो निर्बलों पर हाथ नहीं उठाते।"

विनय—"हवलदार, हमसे जो कुछ हो सकेगा, वह उठा न रक्खेंगे। आज तुमने हमारे मुख की लाली रख ली।"

हवलदार—"कुँवर साहब, मरने-जीने की चिंता नहीं, मरना तो एक दिन होगा ही, अपने भाइयों की सेवा करते हुए मारे जाने से बढ़कर और कौन मौत होगी। धन्य है आपको, जो सुख विलास त्यागे हुए अभागों की रक्षा कर रहे हैं।"

विनय—"तुम्हारे साथ के जो आदमी नौकरी करना चाहें, उन्हें हमारे यहाँ जगह मिल सकती है।"

हवलदार—"देखिए, कौन बचता है, और कौन मरता है।"

राजा साहब ने अवसर पाया, तो मोटर पर बैठकर हवा हो गए। मि० ब्रॉउन सैनिक सहायता के विषय में ज़िलाधीश से परामर्श करने चले गए। माहिरअली और उनके सिपाही वहाँ जमे रहे। अँधेरा हो गया था, जनता भी एक-एक करके जाने लगी। सहसा सूरदास आकर बोला—"कुँवरजी कहाँ हैं? धर्मावतार, हाथ-भर जमीन के लिये क्यों इतना झंझट करते हो? मेरे कारन आज इतने आदमियों की जान गई। मैं क्या जानता था कि राई का परवत हो जायगा, नहीं तो अपने हाथों से इस झोपड़े में आग लगा देता, और मुँह में कालिख लगाकर कहीं निकल जाता। मुझे क्या करना था; जहीं माँगता, वहीं पड़ रहता। भैया, मुझसे यह नहीं देखा जाता कि मेरी झोपड़ी के पीछे कितने ही घर उजड़ जायँ। जब मर जाऊँ, तो जो जी में आए, करना।"

विनय—"तुम्हारी झोपड़ी नहीं, हमारा जातीय मंदिर है। हम इस पर फावड़े चलते देखकर शांत नहीं बैठ रह सकते।"

सूरदास—"पहले मेरी देह पर फावड़ा चल चुकेगा, तब घर पर फावड़ा चलेगा।"

विनय—"और अगर आग लगा दें?"

सूरदास—"तब तो मेरी चिता बनी-बनाई है। भैया, मैं तुमसे और सब भाइयों से हाथ जोड़कर कहता हूँ कि अगर मेरे कारन किसी मा की गोद सूनी हुई, या मेरी कोई बहन विधवा हुई, तो मैं इस झोपड़ी में आग लगाकर जल मरूँगा।"

विनय ने नायकराम से कहा—"अब!"

नायकराम—"बात का धनी है; जो कहेगा, ज़रूर करेगा।"

विनय—"तो फिर अभी इसी तरह चलने दो। देखो, उधर से कल क्या गुल खिलता है। उनका इरादा देखकर हम लोग सोचेंगे, हमें क्या करना चाहिए। अब चलो, अपने वीरों की सद्गति

करें। ये हमारे क़ौमी शहीद हैं, इनका जनाज़ा धूम से निकलना चाहिए।"

नौ बजते-बजते नौ अर्थियाँ निकलीं और तीन जनाज़े। आगे-आगे इंद्रदत्त की अर्थी थी, पीछे-पीछे अन्य वीरों की। जनाज़े कब्रिस्तान की तरफ़ गए। अर्थियों के पीछे कोई दस हज़ार आदमी, नंगे सिर, नंगे पाँव, सिर झुकाए, चले जाते थे। पग-पग पर समूह बढ़ता जाता था, चारो ओर से लोग दौड़े चले आते थे। लेकिन किसी के मुख पर शोक या वेदना का चिह्न न था, न किसी आँख में आँसू थे, न किसी कंठ से आर्त-नाद की ध्वनि निकलती थी। इसके प्रतिकूल लोगों के हृदय गर्व से फूले हुए थे, आँखों में स्वदेशाभिमान का मद भरा हुआ था। यदि इस समय रास्ते में तोपें चढ़ा दी जातीं, तो भी जनता के क़दम पीछे न हटते। न कहीं शोक-ध्वनि थी, न विजय-नाद था, अलौकिक निस्तब्धता थी, भाव-मयी, प्रवाहमयी, उल्लासमयी !

रास्ते में राजा महेंद्रकुमार का भवन मिला। राजा साहब छत पर खड़े यह दृश्य देख रहे थे। द्वार पर सशस्त्र रक्षकों का एक दल संगीनें चढ़ाए खड़ा था। ज्यों ही अर्थियाँ उनके द्वार के सामने से निकलीं, एक रमणी अंदर से निकलकर जन-प्रवाह में मिल गई। यह इंदु थी। उस पर किसी की निगाह न पड़ी। उसके हाथों में गुलाब के फूलों की एक माला थी, जो उसने स्वयं गूँथी थी। वह यह हार लिए हुए आगे बढ़ी, और इंद्रदत्त की अर्थी के पास जाकर अश्रु-बिंदुओं के साथ उस पर चढ़ा दिया। विनय ने देख लिया। बोले—'इंदु !" इंदु ने उनकी ओर जल-पूरित लोचनों से देखा, और कुछ न बोली—कुछ बोल न सकी।

गंगे ! ऐसा प्रभावशाली दृश्य कदाचित् तुम्हारी आँखों ने भी न देखा होगा ! तुमने बड़े-बड़े वीरों को भस्म का ढेर होते देखा है, जो शेरों का मुँह फेर सकते थे, बड़े-बड़े प्रतापी भूपति तुम्हारी आँखों के सामने खाक में मिल गए, जिनके सिंहनाद से दिक्पाल थर्राते थे, बड़े-बड़े

प्रभुत्वशाली योधा यहाँ चिताग्नि में समा गए! कोई यश और कीर्ति का उपासक था, कोई राज्य-विस्तार का, कोई मत्सर-ममत्व का। कितने ज्ञानी, विरागी, योगी, पंडित तुम्हारी आँखों के सामने चितारूढ़ हो गए। सच कहना, कभी तुम्हारा हृदय इतना आनंद-पुलकित हुआ था? कभी तुम्हारी तरंगों ने इस भाँति सिर उठाया था? अपने लिये सभी मरते हैं, कोई इहलोक के लिये, कोई परलोक के लिये। आज तुम्हारी गोद में वे लोग आ रहे हैं, जो निष्काम थे, जिन्होंने पवित्र, विशुद्ध न्याय की रक्षा के लिये अपने को बलिदान कर दिया।

और, ऐसा मंगलमय शोक-समाज भी तुमने कभी देखा, जिसका एक-एक अंग भ्रातृप्रेम, स्वजाति-प्रेम और वीर-भक्ति से परिपूर्ण हो?

रात-भर ज्वाला उठती रही, मानो वीरात्माएँ अग्नि-विमान पर बैठी हुई स्वर्गलोक को जा रही हैं।

ऊषा-काल की स्वर्णमयी किरणें चिताओं से प्रेमालिंगन करने लगीं। यह सूर्यदेव का आशीर्वाद था।

लौटते समय तक केवल गिने-गिनाए लोग रह गए थे। महिलाएँ वीर-गान करती हुई चली आती थीं। रानी जाह्नवी आगे-आगे थीं, सोफ़ी, इंदु और कई अन्य महिलाएँ पीछे। उनकी वीर-रस में डूबी हुई मधुर संगीत-ध्वनि प्रभात की आलोक-रश्मियों पर नृत्य कर रही थी, जैसे हृदय की तंत्रियों पर अनुराग नृत्य करता है।

सोफ़िया के धार्मिक विचार, उसका आहार-व्यवहार, रहन-सहन, उसकी शिक्षा-दीक्षा, ये सभी बातें ऐसी थीं, जिनसे एक हिंदू-महिला को घृणा हो सकती थी। पर इतने दिनों के अनुभव ने रानीजी की सभी शंकाओं का समाधान कर दिया। सोफ़िया अभी तक हिंदू-धर्म में विधिवत् दीक्षित न हुई थी, पर उसका आचरण पूर्ण रीति से हिंदू-धर्म और हिंदू-समाज के अनुकूल था। इस विषय में अब जाह्नवी को लेश-मात्र भी संदेह न था। उन्हें अब अगर संदेह था, तो यह कि दांपत्य प्रेम में फँसकर विनय कहीं अपने उद्देश्य को न भूल बैठे। इस आंदोलन में नेतृत्व का भार लेकर विनय ने इस शंका को भी निर्मूल सिद्ध कर दिया। रानीजी अब विवाह की तैयारियों में प्रवृत्त हुई। कुँवर साहब तो पहले ही से राज़ी थे, सोफ़िया के माता की रज़ामंदी आवश्यक थी। इंदु को कोई आपत्ति हो ही न सकती थी। अन्य संबंधियों की इच्छा या अनिच्छा की उन्हें चिंता न थी। अतएव रानीजी एक दिन मिस्टर सेवक के मकान पर गईं कि इस संबंध को निश्चित कर लें। मिस्टर सेवक तो प्रसन्न हुए, पर मिसेज़ सेवक का मुँह न सीधा हुआ। उनकी दृष्टि में एक योरपियन का जितना आदर था, उतना किसी हिंदुस्थानी का न हो सकता था, चाहे वह कितना ही प्रभुता-शाली क्यों न हो। वह जानती थी कि यहाँ साधारण-से-साधारण योर-पियन की प्रतिष्ठा यहाँ के बड़े-से-बड़े राजा से अधिक है। प्रभु सेवक ने योरप की राह ली, अब घर पर पत्र तक न लिखते थे। सोफ़िया ने इधर यह रास्ता पकड़ा। जीवन की सारी अभिलाषाओं पर ओस पड़ गई। जाह्नवी के आग्रह पर क्रुद्ध होकर बोली—"ख़ुशी सोफ़िया की चाहिए; जब वह ख़ुश है, तो मैं अनुमति दूँ या न दूँ, एक ही बात

है। माता हूँ, संतान के प्रति मुँह से जब निकलेगी, शुभेच्छा ही निकलेगी, उसकी अनिष्ट-कामना नहीं कर सकती; लेकिन क्षमा कीजिएगा, मैं विवाह-संस्कार में सम्मिलित न हो सकूँगी। मैं अपने ऊपर बड़ा जब्र कर रही हूँ कि सोफ़िया को शाप नहीं देती, नहीं तो ऐसी कुलकलंकिनी लड़की का तो मर जाना ही अच्छा है, जो अपने धर्म से विमुख हो जाय।"

रानीजी को और कुछ कहने का साहस न हुआ। घर आकर, उन्होंने एक विद्वान् पंडित को बुलाकर सोफ़िया के धर्म और विवाह-संस्कार का मुहूर्त निश्चित कर डाला।

रानीजी जाह्नवी तो इन संस्कारों को धूमधाम से करने की तैयारियाँ कर रही थीं, उधर पाँड़ेपुर का आंदोलन दिन-दिन भीषण होता जाता था। मुआवज़े के रुपए तो अब किसी के बाक़ी न थे, यद्यपि अभी तक मंज़ूरी न आई थी, और राजा महेंद्रकुमार को अपने पास से सभी असामियों को रुपए देने पड़े थे, पर इन ख़ाली मकानों को गिराने के लिये मज़दूर न मिलते थे। दुगनी-तिगुनी मज़दूरी देने पर भी कोई मज़दूर काम करने न आता था। अधिकारियों ने जिले के अन्य भागों से मज़दूर बुलाए, पर जब वे आए और यहाँ की स्थिति देखी, तो रातों-रात भाग खड़े हुए। तब अधिकारियों ने सरकारी बर्क़ंदाज़ों और तहसील के चपरासियों को बड़े-बड़े प्रलोभन देकर काम करने के लिये तैयार किया, पर जब उनके सामने सैकड़ों युवक, जिनमें कितने ही ऊँचे कुलों के थे, हाथ बाँधकर खड़े हो गए, और विनय की कि भाइयो, ईश्वर के लिये फावड़े न चलाओ, और अगर चलाया ही चाहते हो, तो पहले हमारी गरदनों पर चलाओ, तो उन सबों की भी काया-पलट हो गई। दूसरे दिन से वे लोग फिर काम पर न आए। विनय और उनके सहकारी सेवक आजकल इस सत्याग्रह को अग्रसर करने में व्यस्त रहते थे।

सूरदास सवेरे से संध्या तक झोपड़े के द्वार पर मूर्तिवत् बैठा रहता।

हवलदार और उसके सिपाहियों पर अदालत में अभियोग चल रहा था। घटना-स्थल की रक्षा के लिये दूसरे ज़िले से सशस्त्र पुलिस बुलाई गई थी। वे सिपाही संगीनें चढ़ाए चौबीसों घंटे झोपड़ी के सामनेवाले मैदान में टहलते रहते थे। शहर के हज़ार-दो हज़ार आदमी आठो पहर मौजूद रहते। एक जाता, तो दूसरा आता। आने-जानेवालों का ताँता दिन-भर न टूटता। सेवक-दल भी नायकराम के ख़ाली बरामदे में आसन जमाए रहता था कि न-जाने कब क्या उपद्रव हो जाय। राजा महेंद्रकुमार और सुपरिंटेंडेंट पुलिस दिन में दो-दो बार अवश्य आते थे, किंतु किसी कारण झोपड़ा गिराने का हुक्म न देते थे। जनता की ओर से उपद्रव का इतना भय न था, जितना पुलिस की अवज्ञा का। हवलदार के व्यवहार से समस्त अधिकारियों के दिल में हौल समा गया था। प्रांतीय सरकार को यहाँ की स्थिति की प्रतिदिन सूचना दी जाती थी। सरकार ने भी आश्वासन दिया था कि शीघ्र ही गोरखों का एक रेजिमेंट भेजने का प्रबंध किया जायगा। अधिकारियों की आशा अब गोरखों ही पर अवलंबित थी, जिनकी राजभक्ति पर उन्हें पूरा विश्वास था। विनय प्रायः दिन-भर यहीं रहा करते थे। उनके और राजा साहब के बीच में अब नंगी तलवार का बीच था। वह विनय को देखते, तो घृणा से मुँह फेर लेते। उनकी दृष्टि में विनय सूत्रधार था, सूरदास केवल कठपुतली।

रानी जाह्नवी ज्यों-ज्यों विवाह की तैयारियाँ करती थीं, और संस्कारों की तिथि समीप आती जाती थी, सोफ़िया का हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त शंका, एक अनिष्ट-चिंता से आच्छन्न होता जाता था। भय यह था कि कदाचित् विवाह के पश्चात् हमारा दांपत्य जीवन सुखमय न हो, हम दोनों को एक दूसरे के चरित्र-दोष ज्ञात हों, और हमारा जीवन दुःखमय हो जाय। विनय की दृष्टि में सोफ़ी निर्विकार, निर्दोष, उज्ज्वल, दिव्य, सद्गुण-संपन्न देवी थी। सोफ़ी को विनय पर इतना विश्वास न था।

उसके तात्त्विक विवेचन ने उसे मानव-चरित्र की विषमताओं से अवगत कर दिया था। उसने बड़े-बड़े महात्माओं, ऋषियों, मुनियों, विद्वानों, योगियों और ज्ञानियों को, जो अपनी घोर तपस्याओं और साधनाओं से वासनाओं का दमन कर चुके थे, संसार के चिकने, पर काई से ढके हुए, तल पर फिसलते देखा था। वह जानती थी कि यद्यपि संयम-शील पुरुष बड़ी मुश्किल से फिसलते हैं, मगर जब एक बार फिसल गए, तो किसी तरह नहीं सँभल सकते, उनकी कुंठित वासनाएँ, उनकी पिंजर-बद्ध इच्छाएँ, उनकी संयत प्रवृत्तियाँ बड़े प्रबल वेग से प्रतिकूल दिशा की ओर चलती हैं। भूमि पर चलनेवाला मनुष्य गिरकर फिर उठ सकता है, लेकिन आकाश में भ्रमण करनेवाला मनुष्य गिरे, तो उसे कौन रोकेगा, उसके लिये कोई आशा नहीं, कोई उपाय नहीं। सोफ़िया को भय होता था कि कहीं मुझे भी यही अप्रिय अनुभव न हो, कहीं वही स्थिति मेरे गले में न पड़ जाय। संभव है, मुझमें कोई ऐसा दोष निकल आए, जो मुझे विनय की दृष्टि में गिरा दे, वह मेरा अनादर करने लगें। यह शंका सबसे प्रबल, सबसे निराशामय थी। आह! तब मेरी क्या दशा होगी! संसार में ऐसे कितने दंपति हैं कि अगर उन्हें दूसरी बार चुनाव का अधिकार मिल जाय, तो अपने पहले चुनाव पर संतुष्ट रहें!

सोफ़ी निरंतर इन्हीं आशंकाओं में डूबी रहती थी। विनय बार-बार उसके पास आते, उससे बातें करना चाहते, पाँड़ेपुर की स्थिति के विषय में उससे सलाह लेना चाहते, पर उसकी उदासीनता देखकर उन्हें कुछ कहने की इच्छा न होती।

चिंता रोग का मूल है। सोफ़ी इतनी चिंता-ग्रस्त रहती कि दिन-दिन-भर कमरे से न निकलती, भोजन भी बहुत सूक्ष्म करती, कभी-कभी निराहार ही रह जाती, हृदय में एक दीपक-सा जलता रहता था, पर किससे अपने मन की कहे? विनय से इस विषय में एक शब्द भी न कह सकती थी, जानती थी कि इसका परिणाम भयंकर होगा, नैराश्य की

दशा में विनय न-जाने क्या कर बैठें। अंत को उसकी कोमल प्रकृति इस मर्मदाह को सहन न कर सकी। पहले सिर में दर्द रहने लगा, धीरे-धीरे ज्वर का प्रकोप हो गया।

लेकिन रोग-शय्या पर गिरते ही सोफ़ी को विनय से एक क्षण अलग रहना भी दुस्सह प्रतीत होने लगा। निर्बल मनुष्य को अपनी लकड़ी से भी अगाध प्रेम हो जाता है। रुग्णावस्था में हमारा मन स्नेहापेक्षी हो जाता है, सोफ़िया जो कई दिन पहले कमरे में विनय के आते ही बिल-सा खोजने लगती थी कि कहीं यह प्रेमालाप न करने लगें, उनके तृषित नेत्रों से, उनकी मधुर मुसकान से, उनके मृदु हास्य से थर-थर काँपती रहती थी, जैसे कोई रोगी उत्तम पदार्थों को सामने देखकर डरता हो कि मैं कुपथ्य न कर बैठूँ, अब द्वार की ओर अनिमेष नेत्रों से विनय की बाट जोहा करती थी। वह चाहती कि यह अब कहीं न जायँ, मेरे पास ही बैठे रहें। विनय भी बहुधा उसके पास ही रहते। पाँड़ेपुर का भार अपने सहकारियों पर छोड़कर सोफ़िया की सेवा-शुश्रूषा में तत्पर हो गए। उनके बैठने से सोफ़ी का चित्त बहुत शांत हो जाता था। वह अपने दुर्बल हाथों को विनय की जाँघ पर रख देती, और बालोचित आकांक्षा से उनके मुख की ओर ताकती। विनय को कहीं जाते देखती, तो व्यग्र हो जाती, और आग्रह-पूर्ण नेत्रों से बैठने की याचना करती।

रानी जाह्नवी के व्यवहार में भी अब एक विशेष अंतर दिखाई देता था। स्पष्ट तो न कह सकती, पर संकेतों से विनय को पाँड़ेपुर के सत्याग्रह में सम्मिलित होने से रोकती थीं। इंद्रदत्त की हत्या ने उन्हें बहुत सशंक कर दिया था। उन्हें भय था कि उस हत्या-कांड का अंतिम दृश्य उससे कहीं भयंकर होगा। और, सबसे बड़ी बात तो यह थी कि विवाह का निश्चय होने से विनय का सदुत्साह भी क्षीण होने लगा था। सोफ़िया के पास बैठकर उसे सांत्वनाप्रद बातें करना और उसकी अनुराग-पूर्ण बातें सुनना उन्हें अब बहुत अच्छा लगता था। सोफ़िया की मुक्त याचना ने

प्रेमोद्गारों को और भी प्रबल कर दिया। पहले मनुष्य हैं, पीछे देश-सेवक। देशानुराग के लिये हम अपने मानवीय भावों की अवहेलना नहीं कर सकते। यह अस्वाभाविक है। निज पुत्र की मृत्यु का शोक जाति पर पड़नेवाली विपत्ति से कहीं अधिक होता है। निज शोक मर्मांतक होता है, जाति-शोक निराशा-जनक; निज शोक पर हम रोते हैं, जाति-शोक पर चिंतित हो जाते हैं।

एक दिन प्रातःकाल विनय डॉक्टर के यहाँ से दवा लेकर लौटे थे (सद्वैद्यों के होते हुए भी उनका विश्वास पाश्चात्य चिकित्सा ही पर अधिक था) कि कुँवर साहब ने उन्हें बुला भेजा। विनय इधर महीनों से उनसे मिलने न गए थे। परस्पर मनोमालिन्य-सा हो गया था। विनय ने सोफ़ी को दवा पिलाई, और तब कुँवर साहब से मिलने गए। वह अपने कमरे में टहल रहे थे, इन्हें देखकर बोले—"तुमतो अब कभी आते ही नहीं।"

विनय ने उदासीन भाव से कहा—"अवकाश नहीं मिलता। आपने कभी याद भी तो नहीं किया। मेरे आने से कदाचित् आपका समय नष्ट होता है।"

कुँवर साहब ने इस व्यंग्य की परवा न करके कहा—"आज मुझे तुमसे एक महान् संकट में राय लेनी है! सावधान होकर बैठ जाओ, इतनी जल्द छुट्टी न होगी।"

विनय—"फ़रमाइए, मैं सुन रहा हूँ।"

कुँवर साहब ने घोर असमंजस के भाव से कहा—"गवर्नमेंट का आदेश है कि तुम्हारा नाम रियासत से......"

यह कहते-कहते कुँवर साहब रो पड़े। ज़रा देर में करुणा का उद्वेग कम हुआ, तो बोले—"मेरी तुमसे विनीत याचना है कि तुम स्पष्ट रूप से अपने को सेवक-दल से पृथक् कर लो, और समाचार-पत्रों में इसी आशय की एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर दो। तुमसे यह याचना करते हुए मुझे कितनी लज्जा और कितना दुख हो रहा है, इसका अनुमान तुम्हारे

सिवा और कोई नहीं कर सकता; पर परिस्थिति ने मुझे विवश कर दिया है। मैं तुमसे यह कदापि नहीं कहता कि किसी की खुशामद करो, किसी के सामने सिर झुकाओ, नहीं, मुझे स्वयं इससे घृणा थी, और है। किंतु अपनी भूसंपत्ति की रक्षा के लिये मेरे अनुरोध को स्वीकार करो। मैंने समझा था, रियासत को सरकार के हाथ में दे देना काफ़ी होगा। किंतु अधिकारी लोग इसे काफ़ी नहीं समझते। ऐसी दशा में मेरे लिये दो ही उपाय हैं—या तो तुम स्वयं इन आंदोलनों से पृथक् हो जाओ, या कम-से-कम उनमें प्रमुख भाग न लो, या मैं एक प्रतिज्ञा-पत्र द्वारा तुम्हें रियासत से वंचित कर दूँ। भावी संतान के लिये इस संपत्ति का सुरक्षित रहना परमावश्यक है। तुम्हारे लिये पहला उपाय जितना कठिन है, उतना कठिन मेरे लिये दूसरा उपाय है। तुम इस विषय में क्या निश्चय करते हो?"

विनय ने गर्वान्वित भाव से कहा—"मैं संपत्ति को अपने पाँव की बेड़ी नहीं बनाना चाहता। अगर संपत्ति हमारी है, तो उसके लिये किसी शर्त की ज़रूरत नहीं; अगर दूसरे की है, और आपका अधिकार उसकी कृपा के अधीन है, तो उसे संपत्ति नहीं समझना। सच्ची प्रतिष्ठा और सम्मान के लिये संपत्ति की ज़रूरत नहीं, उसके लिये त्याग और सेवा काफ़ी है।"

न रक्खो, यों अप्रत्यक्ष रूप से उसकी जितनी सहायता करना चाहो, कर सकते हो। बस, अपने को क़ानून के पंजे से बचाए रहो।"

विनय—"अर्थात् कोई समाचार-पत्र भी पढ़ूँ, तो छिपकर, किवाड़ बंद करके कि किसी को कानों-कान ख़बर न हो। जिस काम के लिये परदे की ज़रूरत है, चाहे उसका उद्देश्य कितना ही पवित्र क्यों न हो, वह अपमान-जनक है। अधिक स्पष्ट शब्दों में मैं उसे चोरी कहने में भी कोई आपत्ति नहीं देखता। यह संशय और शंका से पूर्ण जीवन मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट गुणों का ह्रास कर देता है। मैं वचन और कर्म की इतनी स्वाधीनता अनिवार्य समझता हूँ, जो हमारे आत्मसम्मान की रक्षा करे। इस विषय में मैं अपने विचार इससे स्पष्ट शब्दों में नहीं व्यक्त कर सकता।"

कुँवर साहब ने विनय को जल-पूर्ण नेत्रों से देखा। उनमें कितनी उद्विग्नता भरी हुई थी! तब बोले—"मेरी ख़ातिर से इतना मान जाओ।"

विनय—"आपके चरणों पर अपने को न्योछावर कर सकता हूँ, पर अपनी आत्मा की स्वाधीनता की हत्या नहीं कर सकता।"

विनय यह कहकर जाना ही चाहते थे कि कुँवर साहब ने पूछा—"तुम्हारे पास रुपए तो बिलकुल न होंगे?"

विनय—"मुझे रुपयों की फ़िक्र नहीं।"

कुँवर—"मेरी ख़ातिर से—यह लेते जाओ।"

उन्होंने नोटों का एक पुलिंदा विनय की तरफ़ बढ़ा दिया। विनय इनकार न कर सके। कुँवर साहब पर उन्हें दया आ रही थी। जब वह नोट लेकर कमरे से चले गए, तो कुँवर साहब क्षोभ और निराशा से व्यथित होकर कुर्सी पर गिर पड़े, संसार उनकी दृष्टि में अँधेरा हो गया।

विनय के आत्मसम्मान ने उन्हें रियासत का त्याग करने पर उद्यत तो कर दिया, पर उनके सम्मुख अब एक नई समस्या उपस्थित हो गई।

यह जीविका की चिंता थी। संस्था के विषय में तो विशेष चिंता न थी, उसका भार देश पर था, और किसी जातीय कार्य के लिये भिक्षा माँगना भी लज्जा की बात नहीं। उन्हें इसका विश्वास हो गया था कि प्रयत्न किया जाय, तो इस काम के लिये स्थायी कोष जमा किया जा सकता है। किंतु जीविका के लिये क्या हो? कठिनाई यह थी कि जीविका उनके लिये केवल दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति न थी, कुल-परंपरा की रक्षा भी उसमें शामिल थी। अब तक इस प्रश्न की गुरुता का उन्होंने अनुमान न किया। मन में किसी इच्छा के उत्पन्न होने की देर रहती थी। अब जो आँखों के सामने यह प्रश्न अपना विराट् रूप धारण करके आया, तो वह घबरा उठे। संभव था कि अब भी कुछ काल तक माता-पिता का वात्सल्य उन्हें इस चिंता से मुक्त रखता, किंतु इस क्षणिक आधार पर जीवन-भवन का निर्माण तो नहीं किया जा सकता। फिर उनका आत्मगौरव यह कब स्वीकार कर सकता था कि अपनी सिद्धांत-प्रियता और आदर्श-शक्ति का प्रायश्चित्त माता-पिता से कराए। कुछ नहीं, यह निर्लज्जता है, निरी कायरता! मुझे कोई अधिकार नहीं कि अपने जीवन का भार माता-पिता पर रक्खूँ। उन्होंने इस मुलाक़ात की चर्चा माता से भी न की, मन-ही-मन डूबने-उतराने लगे। और, फिर अब अपनी ही चिंता न थी, सोफ़िया भी उनके जीवन का अंश बन चुकी थी, इसलिये यह चिंता और भी दाहक थी। माना कि सोफ़ी मेरे साथ जीवन

करूँगा। किंतु सोफ़िया के कारण उनके सोचे हुए जीवन-क्रम में काया-पलट हो गई थी। जिन वस्तुओं का पहले उनकी दृष्टि में कोई मूल्य न था, वे अब परमावश्यक जान पड़ती थीं। प्रेम को विलास कल्पना ही से विशेष रुचि होती है, वह दुख और दरिद्रता के स्वप्न नहीं देखता। विनय सोफ़िया को एक रानी की भाँति रखना चाहते थे, उसे जीवन की उन समस्त सुख-सामग्रियों से परिपूरित कर देना चाहते थे, जो विलास ने आविष्कृत की हैं; पर परिस्थितियाँ ऐसा रूप धारण करती थीं, जिनसे वे उच्चाकांक्षाएँ मलियामेट हुई जाती थीं, चारो ओर विपत्ति और दरिद्रता का ही कंटकमय विस्तार दिखाई पड़ रहा था। इस मानसिक उद्वेग की दशा में वह कभी सोफ़ी के पास आते, कभी अपने कमरे में जाते, कुछ गुमसुम, उदास, मलिन-मुख, निष्प्रभ, उत्साह-हीन, मानो कोई बड़ी मंज़िल मारकर लौटे हों। पाँड़ेपुर से बड़ी भयप्रद सूचनाएँ आ रही थीं, आज कमिश्नर आ गया, आज गोरखों का रेजिमेंट आ पहुँचा, आज गोरखों ने मकानों को गिराना शुरू किया, और लोगों के रोकने पर उन्हें पीटा, आज पुलिस ने सेवकों को गिरफ़्तार करना शुरू किया, दस सेवक पकड़ लिए गए, आज बीस पकड़े गए, आज हुक्म दिया गया है कि सड़क से सूरदास की झोपड़ी तक काँटेदार तार लगा दिया जाय, कोई वहाँ जा ही नहीं सकता। विनय ये ख़बरें सुनते थे, और किसी पंख-हीन पक्षी की भाँति एक बार तड़पकर रह जाते थे।

इस भाँति एक सप्ताह बीत गया, और सोफ़ी का स्वास्थ्य सुधरने लगा। उसके पैरों में इतनी शक्ति आ गई कि पाँव-पाँव बग़ीचे में टहलने चली जाती, भोजन में रुचि हो गई, मुखमंडल पर आरोग्य की कांति झलकने लगी। विनय की भक्ति-पूर्ण सेवा ने उस पर संपूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। वे शंकाएँ, जो उसके मन में पहले उठती रहती थीं, शांत हो गई थीं। प्रेम के बंधन को सेवा ने और भी सुदृढ़ कर दिया था। इस कृतज्ञता को वह शब्दों से नहीं, आत्मसमर्पण से प्रकट करना चाहती थी।

विनयसिंह को दुखी देखकर कहती, तुम मेरे लिये इतने चिंतित क्यों होते हो! मैं तुम्हारे ऐश्वर्य और संपत्ति की भूखी नहीं हूँ, जो मुझे तुम्हारी सेवा करने का अवसर न देगी, जो तुम्हें भाव-हीन बना देगी। इससे मुझे तुम्हारा ग़रीब रहना कहीं ज़्यादा पसंद है। ज्यों-ज्यों उसकी तबियत सँभलने लगी, उसे यह खयाल आने लगा कि कहीं लोग मुझे बदनाम न करते हों कि इसी के कारण विनय पाँड़ेपुर नहीं जाते, इस संग्राम में वह भाग नहीं लेते, जो उनका कर्तव्य है, आग लगाकर दूर खड़े तमाशा देख रहे हैं। लेकिन यह खयाल आने पर भी उसकी इच्छा न होती थी कि विनय वहाँ जायँ।

एक दिन इंदु उसे देखने आई। बहुत खिन्न और विरक्त हो रही थी। उसे अब अपने पति से इतनी अश्रद्धा हो गई थी कि इधर हफ़्तों से उसने उनसे बात तक न की थी, यहाँ तक कि अब वह खुले-खुले उनकी निंदा करने में भी न हिचकती थी। वह भी उससे न बोलते थे। बातों-बातों में विनय से बोली—"इन्हें तो हाकिमों की खुशामद ने चौपट किया, पिताजी को संपत्ति-प्रेम ने चौपट किया, क्या तुम्हें भी मोह चौपट कर देगा! क्यों सोफ़ी, तुम इन्हें एक क्षण के लिये भी क़ैद से मुक्त नहीं करती? अगर अभी से उनका यह हाल है, तो विवाह हो जाने पर क्या होगा! तब तो यह कदाचित् दीन-दुनिया कहीं के भी न होंगे, भौंरे की भाँति तुम्हारा प्रेम-रस पान करने में उन्मत्त रहेंगे।

सोफ़िया बहुत लज्जित हुई, कुछ जवाब न दे सकी। उसकी यह शंका सत्य निकली कि विनय की उदासीनता का कारण मैं ही समझी जा

से मुँह फेर लेते हैं। लेकिन इस आक्षेप को अपने सिर से दूर करना आवश्यक था। झेंपते हुए बोली—"मैंने तो कभी मना नहीं किया।"

इंदु—"मना करने के कई ढंग हैं।"

सोफ़िया—"अच्छा, तो मैं आपके सामने कह रही हूँ कि मुझे इनके वहाँ जाने में कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि इसे मैं अपने और इनके, दोनो ही के लिये गौरव की बात समझती हूँ। अब मैं ईश्वर की दया और इनकी कृपा से अच्छी हो गई हूँ, और इन्हें विश्वास दिलाती हूँ कि इनके जाने से मुझे कोई कष्ट न होगा। मैं स्वयं दो-चार दिन में जाऊँगी।"

इंदु ने विनय की ओर सहास नेत्रों से देखकर कहा—"लो, अब तो तुम्हें कोई बाधा नहीं रही। तुम्हारे वहाँ रहने से सब काम सुचारु रूप से होगा, और संभव है कि शीघ्र ही अधिकारियों को समझौता कर लेना पड़े। मैं नहीं चाहती कि उसका श्रेय किसी दूसरे आदमी के हाथ लगे।"

लेकिन जब इस अंकुश का भी विनय पर कोई असर न हुआ, तो सोफ़िया को विश्वास हो गया कि इस उदासीनता का कारण संपत्ति-लालसा चाहे न हो, लेकिन प्रेम नहीं है। जब इन्हें मालूम है कि इनके पृथक् रहने से मेरी निंदा हो रही है, तो जान-बूझकर क्यों मेरा उपहास करा रहे हैं? यह तो ऊँघते को ठेलने का बहाना हो गया। रोने को थे ही, आँखों में किरकिरी पड़ गई। मैं उनके पैर थोड़े ही पकड़े हुए हूँ। वह तो अब पाँड़ेपुर का नाम तक नहीं लेते, मानो वहाँ कुछ हो ही नहीं रहा है। उसने स्पष्ट तो नहीं, लेकिन सांकेतिक रीति से विनय से वहाँ जाने की प्रेरणा भी की, लेकिन वह फिर टाल गए। वास्तव में बात यह थी कि इतने दिनों तक उदासीन रहने के पश्चात् विनय अब वहाँ जाते हुए झेंपते थे, डरते थे कि कहीं मुझ पर लोग तालियाँ न बजाएँ कि डर के मारे छिपे बैठे रहे। उन्हें अब स्वयं पश्चात्ताप होता था कि मैं क्यों इतने दिनों तक मुँह छिपाए रहा, क्यों अपनी व्यक्तिगत

चिंताओं को अपने कर्तव्य-मार्ग का काँटा बनने दिया। सोफ़ी की अनुमति लेकर मैं जा सकता था, वह कभी मुझे मना न करती। सोफ़ी में एक बड़ा ऐब यह है कि मैं उनके हित के लिये भी जो काम करता हूँ, उसे भी वह निर्दय आलोचक की दृष्टि से ही देखती है। खुद चाहे प्रेम के वश कर्तव्य की तृण-बराबर भी परवा न करे, पर मैं आदर्श से जौ-भर नहीं टल सकता। अब उन्हें ज्ञात हुआ कि यह मेरी दुर्बलता, मेरी भीरुता और मेरी अकर्मण्यता थी, जिसने सोफ़िया की बीमारी को मेरे मुँह छिपाने का बहाना बना दिया, वरना मेरा स्थान तो सिपाहियों की प्रथम श्रेणी में था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी बात पैदा हो जाय कि मैं इस झेंप को मिटा सकूँ—इस कालिख को धो सकूँ। कहीं दूसरे प्रांत से किसी भीषण दुर्घटना का समाचार आ जाय, और मैं वहाँ अपनी लाज रक्खूँ। सोफ़िया को अब उनका आठों पहर अपने समीप रहना अच्छा न लगता। हम बीमारी में जिस लकड़ी के सहारे डोलते हैं नीरोग

होती जाती थी, स्वयंसेवकों की पकड़-धकड़ से संतुष्ट न होकर गोरखों ने अब उन्हें शारीरिक कष्ट देना शुरू कर दिया था, अपमान भी करते थे, और अपने अमानुषिक कृत्यों से उनको भयभीत कर देना चाहते थे। पर अंधे पर बंदूक चलाने या झोपड़े में आग लगाने की हिम्मत न पड़ती थी। क्रांति का भय न था, विद्रोह का भय न था, भीषण-से-भीषण विद्रोह भी उनको आशंकित न कर सकता था, भय था हत्याकांड का, न-जाने कितने ग़रीब मर जायँ, न-जाने कितना हाहाकार मच जाय! पाषाण-हृदय भी एक बार रक्त-प्रवाह से काँप उठता है!

सारे नगर में, गली-गली, घर-घर यही चर्चा होती रहती थी। सहस्रों नगरवासी रोज़ वहाँ पहुँच जाते, केवल तमाशा देखने नहीं, बल्कि एक बार उस पर्ण-कुटी और उसके चक्षु-हीन निवासी का दर्शन करने के लिये और अवसर पड़ने पर अपने से जो कुछ हो सके, कर दिखाने के लिये। सेवकों की गिरफ़्तारी से उनकी उत्सुकता और भी बढ़ गई थी। आत्मसमर्पण की हवा-सी चल पड़ी थी।

तीसरा पहर था। एक आदमी डौंडी पीटता हुआ निकला। विनय ने नौकर को भेजा कि क्या बात है। उसने लौटकर कहा, सरकार का हुक्म हुआ है कि आज से शहर का कोई आदमी पाँड़ेपुर न जाय, सरकार उसकी प्राण-रक्षा की ज़िम्मेदार न होगी।

विनय ने चिंतित भाव से कहा—"आज कोई नया अघात होनेवाला है।"

सोफ़िया—"मालूम तो ऐसा ही होता है।"

विनय—"शायद सरकार ने इस संग्राम का अंत करने का निश्चय कर लिया है।"

सोफ़िया—"ऐसा ही जान पड़ता है।"

विनय—"भीषण रक्त-पात होगा।"

सोफ़िया—"अवश्य होगा।"

सहसा एक वालंटियर ने आकर विनय को नमस्कार किया, और

बोला—"आज तो उधर का रास्ता बंद कर दिया गया है। मि० क्लार्क राजपूताना से ज़िलाधीश की जगह आ गए हैं। मि० सेनापति मुअत्तल कर दिए गए हैं।"

विनय—"अच्छा! मि० क्लार्क आ गए! कब आए?"

सेवक—"आज ही चार्ज लिया है। सुना जाता है, उन्हें सरकार ने इसी कार्य के लिये विशेष रीति से यहाँ नियुक्त किया है।"

विनय—"तुम्हारे कितने आदमी वहाँ होंगे?"

सेवक—"कोई पचास होंगे।"

विनय कुछ सोचने लगे। सेवक ने कई मिनट बाद पूछा—"आप कोई विशेष आज्ञा देना चाहते हैं?"

विनय ने ज़मीन की तरफ़ ताकते हुए कहा—"बरबस आग में मत कूदना; और यथासाध्य जनता को उस सड़क पर जाने से रोकना।"

सेवक—"आप भी आएँगे?"

विनय ने कुछ खिन्न होकर कहा—"देखा जायगा।"

सेवक के चले जाने के पश्चात् विनय कुछ देर तक शोक-मग्न रहे। समस्या थी, जाऊँ या न जाऊँ? दोनो पक्षों में तर्क-वितर्क होने लगा—"मैं जाकर क्या कर लूँगा, अधिकारियों की जो इच्छा होगी, वह तो अवश्य ही करेंगे। अब समझौते की कोई आशा नहीं। लेकिन यह कितना अपमान-जनक है कि नगर के लोग तो वहाँ जाने के लिये उत्सुक हों, और मैं, जिसने यह संग्राम छेड़ा, मुँह छिपाकर बैठ रहूँ। इस अवसर पर मेरा तटस्थ रहना मुझे जीवन-पर्यंत के लिये कलंकित कर देगा, मेरी दशा महेंद्रकुमार से भी गई-बीती हो जायगी। लोग समझेंगे, कायर है। एक प्रकार से मेरे सार्वजनिक जीवन का अंत हो जायगा।"

लेकिन बहुत संभव है, आज भी गोलियाँ चलें। अवश्य चलेंगी। कौन कह सकता है, क्या होगा? सोफ़िया किसकी होकर रहेगी? आह!

मैंने व्यर्थ जनता में यह भाव जगाया, अंधे का झोपड़ा गिर गया होता, और सारी कथा समाप्त हो जाती। मैंने ही सत्याग्रह का झंडा खड़ा किया, नाग को जगाया, सिंह के मुँह में उँगली डाली।

उन्होंने अपने मन का तिरस्कार करते हुए सोचा—"आज मैं इतना कातर क्यों हो गया हूँ? क्या मैं मौत से डरता हूँ? मौत से क्या डर? मरना तो एक दिन है ही। क्या मेरे मरने से देश सूना हो जायगा? क्या मैं ही कर्णधार हूँ? क्या कोई दूसरी वीर-प्रसू माता देश में है ही नहीं?"

सोफ़िया कुछ देर तक टकटकी लगाए उनके मुँह की ओर ताकती रही। अकस्मात् वह उठ खड़ी हुई, और बोली—"मैं वहाँ जाती हूँ।"

विनय ने भयातुर होकर कहा—"आज वहाँ जाना दुस्साहस है। सुना नहीं, सारे नाके बंद कर दिए गए हैं?"

सोफ़िया—"स्त्रियों को कोई न रोकेगा।"

विनय ने सोफ़िया का हाथ पकड़ लिया, और अत्यंत प्रेम-विनीत भाव से कहा—"प्रिये, मेरा कहना मानो, आज मत जाओ। अच्छे रंग नहीं हैं। कोई अनिष्ट होनेवाला है।"

सोफ़िया—"इसीलिये तो मैं जाना चाहती हूँ। औरों के लिये भय बाधक हो, तो मेरे लिये भी क्यों हो?"

विनय—"क्लार्क का आना बुरा हुआ।"

सोफ़िया—"इसीलिये मैं और जाना चाहती हूँ, मुझे विश्वास है कि मेरे सामने वह कोई पैशाचिक आचरण न कर सकेगा। इतनी सज्जनता अभी उसमें है।"

यह कहकर सोफ़िया अपने कमरे में गई, और अपना पुराना पिस्तौल सलूके की जेब में रक्खा। गाड़ी तैयार करने को पहले ही कह दिया था। वह बाहर निकली, तो गाड़ी तैयार खड़ी थी। जाकर विनयसिंह के कमरे में झाँका, वह वहाँ न थे। तब वह द्वार पर कुछ देर तक खड़ी रही, एक

अज्ञात शंका ने, किसी अमंगल के पूर्वाभास ने उसके हृदय को आंदोलित कर दिया। वह अपने कमरे में लौट जाना चाहती थी कि कुँवर साहब आते हुए दिखाई दिए। सोफ़ी डरी कि यह कुछ पूछ न बैठें, तुरंत गाड़ी में आ बैठी, और कोचवान को तेज़ चलने का हुक्म दिया। लेकिन जब गाड़ी कुछ दूर निकल गई, तो वह सोचने लगी कि विनय कहाँ चले गए? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वह मुझे जाने पर तत्पर देखकर मुझसे पहले ही चल दिए हों? उसे मनस्ताप होने लगा कि मैं नाहक यहाँ आने को तैयार हुई। विनय की आने की इच्छा न थी। वह मेरे ही आग्रह से आए हैं। ईश्वर! तुम उनकी रक्षा करना। क्लार्क उनसे जलता हुआ है ही, कहीं उपद्रव न हो जाय! मैंने विनय को अकर्मण्य समझा। मेरी कितनी धृष्टता है। यह दूसरा अवसर है कि मैंने उन पर मिथ्या दोषारोपण किया। मैं शायद अब तक उन्हें नहीं समझी। वह वीर आत्मा हैं, यह मेरी क्षुद्रता है कि उनके विषय में अक्सर मुझे भ्रम हो जाता है। अगर मैं उनके मार्ग का कंटक न बनी होती, तो उनका जीवन कितना निष्कलंक, कितना उज्ज्वल होता! मैं ही उनकी दुर्बलता हूँ, मैं ही उनको कलंक लगानेवाली हूँ! ईश्वर करे, वह इधर न आए हों। उनका न आना ही अच्छा। यह कैसे मालूम हो कि यहाँ आए या नहीं? चलकर देख लूँ।

उसने कोचवान को और तेज़ चलने का हुक्म दिया।

उधर विनयसिंह दफ़्तर में जाकर सेवक-संस्था के आय-व्यय का हिसाब लिख रहे थे। उनका चित्त बहुत उदास था। मुख पर नैराश्य छाया हुआ था। रह-रहकर अपने चारो ओर वेदनातुर दृष्टि से देखते और फिर हिसाब लिखने लगते थे। न-जाने वहाँ से लौटकर आना हो या न हो, इसलिये हिसाब-किताब ठीक कर देना आवश्यक समझते थे। हिसाब पूरा करके उन्होंने प्रार्थना के भाव से ऊपर की ओर देखा, फिर बाहर निकले, बाइसिकिल उठाई, और तेज़ी से चले, इतने सतृष्ण नेत्र

से पीछे फिरकर भवन, उद्यान और विशाल वृक्षों को देखते जाते थे, मानो उन्हें फिर न देखेंगे, मानो यह उनका अंतिम दर्शन है। कुछ दूर आकर उन्होंने देखा, सोफ़िया चली जा रही है। अगर वह उससे मिल जाते, तो कदाचित् सोफ़िया भी उनके साथ लौट पड़ती; पर उन्हें तो यह धुन सवार थी कि मैं सोफ़िया के पहले वहाँ जा पहुँचूँ। मोड़ आते ही उन्होंने अपनी पैरगाड़ी को फेर दिया, और दूसरा रास्ता पकड़ा। फल यह हुआ कि जब वह संग्राम-स्थल में पहुँचे, तो सोफ़िया अभी तक न आई थी। विनय ने देखा, गिरे हुए मकानों की जगह सैकड़ों छोलदारियाँ खड़ी हैं, और उनके चारो ओर गोरखे खड़े चक्कर लगा रहे हैं। किसी की गति नहीं है कि अंदर प्रवेश कर सके। हज़ारों आदमी आस-पास खड़े हैं, मानो किसी विशाल अभिनय को देखने के लिये दर्शकगण वृत्ताकार खड़े हों। मध्य में सूरदास का झोपड़ा रंगमंच के समान स्थिर था। सूरदास झोपड़े के सामने लाठी लिए खड़ा था, मानो सूत्रधार नाटक का आरंभ करने को खड़ा है। सब-के-सब सामने का दृश्य देखने में इतने तन्मय हो रहे थे कि विनय की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। सेवक-दल के युवक झोपड़े के सामने रातों-रात ही पहुँच गए थे। विनय ने निश्चय किया कि मैं भी वहीं जाकर खड़ा हो जाऊँ।

एकाएक किसी ने पीछे से उनका हाथ पकड़कर खींचा। इन्होंने चौंककर देखा, तो सोफ़िया थी। उसके चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। घबराई हुई आवाज़ से बोली—"तुम क्यों आए?"

विनय—"तुम्हें अकेले क्योंकर छोड़ देता?"

सोफ़िया—"मुझे बड़ा भय लग रहा है। ये तोपें लगा दी गई हैं?"

विनय ने तोपें न देखी थीं। वास्तव में तीन तोपें झोपड़े की ओर मुँह किए हुए खड़ी थीं, मानो रंगभूमि में दैत्यों ने प्रवेश किया हो।

विनय—"शायद आज इसे सत्याग्रह का अंत कर देने का निश्चय हुआ है।"

सोफ़िया—"मैं यहाँ नाहक आई। मुझे घर पहुँचा दो।"

आज सोफ़िया को पहली बार प्रेम के दुर्बल पक्ष का अनुभव हुआ। विनय की रक्षा की चिंता में वह कभी इतनी भय-विकल न हुई थी। जानती थी कि विनय का कर्तव्य, उनका गौरव, उनका श्रेय यहीं रहने में है। लेकिन यह जानते हुए भी उन्हें यहाँ से हटा ले जाना चाहती थी। अपने विषय में कोई चिंता न थी। अपने को वह बिलकुल भूल गई थी।

विनय—"हाँ, तुम्हारा यहाँ रहना जोखिम की बात है। मैंने पहले ही मना किया था, तुमने न माना।"

सोफ़िया विनय का हाथ पकड़कर गाड़ी पर बैठा देना चाहती थी कि सहसा इंदुरानी की मोटर आ गई। मोटर से उतरकर वह सोफ़िया के पास आई, बोली—"क्यों सोफ़ी, जाती हो क्या?"

सोफ़िया ने बात बनाकर कहा—"नहीं, जाती नहीं हूँ, ज़रा पीछे हट जाना चाहती हूँ।"

सोफ़िया को इंदु का आना कभी इतना नागवार न मालूम हुआ था। विनय को भी बुरा मालूम हुआ। बोले—"तुम क्यों आईं?"

इंदु—"इसलिये कि तुम्हारे भाई साहब ने आज पत्र द्वारा मुझे मना कर दिया था।"

विनय—"आज की स्थिति बहुत नाज़ुक है, हम लोगों के धैर्य और साहस की आज कठिनतम परीक्षा होगी।"

इंदु—"तुम्हारे भाई साहब ने तो उस पत्र में यही बात लिखी थी।"

विनय—"क्लार्क को देखो, कितनी निर्दयता से लोगों को हंटर मार रहा है। किंतु कोई हटने का नाम भी नहीं लेता। जनता का संयम और धैर्य अब अंतिम बिंदु तक पहुँच गया है। कोई नहीं कह सकता कि कब क्या हो जाय।"

साधारण जनता इतनी स्थिर-चित्त और दृढ़-व्रत हो सकती है, इसका आज विनय को अनुभव हुआ। प्रत्येक व्यक्ति प्राण हथेली पर लिए हुए मालूम होता था। इतने में नायकराम किसी ओर से आ गए, और विनय को देखकर विस्मय से पूछा—"आज तुम इधर कैसे भूल पड़े भैया?"

इस प्रश्न में कितना व्यंग्य, कितना तिरस्कार, कितना उपहास था! विनय ऐंठकर रह गए। बात टालकर बोले—"क्लार्क बड़ा निर्दयी है!"

नायकराम ने अँगोछा उठाकर विनय को अपनी पीठ दिखाई। गरदन से कमर तक एक नीली, रक्तमय रेखा खिंची हुई थी, मानो किसी नोकदार कील से खुरच लिया गया हो। विनय ने पूछा—"यह घाव कैसे लगा?"

नायकराम—"अभी यह हंटर खाए चला आता हूँ। आज जीता बचा, तो समझूँगा। क्रोध तो ऐसा आया था कि टाँग पकड़कर नीचे घसीट लूँ; लेकिन डरा कि कहीं गोली न चल जाय, तो नाहक सब आदमी भुन जायँ। तुमने तो इधर आना ही छोड़ दिया। औरत का माया-जाल बड़ा कठिन है।"

सोफ़िया ने इस कथन का अंतिम वाक्य सुन लिया। बोली—"ईश्वर को धन्यवाद दो कि तुम इस जाल में नहीं फँसे।"

सोफ़िया की चुटकी ने नायकराम को गुदगुदा दिया। सारा क्रोध शांत हो गया। बोले—"भैया, मिस साहब को जवाब दो। मुझे मालूम तो है, लेकिन कहते नहीं बनता। हाँ, कैसे?"

विनय—"क्यों, तुम्हीं ने तो निश्चय किया था कि अब स्त्रियों के नगीच न जाऊँगा, ये बड़ी बेवफ़ा होती हैं। उसी दिन की बात है, जब मैं सोफ़ी की लताड़ सुनकर उदयपुर जा रहा था।"

नायकराम—(लज्जित होकर)"वाह भैया, तुमने तो मेरे ही सिर झोंक दिया?"

विनय—"और क्या कहूँ। सच कहने में क्या संकोच? खुश हों, तो मुसीबत; नाराज़ हों, तो मुसीबत।"

नायकराम—"बस भैया, मेरे मन की बात कही। ठीक यही बात है। हर तरह मरदों ही पर मार, राजी हों, तो मुसीबत; नाराज हों, तो उससे भी बड़ी मुसीबत।"

सोफ़िया—"जब औरत इतनी बड़ी विपत्ति है, तो पुरुष क्यों उसे अपने सिर मढ़ते हैं? जिसे देखो, वही उसके पीछे दौड़ता है! क्या दुनिया के सभी पुरुष मूर्ख हैं, किसी को बुद्धि नहीं छू गई?"

नायकराम—"भैया, मिस साहब ने तो मेरे सामने पत्थर लुढ़का दिया। बात तो सच्ची है कि जब औरत इतनी बड़ी बिपत है, तो लोग क्यों उसके पीछे हैरान रहते हैं? एक की दुर्दशा देखकर दूसरा क्यों नहीं सीखता? बोलो भैया, है कुछ जवाब?"

विनय—"जवाब क्यों नहीं है, एक तो तुम्हीं ने मेरी दुर्दशा से सीख लिया। तुम्हारी भाँति और भी कितने ही पड़े होंगे।"

नायकराम—(हँसकर) "भैया, तुमने फिर मेरे ही सिर डाल दिया। यह तो कुछ ठीक जवाब न बन पड़ा।"

विनय—"ठीक वही है, जो तुमने आते-ही-आते कहा था कि औरत का माया-जाल बड़ा कठिन है।"

मनुष्य स्वभावतः विनोदशील है। ऐसी विडंबना में भी उसे हँसी सूझती है, फाँसी पर चढ़नेवाले मनुष्य भी हँसते देखे गए हैं। यहाँ ये ही बातें हो रही थीं कि मि० क्लार्क घोड़ा उछालते, आदमियों को हटाते, कुचलते आ पहुँचे। सोफ़ी पर निगाह पड़ी। तीर-सा लगा। टोपी ऊपर उठाकर बोले—"यह वही नाटक है, या कोई दूसरा शुरू कर दिया?"

नश्तर से भी तीव्र, पत्थर से भी कठोर, निर्दय वाक्य था। मि० क्लार्क ने अपने मनोगत नैराश्य, दुःख, अविश्वास और क्रोध को इन चार शब्दों में कूट-कूटकर भर दिया था।

सोफ़ी ने तत्क्षण उत्तर दिया—"नहीं, बिलकुल नया। तब जो मित्र थे, वे ही अब शत्रु हैं।"

क्लार्क व्यंग्य समझकर तिलमिला उठे। बोले—"यह तुम्हारा अन्याय है। मैं अपनी नीति से जौ-भर भी नहीं हटा।"

सोफ़ी—किसी को एक बार शरण देना और दूसरी बार उसी पर तलवार उठाना क्या एक ही बात है? जिस अंधे के लिये कल तुमने यहाँ के रईसों का विरोध किया था, बदनाम हुए थे, दंड भोगा था, उसी अंधे की गरदन पर तलवार चलाने के लिये आज राजपूताने से दौड़े आए हो। क्या दोनो एक ही बात है?"

क्लार्क—"हाँ मिस सेवक, दोनो एक ही बात है! हम यहाँ शासन करने के लिये आते हैं, अपने मनोभावों और व्यक्तिगत विचारों का पालन करने के लिये नहीं। जहाज़ से उतरते ही हम अपने व्यक्तित्व को मिटा देते हैं, हमारा न्याय, हमारी सहृदयता, हमारी सदिच्छा, सबका एक ही अभीष्ट है। हमारा प्रथम और अंतिम उद्देश्य शासन करना है।"

मि० क्लार्क का लक्ष्य सोफ़ी की ओर इतना नहीं, जितना विनय की ओर था। वह विनय को अलक्षित रूप से धमका रहे थे। खुले हुए शब्दों में उनका आशय यही था कि हम किसी के मित्र नहीं हैं, हम यहाँ राज्य करने आए हैं, और जो हमारे कार्य में बाधक होगा, उसे हम उखाड़ फेकेंगे।

सोफ़ी ने कहा—"अन्याय-पूर्ण शासन शासन नहीं, युद्ध है।"

क्लार्क—"तुमने फावड़े को फावड़ा कह दिया। हममें इतनी सज्जनता है। अच्छा, मैं तुमसे फिर मिलूँगा।"

यह कहकर उन्होंने घोड़े को एड़ लगाई। सोफ़िया ने उच्च स्वर से कहा—"नहीं, कदापि न आना; मैं तुमसे नहीं मिलना चाहती।"

आकाश मेघ मंडित हो रहा था। संध्या से पहले संध्या हो गई थी। मि० क्लार्क अभी गए ही थे कि मि० जॉन सेवक की मोटर आ पहुँची। वह ज्यों ही मोटर से उतरे कि सैकड़ों आदमी उनकी तरफ़ लपके। जनता शासकों से दबती है, उनकी शक्ति का ज्ञान उस पर अंकुश जमाता

रहता है। जहाँ उस शक्ति का भय नहीं होता, वहाँ वह आपे से बाहर हो जाती है। मि० सेवक शासकों के कृपापात्र होने पर भी शासक नहीं थे। जान लेकर गोरखों के कैंप की तरफ़ भागे, सिर पर पाँव रखकर दौड़े; लेकिन ठोकर खाई, और गिर पड़े। मि० क्लार्क ने घोड़े पर से उन्हें दौड़ते देखा था। उन्हें गिरते देखा, तो समझे, जनता ने उन पर आघात कर दिया। तुरत गोरखों का एक दल उनकी रक्षा के निमित्त भेजा। जनता ने भी उग्र रूप धारण किया—चूहे बिल्ली से लड़ने को तैयार हुए। सूरदास अभी तक चुपचाप खड़ा था। यह हलचल सुनी, तो भयभीत होकर भैरों से बोला, जो एक क्षण के लिये उसे न छोड़ता था—"भैया, तुम मुझे ज़रा अपने कंधे पर बैठा लो, एक बार और लोगों को समझा देखूँ। क्यों लोग यहाँ से हट नहीं जाते? सैकड़ों बार कह चुका, कोई सुनता ही नहीं। कहीं गोली चल गई, तो आज उस दिन से भी अधिक खून-खच्चर हो जायगा।"

भैरों ने सूरदास को कंधे पर बैठा लिया। जन-समूह में उसका सिर बालिश्त-भर ऊँचा हो गया। लोग इधर-उधर से उसकी बातें सुनने दौड़े। वीर-पूजा जनता का स्वाभाविक गुण है। ऐसा ज्ञात होता था कि कोई चक्षु-हीन यूनानी देवता अपने उपासकों के बीच खड़ा है।

सूरदास ने अपनी तेज-हीन आँखों से जन-समूह को देखकर कहा—"भाइयो, आप लोग अपने-अपने घर जायँ। आपसे हाथ जोड़कर कहता हूँ, घर चले जायँ। यहाँ जमा होकर हाकिमों को चिढ़ाने से क्या फायदा? मेरी मौत आवेगी, तो आप लोग खड़े रहेंगे, और मैं मर जाऊँगा। मौत न आवेगी, तो मैं तोपों के मुँह से बचकर निकल आऊँगा। आप लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नहीं आए, मुझसे दुसमनी करने आए हैं। हाकिमों के मन में, फौज के मन में, पुलिस के मन में जो दया और धरम का खयाल आता, उसे आप लोगों ने जमा होकर क्रोध बना दिया है। मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक दीन, अंधा

आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बंद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल से लड़ना चाहता था......।"

इसके आगे वह और कुछ न कह सका। मि० क्लार्क ने उसे खड़े होकर कुछ बोलते सुना, तो समझे, अंधा जनता को उपद्रव मचाने के लिये प्रेरित कर रहा है। उनकी धारणा थी कि जब तक यह आत्मा जीवित रहेगी, अंगों की गति बंद न होगी। इसलिये आत्मा ही का नाश कर देना आवश्यक है। उद्गम को बंद कर दो, जल-प्रवाह बंद हो जायगा। वह इसी ताक में लगे हुए थे कि इस विचार को कैसे कार्य-रूप में परिणत करें, किंतु सूरदास के चारो तरफ़ नित्य आदमियों का जमघट रहता था, क्लार्क को इच्छित अवसर न मिलता था। अब जो उसके सिर को ऊपर उठा हुआ देखा, तो उन्हें वह अवसर मिल गया। वह स्वर्णावसर था, जिसके प्राप्त होने पर ही इस संग्राम का अंत हो सकता था। इसके पश्चात् जो कुछ होगा, उसे वह जानते थे। जनता उत्तेजित होकर पत्थरों की वर्षा करेगी, घरों में आग लगावेगी, सरकारी दफ़्तरों को लूटेगी। इन उपद्रवों को शांत करने के लिये उनके पास पर्याप्त शक्ति थी। मूल-मंत्र अंधे को समरस्थल से हटा देना था—यही जीवन का केंद्र है, यही गति-संचालक सूत्र है। उन्होंने जेब से पिस्तौल निकाला, और सूरदास पर चला दिया। निशाना अचूक पड़ा। बाण ने लक्ष्य को वेध दिया। गोली सूरदास के कंधे में लगी, सिर लटक गया, रक्त-प्रवाह होने लगा। भैरों उसे सँभाल न सका, वह भूमि पर गिर पड़ा। आत्मबल पशुबल का प्रतिकार न कर सका।

सोफ़िया ने मि० क्लार्क को जेब से पिस्तौल निकालते और सूरदास को लक्ष्य करते देखा था। उसको ज़मीन पर गिरते देखकर समझी, घातक ने अपना अभीष्ट पूरा कर लिया। फ़िटन पर खड़ी थी, नीचे कूद पड़ी, और हत्याक्षेत्र की ओर चली, जैसे कोई माता अपने बालक को किसी आनेवाली गाड़ी की झपेट में देखकर दौड़े। विनय उसके पीछे-पीछे उसे

के युवक घबराए हुए इधर-उधर दौड़ते फिरते थे; लेकिन उनके समझाने का किसी पर असर न होता था। लोग दौड़-दौड़कर ईंट और कंकड़-पत्थर जमा कर रहे थे। खँडहरों में मलबे की क्या कमी! देखते-देखते जगह-जगह पत्थरों के ढेर लग गए।

विनय ने देखा, अब अनर्थ हुआ चाहता है। आन-की-आन में सैकड़ों जानों पर बन आएगी, तुरंत एक गिरी हुई दीवार पर चढ़कर बोले—"मित्रो, यह क्रोध का अवसर नहीं है, प्रतिकार का अवसर नहीं है, सत्य की विजय पर आनंद और उत्सव मनाने का अवसर है।"

एक आदमी बोला—"अरे! यह तो कुँवर विनयसिंह हैं।"

दूसरा—"वास्तव में आनंद मनाने का अवसर है, उत्सव मनाइए, विवाह मुबारक!"

तीसरा—"जब मैदान साफ़ हो गया, तो आप मुरदों की लाश पर आँसू बहाने के लिये पधारे हैं। जाइए, शयनागार में रंग उड़ाइए। यह कष्ट क्यों उठाते हैं?"

विनय—"हाँ, यह उत्सव मनाने का अवसर है कि अब भी हमारी पतित, दलित, पीड़ित जाति में इतना विलक्षण आत्मबल है कि एक निस्सहाय, अपंग, नेत्र-हीन भिखारी शक्ति-संपन्न अधिकारियों का इतनी वीरता से सामना कर सकता है।"

एक आदमी ने व्यंग्य-भाव से कहा—"एक बेकस अंधा जो कुछ कर सकता है, वह राजे-रईस नहीं कर सकते।"

दूसरा—"राजभवन में जाकर शयन कीजिए। देर हो रही है। हम अभागों को मरने दीजिए।"

तीसरा—"सरकार से कितना पुरस्कार मिलनेवाला है?"

चौथा—"आप ही ने तो राजपूताने में दरबार का पक्ष लेकर प्रजा को आग में झोंक दिया था।"

विनय—"भाइयो, मेरी निंदा का समय फिर मिल जायगा। यद्यपि मैं

कुछ विशेष कारणों से इधर आपका साथ न दे सका; लेकिन ईश्वर जानता है, मेरी सहानुभूति आप ही के साथ थी। मैं एक क्षण के लिये आपकी तरफ़ से ग़ाफ़िल न था!"

एक आदमी—"यारो, यहाँ खड़े क्या बकवास कर रहे हो? कुछ दम हो, तो चलो, कट मरें।"

दूसरा—"यह व्याख्यान झाड़ने का अवसर नहीं है। आज हमें यह दिखाना है कि हम न्याय के लिये कितनी वीरता से प्राण दे सकते हैं।"

तीसरा—"चलकर गोरखों के सामने खड़े हो जाओ। कोई क़दम पीछे न हटाव। वहीं अपनी लाशों का ढेर लगा दो। बाल-बच्चों को ईश्वर पर छोड़ो।"

चौथा—"यह तो नहीं होता कि आगे बढ़कर ललकारें कि कायरों का रक्त भी खौलने लगे। हमें समझाने चले हैं, मानो हम देखते नहीं कि सामने फ़ौज बंदूकें भरे खड़ी है, और एक बाढ़ में क़त्लआम कर देगी।"

पाँचवाँ—"भाई, हम ग़रीबों की जान सस्ती होती है। रईसज़ादे होते, तो हम भी दूर-दूर से खड़े तमाशा देखते।"

छठा—"इससे कहो, जाकर चुल्लू-भर पानी में डूब मरे। हमें इसके उपदेशों की ज़रूरत नहीं। उँगली में लहू लगाकर शहीद बनने चले हैं।"

ये अपमान-जनक, व्यंग्य-पूर्ण कटु वाक्य विनय के उर-स्थल में बाण के सदृश चुभ गए—"हा हतभाग्य! मेरे जीवन-पर्यंत के सेवानुराग, त्याग, संयम का यही फल है! अपना सर्वस्व देश-सेवा की वेदी पर आहुति देकर रोटियों को मोहताज होने का यही पुरस्कार है! क्या रियासत का यही पुरस्कार है! क्या रियासत का कलंक मेरे माथे से कभी न मिटेगा?" वह भूल गए—"मैं यहाँ जनता की रक्षा करने आया हूँ, गोरखे सामने हैं। मैं यहाँ से हटा, और एक क्षण

में पैशाचिक नर-हत्या होने लगेगी। मेरा मुख्य कर्तव्य अंत समय तक इन्हें रोकते रहना है। कोई मुज़ायक़ा नहीं, अगर इन्होंने ताने दिए, अपमान किया, कलंक लगाया, दुर्वचन कहे। मैं अपराधी हूँ, अगर नहीं हूँ, तो भी मुझे धैर्य से काम लेना चाहिए।" ये सभी बातें वह भूल गए। नीति-चतुर प्राणी अवसर के अनुकूल काम करता है। जहाँ दबना चाहिए, वहाँ दब जाता है; जहाँ गरम होना चाहिए, वहाँ गरम होता है। उसे मानापमान का हर्ष या दुःख नहीं होता। उसकी दृष्टि निरंतर अपने लक्ष्य पर रहती है। वह अविरल गति से, अदम्य उत्साह से उसी ओर बढ़ता है, किंतु सरल, लज्जाशील, निष्कपट आत्माएँ मेघों के समान होती हैं, जो अनुकूल वायु पाकर पृथ्वी को तृप्त कर देते हैं, और प्रतिकूल वायु के वेग से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। नीतिज्ञ के लिये अपना लक्ष्य ही सब कुछ है, आत्मा का उसके सामने कुछ मूल्य नहीं। गौरव-संपन्न प्राणियों के लिये अपना चरित्र-बल ही सर्वप्रधान है। वे अपने चरित्र पर किए गए आघातों को सह नहीं सकते। वे अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने को अपने लक्ष्य की प्राप्ति से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण समझते हैं। विनय की सौम्य आकृति तेजस्वी हो गई, लोचन लाल हो गए। वह उन्मत्तों की भाँति जनता का रास्ता रोककर खड़े हो गए, और बोले—"क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं? देखिए।"

यह कहकर उन्होंने जेब से भरा हुआ पिस्तौल निकाल लिया, छाती में उसकी नली लगाई, और जब तक लोग दौड़ें, भूमि पर गिर पड़े। लाश तड़पने लगी। हृदय की संचित अभिलाषाएँ रक्त की धार बनकर निकल गईं। उसी समय जल-वृष्टि होने लगी। मानो स्वर्गवासिनी आत्माएँ पुष्प-वर्षा कर रही हों।

जीवन-सूत्र कितना कोमल है! वह क्या पुष्प से कोमल नहीं, जो वायु के झोंके सहता है, और मुरझाता नहीं? क्या वह लताओं से कोमल नहीं,

जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती और लिपटी रहती हैं ? वह क्या पानी के बबूलों से कोमल नहीं, जो जल की तरंगों पर तैरते हैं, और टूटते नहीं ? संसार में और कौन-सी वस्तु इतनी कोमल, इतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है, जिसे एक व्यंग्य, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असह्य, घातक है ! और, इस भित्ति पर कितने विशाल, कितने भव्य, कितने बृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है !

जनता स्तंभित हो गई, जैसे आँखों में अँधेरा छा जाय ! उसका क्रोधावेश करुणा के रूप में बदल गया। चारो तरफ़ से दौड़-दौड़कर लोग आने लगे, विनय के दर्शनों से अपने नेत्रों को पवित्र करने के लिये, उनकी लाश पर चार बूँद आँसू बहाने के लिये। जो द्रोही था, स्वार्थी था, काम-लिप्सा रखनेवाला था, वह एक क्षण में देव-तुल्य, त्याग-मूर्ति, देश का प्यारा, जनता की आँखों का तारा बना हुआ था। जो लोग गोरखों के समीप पहुँच गए थे, वे भी लौट आए। हज़ारों शोक-विह्वल नेत्रों से अश्रु-वृष्टि हो रही थी, जो मेघ की बूँदों से मिलकर पृथ्वी को तृप्त करती थी। प्रत्येक हृदय शोक से विदीर्ण हो रहा था, प्रत्येक हृदय अपना तिरस्कार कर रहा था, पश्चात्ताप कर रहा था—"आह ! यह हमारे ही व्यंग्य-बाणों का, हमारे ही तीव्र वाक्य-शरों का पाप-कृत्य है। हमीं इसके घातक हैं, हमारे ही सिर यह हत्या है। हाय ! कितनी वीर आत्मा, कितना धैर्यशील, कितना गंभीर, कितना उन्नत-हृदय, कितना लज्जा-शील, कितना आत्माभिमानी, दीनों का कितना सच्चा सेवक और न्याय का कितना सच्चा उपासक था, जिसने इतनी बड़ी रियासत को तृणवत् समझा, और हम पमारों ने उसकी हत्या कर डाली, उसे न पहचाना !"

एक ने रोकर कहा—"ख़ुदा करे, मेरी ज़बान जल जाय। मैंने ही शादी पर मुबारकबादी का ताना मारा था।"

दूसरा बोला—"दोस्तो, इस लाश पर फ़िदा हो जाओ, इस पर निसार हो जाओ, इसके क़दमों पर गिरकर मर जाओ।"

शुद्धात्मा होते हैं। जब तक जीते हैं, निर्द्वंद्व जीते हैं। मरते हैं, तो निर्द्वंद्व मरते हैं।

इस शोक-वृत्तांत को क्यों तूल दें? जब बेगानों की आँखों से आँसू और हृदय से आह निकल पड़ती थी, तो अपनों का कहना ही क्या! नायकराम सूरदास के साथ शफ़ाख़ाने गए थे। लौटे ही थे कि यह दृश्य देखा। एक लंबी साँस खींचकर विनय के चरणों पर सिर रख दिया, और बिलख-बिलखकर रोने लगे। ज़रा चित्त शांत हुआ, तो सोफ़ी को ख़बर देने चले, जो अभी शफ़ाख़ाने ही में थी।

नायकराम रास्ते-भर दौड़ते हुए गए, पर सोफ़ी के सामने पहुँचे, तो गला इतना फँस गया कि मुँह से एक भी शब्द न निकला। उसकी ओर ताकते हुए सिसक-सिसककर रोने लगे। सोफ़ी के हृदय में शूल-सा उठा। अभी नायकराम गए, और उलटे पाँव लौट आए। ज़रूर कोई अमंगल-सूचना है। पूछा—"क्या है पंडाजी?" यह पूछते ही उसका कंठ भी रुँध गया।

नायकराम की सिसकियाँ आर्त-नाद हो गईं। सोफ़ी ने दौड़कर उनका हाथ पकड़ लिया, और आवेश-कंपित कंठ से पूछा—"क्या विनय...?" यह कहते-कहते शोकातिरेक की दशा में शफ़ाख़ाने से निकल पड़ी, और पाँड़ेपुर की ओर चली। नायकराम आगे-आगे लालटेन दिखाते हुए चले। वर्षा ने जल-थल एक कर दिया था। सड़क के किनारे के वृक्ष, जो अब पानी में खड़े थे, सड़क का चिह्न बता रहे थे। सोफ़ी का शोक एक ही क्षण में आत्मग्लानि के रूप में बदल गया—"हाय! मैं ही हत्यारिन हूँ। क्यों आकाश से वज्र गिरकर मुझे भस्म नहीं कर देता? क्यों कोई साँप ज़मीन से निकलकर मुझे डस नहीं लेता? क्यों पृथ्वी फटकर मुझे निगल नहीं जाती? हाय! आज मैं वहाँ न गई होती, तो वह कदापि न जाते। मैं क्या जानती थी कि विधाता मुझे सर्वनाश की ओर लिए जाता है! मैं दिल में उन पर झुँझला रही थी, मुझे यह संदेह भी हो

रहा था कि यह डरते हैं ! आह ! यह सब मेरे कारण हुआ, मैं ही अपने सर्वनाश का कारण हूँ ! मैं अपने हाथों लुट गई ! हाय ! मैं उनके प्रेम के आदर्श को न पहुँच सकी।"

फिर उसके मन में विचार आया—"कहीं ख़बर झूठी न हो। उन्हें चोट लगी हो, और वह संज्ञा-शून्य हो गए हों। आह ! काश मैं एक बार उनके वचनामृत से अपने हृदय को पवित्र कर लेती ? नहीं-नहीं, वह जीवित हैं, ईश्वर मुझ पर इतना अत्याचार नहीं कर सकता। मैंने कभी किसी प्राणी को दुख नहीं पहुँचाया, मैंने कभी उस पर अविश्वास नहीं किया, फिर वह मुझे इतना वज्रदंड क्यों देगा !"

जब सोफ़िया संग्राम-स्थल के समीप पहुँची, तो उस पर भीषण भय छा गया। वह सड़क के किनारे एक मील के पत्थर पर बैठ गई। वहाँ कैसे जाऊँ ? कैसे उन्हें देखूँगी, कैसे उन्हें स्पर्श करूँगी ? उनकी मरणावस्था का चित्र उसकी आँखों के सामने खिंच गया, उनकी मृत देह रक्त और धूल में लिपटी हुई भूमि पर पड़ी हुई थी। इसे उसने जीते-जागते देखा था। इसे इस जीर्णावस्था में वह कैसे देखेगी ! उसे इस समय प्रबल आकांक्षा हुई कि वहाँ जाते ही मैं भी उनके चरणों पर गिरकर प्राण त्याग दूँ। अब संसार में मेरे लिये कौन-सा सुख है ! हाय ! यह कठिन वियोग कैसे सहूँगी ! मैंने अपने जीवन को नष्ट कर दिया, ऐसे नर-रत्न को धर्म की पैशाचिक क्रूरता पर बलिदान कर दिया।

यद्यपि वह जानती थी कि विनय का देहावसान हो गया, फिर भी उसे भ्रांत आशा हो रही थी कि कौन जाने, वह केवल मूर्च्छित हो गए हों ! सहसा उसे पीछे से एक मोटरकार पानी को चीरती हुई आती दिखाई दी। उसके उज्ज्वल प्रकाश में फटा हुआ पानी ऐसा जान पड़ता था, मानो दोनो ओर से जल-जंतु उस पर टूट रहे हों। वह निकट आकर रुक गई। रानी जाह्नवी थीं। सोफ़ी को देखकर बोलीं—"बेटी! तुम यहाँ क्यों बैठी हो ? आओ, मेरे साथ चलो। क्या गाड़ी नहीं मिली ?"

सोफ़ी चिल्लाकर रानी के गले से लिपट गई। किंतु रानी की आँखों में आँसू न थे, मुख पर शोक का चिह्न न था। उनकी आँखों में गर्व का मद छाया हुआ था, मुख पर विजय की आभा झलक रही थी। सोफ़ी को गले से लगाती हुई बोलीं—"क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिये? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाए जाते, उत्सव के राग गाए जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहिर होते, तो उसकी लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुख नहीं है। दुख होता, अगर वह आज प्राण बचाकर भागता। यह तो मेरी चिर-संचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी, और वीर राजपूतों तथा राजपूतनियों के आत्मसमर्पण की कथाएँ पढ़ा करती थी, उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा ही पुत्र देता, जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति-हित के लिये हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गई। आज मैं एक वीर पुत्र की जननी हूँ। क्यों रोती हो? इससे उसकी आत्मा को क्लेश होगा। तुमने तो धर्म-ग्रंथ पढ़े हैं। मनुष्य कभी मरता है? जीव तो अमर है। उसे तो परमात्मा भी नहीं मार सकता। मृत्यु तो केवल पुनर्जीवन की सूचना है, एक उच्चतर जीवन का मार्ग। विनय फिर संसार में आएगा, उसकी कीर्ति और भी फैलेगी। जिस मृत्यु पर घरवाले रोएँ, वह भी कोई मृत्यु है। वह तो एँड़ियाँ रगड़ना है। वीर मृत्यु वही है, जिस पर बेगाने रोएँ, और घरवाले आनंद मनाएँ। दिव्य मृत्यु दिव्य जीवन से कहीं उत्तम है। दिव्य जीवन में कलुषित मृत्यु की शंका रहती है, दिव्य मृत्यु में यह संशय कहाँ? कोई जीव दिव्य नहीं है, जब तक उसका अंत भी दिव्य न हो। यह लो, पहुँच गए। कितनी प्रलयंकर वृष्टि है, कैसा गहन अंधकार! फिर भी सहस्रों प्राणी उसके शव पर अश्रु-वर्षा कर रहे हैं, क्या यह रोने का अवसर है?"

मोटर रुकी। सोफ़िया और जाह्नवी को देखकर लोग इधर-उधर हट

गए। इंदु दौड़कर माता से लिपट गई। हज़ारों आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। जाह्नवी ने विनय का नत मस्तक अपनी गोद में ले लिया, उसे छाती से लगाया, उसका चुंबन किया, और शोक-सभा की ओर गर्व-युक्त नेत्रों से देखकर बोली—"यह युवक, जिसने विनय पर अपने प्राण समर्पित कर दिए, विनय से बढ़कर है। क्या कहा? मुसलमान है! कर्तव्य के क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान का भेद नहीं, दोनो एक ही नाव में बैठे हुए हैं, डूबेंगे, तो दोनो डूबेंगे; बचेंगे, तो दोनो बचेंगे। मैं इस वीर आत्मा का यहीं मज़ार बनवाऊँगी। शहीद के मज़ार को कौन खोदकर फेंक देगा, कौन इतना नीच और अधम होगा! यह सच्चा शहीद था। तुम लोग क्यों रोते? विनय के लिये? तुम लोगों में कितने ही युवक हैं, कितने ही बाल-बच्चोंवाले हैं। युवकों से मैं कहूँगी—जाओ, और विनय की भाँति प्राण देना सीखो। दुनिया केवल पेट पालने की जगह नहीं है। देश की आँखें तुम्हारी ओर लगी हुई हैं, तुम्हीं इसका बेड़ा पार लगाओगे। मत फँसो गृहस्थी के जंजाल में, जब तक देश का कुछ हित न कर लो। देखो, विनय कैसा हँस रहा है! जब बालक था, उस समय की याद आती है। इसी भाँति हँसता था। कभी उसे रोते नहीं देखा। कितनी विलक्षण हँसी है। क्या इसने धन के लिये प्राण दिए। धन इसके घर में भरा हुआ था, उसकी ओर कभी आँख उठाकर नहीं देखा, बरसों हो गए, पलँग पर नहीं सोया, जूते नहीं पहने, भरपेट भोजन नहीं किया, ज़रा देखो, उसके पैरों में कैसे घट्टे पड़ गए हैं, विरागी था, साधु था, तुम लोग भी ऐसे ही साधु बन जाओ। बाल-बच्चोंवालों से मेरा निवेदन है, अपने प्यारे बच्चों को चक्की का बैल न बनाओ, गृहस्थी का गुलाम न बनाओ। ऐसी शिक्षा दो कि जिएँ, किंतु जीवन के दास बनकर नहीं, स्वामी बनकर। यही शिक्षा है, जो इस वीर आत्मा ने तुम्हें दी है। जानते हो, उसका विवाह होनेवाला था। यही प्यारी बालिका उसकी बधू बननेवाली थी। किसी ने ऐसा कमनीय सौंदर्य, ऐसा अलौकिक रूप-

लावण्य देखा है ! रानियाँ इसके आगे पानी भरें ! विद्या में इसके सामने कोई पंडित मुँह नहीं खोल सकता। जिह्वा पर सरस्वती हैं, घर का उजाला है। विनय को इससे कितना प्रेम था, यह इसी से पूछो। लेकिन क्या हुआ ? जब अवसर आया, उसने प्रेम के बंधन को कच्चे धागे की भाँति तोड़ दिया, उसे अपने मुख का कलंक नहीं बनाया, उस पर अपने आदर्श का बलिदान नहीं किया। प्यारो ! पेट पर अपने यौवन को, अपनी आत्मा को, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को मत कुर्बान करो। इंदु बेटी, क्यों रोती हो ? किसको ऐसा भाई मिला है ?"

इंदु के अंतःस्थल में बड़ी देर से एक ज्वाला-सी दहक रही थी। वह इन सारी विडंबनाओं का मूल-कारण अपने पति को समझती थी। अब तक ज्वाला उरःस्थल में थी, अब बाहर निकल पड़ी। यह ध्यान न रहा कि मैं इतने आदमियों के सामने क्या कहती हूँ, औचित्य की ओर से आँखें बंद करके बोली—"माताजी, इस हत्या का कलंक मेरे सिर है। मैं अब उस प्राणी का मुँह न देखूँगी, जिसने मेरे वीर भाई की जान लेकर छोड़ी, और वह केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये।"

रानी जाह्नवी ने तीव्रस्वर में कहा—"क्या महेंद्र को कहती है ? अगर फिर मेरे सामने मुँह से ऐसी बात निकाली, तो तेरा गला घोट दूँगी। क्या तू उन्हें अपना गुलाम बनाकर रक्खेगी ? तू स्त्री होकर चाहती है कि कोई तेरा हाथ न पकड़े, वह पुरुष होकर क्यों न ऐसा चाहें ? वह संसार को क्यों तेरे ही नेत्रों से देखें, क्या भगवान् ने उन्हें आँखें नहीं दीं ? अपने हानि-लाभ का हिसाबदार तुझे क्यों बनाएँ, क्या भगवान् ने उन्हें बुद्धि नहीं दी ? तेरी समझ में, मेरी समझ में, यहाँ जितने प्राणी खड़े हैं, उनकी समझ में यह मार्ग भयंकर है, हिंसक जंतुओं से भरा हुआ है। इसका बुरा मानना क्या ? अगर तुझे उनकी बातें पसंद नहीं आतीं, तो कोशिश कर कि पसंद आएँ। वह तेरे पतिदेव हैं, तेरे लिये उनकी सेवा से उत्तम और कोई पथ नहीं है।"

दस बज गए थे। लोग कुँवर भरतसिंह की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब दस बजने की आवाज़ कानों में आई, तो रानी जाह्नवी ने कहा—"उनकी राह अब मत देखो, वह न आएँगे, और न आ सकते हैं। वह उन पिताओं में हैं, जो पुत्र के लिये जीते हैं, पुत्र के लिये मरते हैं, और पुत्र के पुत्रों के लिये मंसूबे बाँधते हैं। उनकी आँखों में अँधेरा छा गया होगा, सारा संसार सूना जान पड़ता होगा, अचेत पड़े होंगे। संभव है, उनके प्राणांत हो गए हों। उनका धर्म, उनका कर्म, उनका जीवन, उनका मरण, उनका दीन, उनकी दुनिया, सब कुछ इसी पुत्र-रत्न पर अवलंबित था। अब वह निराधार हैं, उनके जीवन का कोई लक्ष्य, कोई अर्थ नहीं है। वह अब कदापि न आएँगे, आ ही नहीं सकते। चलो, विनय के साथ अपना अंतिम कर्तव्य पूरा कर लूँ; इन्हीं हाथों से उसे हिंडोले में झुलाया था, इन्हीं हाथों से उसे चिता में बैठा दूँ; इन्हीं हाथों से उसे भोजन कराती थी, इन्हीं हाथों से गंगाजल पिला दूँ।"

[४४]

गंगा से लौटते-लौटते दिन के नौ बज गए। हज़ारों आदमियों का जमघट, गलियाँ तंग और कीचड़ से भरी हुईं, पग-पग पर फूलों की वर्षा, सेवक-दल का राष्ट्रीय संगीत, गंगा तक पहुँचते-पहुँचते ही सबेरा हो गया था। लौटते हुए जाह्नवी ने कहा—"चलो, ज़रा सूरदास को देखते चलें, न-जाने मरा या बचा, सुनती हूँ, घाव गहरा था।"

सोफ़िया और जाह्नवी, दोनो शफ़ाख़ाने गईं, तो देखा, सूरदास बरामदे में चारपाई पर लेटा हुआ है, भैरों उसके पैताने खड़ा है, और सुभागी सिरहाने बैठी पंखा झल रही है। जाह्नवी ने डॉक्टर से पूछा—"इसकी दशा कैसी है, बचने की कोई आशा है?"

डॉक्टर ने कहा—"किसी दूसरे आदमी को यह ज़ख़्म लगा होता, तो अब तक मर चुका होता। इसकी सहन-शक्ति अद्भुत है। दूसरों को नश्तर लगाने के समय क्लोरोफ़ार्म देना पड़ता है, इसके कंधे में दो इंच गहरा और दो इंच चौड़ा नश्तर दिया गया, पर इसने क्लोरोफ़ार्म न लिया। गोली निकल आई है, लेकिन बच जाय, तो कहें।"

सोफ़िया को एक रात की दारुण शोक-वेदना ने इतना घुला दिया था कि पहचानना कठिन था, मानो कोई फूल मुरझा गया हो। गति मंद, मुख उदास, नेत्र बुझे हुए, मानो भूत-जगत् में नहीं, विचार-जगत् में विचर रही है। आँखों को जितना रोना था, रो चुकी थीं, अब रोयाँ-रोयाँ रो रहा था। उसने सूरदास के समीप जाकर कहा—"सूरदास, कैसा जी है? रानी जाह्नवी आई हैं।"

सूरदास—"धन्य भाग। अच्छा हूँ।"

जाह्नवी—"पीड़ा बहुत हो रही है?"

सूरदास—"कुछ कष्ट नहीं है। खेलते-खेलते गिर पड़ा हूँ, चोट आ गई है, अच्छा हो जाऊँगा। उधर क्या हुआ, झोपड़ी बची कि गई?"

सोफ़ी—"अभी तो नहीं गई है, लेकिन शायद अब न रहे। हम तो विनय को गंगा की गोद में सौंपे चले आते हैं।"

सूरदास ने क्षीण स्वर में कहा—"भगवान की मरजी, वीरों का यही धरम है। जो गरीबों के लिये जान लड़ा दे, वही सच्चा वीर है।"

जाह्नवी—"तुम साधु हो। ईश्वर से कहो, विनय का फिर इसी देश में जन्म हो।"

सूरदास—"ऐसा ही होगा माताजी, ऐसा ही होगा। अब महान पुरुष हमारे ही देश में जनम लेंगे। जहाँ अन्याय और अधरम होता है, वहीं देवता लोग जाते हैं। उनके संस्कार उन्हें खींच ले जाते हैं। मेरा मन कह रहा है कि कोई महात्मा थोड़े ही दिनों में इस देश में जनम लेने-वाले हैं......।"

डॉक्टर ने आकर कहा—"रानीजी, मैं बहुत खेद के साथ आपसे प्रार्थना करता हूँ कि सूरदास से बातें न करें, नहीं तो ज़ोर पड़ने से इनकी दशा बिगड़ जायगी। ऐसी हालतों में सबसे बड़ा विचार यह होना चाहिए कि रोगी निर्बल न होने पाए, उसकी शक्ति क्षीण न हो।"

अस्पताल के रोगियों और कर्मचारियों को ज्यों ही मालूम हुआ कि विनयसिंह की माताजी आई हैं, तो सब उनके दर्शनों को जमा हो गए, कितनों ही ने उनकी पद-रज माथे पर चढ़ाई। यह सम्मान देखकर जाह्नवी का हृदय गर्व से प्रफुल्लित हो गया। विहसित मुख से सबों को आशीर्वाद देकर यहाँ से चलने लगीं, तो सोफ़िया ने कहा—"माताजी, आपकी आज्ञा हो, तो मैं यहीं रह जाऊँ। सूरदास की दशा चिंताजनक जान पड़ती है। इसकी बातों में वह तत्त्वज्ञान है, जो मृत्यु की सूचना देता है। मैंने इसे होश में कभी आत्मज्ञान की ऐसी बातें करते नहीं सुना।"

रानी ने सोफ़ी को गले लगाकर सहर्ष आज्ञा दे दी। वास्तव में सोफ़िया सेवा-भवन जाना न चाहती थी। वहाँ की एक-एक वस्तु, वहाँ के फूल-पत्ते, यहाँ तक कि वहाँ की वायु भी विनय की याद दिलाएगी। जिस भवन में विनय के साथ रही, उसी में विनय के बिना रहने का ख़याल ही उसे तड़पाए देता था।

रानी चली गईं, तो सोफ़िया एक मोढ़ा डालकर सूरदास की चारपाई के पास बैठ गई। सूरदास की आँखें बंद थीं, पर मुख पर मनोहर शांति छाई हुई थी। सोफ़िया को आज विदित हुआ कि चित्त की शांति ही वास्तविक सौंदर्य है।

सोफ़ी को वहाँ बैठे-बैठे सारा दिन गुज़र गया। वह निर्जल, निराहार, मन मारे बैठी हुई सुखद स्मृतियों के स्वप्न देख रही थी, और जब आँखें भर आती थीं, तो आड़ में जाकर रूमाल से आँसू पोंछ आती थी। उसे अब सबसे तीव्र वेदना यही थी कि मैंने विनय की कोई इच्छा पूरी न की, उनकी अभिलाषाओं को तृप्त न किया, उन्हें वंचित रक्खा। उनके प्रेमानुराग की स्मृति उसके हृदय को ऐसी मसोसती थी कि वह विकल होकर तड़पने लगती थी।

संध्या हो गई थी। सोफ़िया लैंप के सामने बैठी हुई सूरदास को प्रभु मसीह का जीवन-वृत्तांत सुना रही थी। सूरदास ऐसा तन्मय हो रहा था, मानो उसे कोई कष्ट नहीं है। सहसा राजा महेंद्रकुमार आकर खड़े हो गए, और सोफ़ी की ओर हाथ बढ़ा दिया। सोफ़िया ज्यों-की-त्यों बैठी रही। राजा साहब से हाथ मिलाने की चेष्टा न की।

सूरदास ने पूछा—"कौन है मिस साहब?"

सोफ़िया ने कहा—"राजा महेंद्रकुमार हैं।"

सूरदास ने आदर-भाव से उठना चाहा, पर सोफ़िया ने लिटा दिया, और बोली—"हिलो मत, नहीं तो घाव खुल जायगा। आराम से पड़े रहो।"

सूरदास—"राजा साहब आए हैं। उनका इतना आदर भी न करूँ? मेरे ऐसे भाग्य तो हुए। कुछ बैठने को है?"

सोफ़िया—"हाँ, कुर्सी पर बैठ गए।"

राजा साहब ने पूछा—"सूरदास, कैसा जी है?"

सूरदास—"भगवान की दया है।"

राजा साहब जिन भावों को प्रकट करने यहाँ आए थे, वे सोफ़ी के सामने उनके मुख से निकलते हुए सकुचा रहे थे। कुछ देर तक वह मौन बैठे रहे, अंत को बोले—"सूरदास, मैं तुमसे अपनी भूलों की क्षमा माँगने आया हूँ। अगर मेरे बस की बात होती, तो मैं आज अपने जीवन को तुम्हारे जीवन से बदल लेता।"

सूरदास—"सरकार, ऐसी बात न कहिए; आप राजा हैं, मैं रंक हूँ। आपने जो कुछ किया, दूसरों की भलाई के विचार से किया। मैंने जो कुछ किया, अपना धरम समझकर किया। मेरे कारन आपको अपजस हुआ, कितने घर नास हुए, यहाँ तक कि इंद्रदत्त और कुँवर विनयसिंह-जसे दो रतन जान से गए। पर अपना क्या बस है! हम तो खेल खेलते हैं, जीत-हार भगवान के हाथ है। वह जैसा उचित जानते हैं, करते हैं; बस, नीयत ठीक होनी चाहिए।"

राजा—"सूरदास, नीयत को कौन देखता है। मैंने सदैव प्रजा-हित ही पर निगाह रक्खी, पर आज सारे नगर में एक भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो मुझे खोटा, नीच, स्वार्थी, अधर्मी, पापिष्ठ न समझता हो। और तो क्या, मेरी सहधर्मिणी भी मुझसे घृणा कर रही है। ऐसी बातों से मन क्यों न विरक्त हो जाय? क्यों न संसार से घृणा हो जाय? मैं तो अब कहीं मुँह दिखाने-योग्य नहीं रहा।"

सूरदास—"इसकी चिंता न कीजिए। हानि, लाभ, जीवन, मरन, जस, अपजस विधि के हाथ है, हम तो खाली मैदान में खेलने के लिये बनाए गए हैं। सभी खिलाड़ी मन लगाकर खेलते हैं, सभी चाहते हैं कि

हमारी जीत हो, लेकिन जीत एक ही की होती है, तो क्या इससे हारनेवाले हिम्मत हार जाते हैं? वे फिर खेलते हैं; फिर हार जाते हैं, तो फिर खेलते हैं। कभी-न-कभी तो उनकी जीत होती ही है। जो आपको आज बुरा समझ रहे हैं, वे कल आपके सामने सिर झुकाएँगे। हाँ, नीयत ठीक रहनी चाहिए। मुझे क्या उनके घरवाले बुरा न कहते होंगे, जो मेरे कारन जान से गए। इंद्रदत्त और कुँवर विनयसिंह-जैसे दो लाल, जिनके हाथों संसार का कितना उपकार होता, संसार से उठ गए। जस-अपजस भगवान के हाथ है, हमारा यहाँ क्या बस है।"

राजा—"आह सूरदास, तुम्हें नहीं मालूम कि मैं कितनी विपत्ति में पड़ा हुआ हूँ। तुम्हें बुरा कहनेवाले अगर दस-पाँच होंगे, तो तुम्हारा जस गानेवाले असंख्य हैं, यहाँ तक कि हुक्काम भी तुम्हारे दृढ़व्रत और धैर्य का बखान कर रहे हैं। मैं तो दोनो ओर से गया। प्रजा-द्रोही भी ठहरा और राजद्रोही भी। हुक्काम इस सारी दुर्व्यवस्था का अपराध मेरे ही सिर थोप रहे हैं। उनकी समझ में भी मैं अयोग्य, अदूरदर्शी और स्वार्थी हूँ। अब तो यही इच्छा होती है कि मुँह में कालिख लगाकर कहीं चला जाऊँ।"

सूरदास—"नहीं-नहीं, राजा साहब, निराश होना खिलाड़ियों के धरम के विरुद्ध है। अब की हार हुई, तो फिर कभी जीत होगी।"

राजा—"मुझे तो विश्वास नहीं होता कि फिर कभी मेरा सम्मान होगा। मिस सेवक, आप मेरी दुर्बलता पर हँस रही होंगी, पर मैं बहुत दुखी हूँ।"

सोफ़िया ने अविश्वास-भाव से कहा—"जनता अत्यंत क्षमाशील होती है। अगर अब भी आप जनता को यह दिखा सकें कि इस दुर्घटना पर आपको दुख है, तो कदाचित् प्रजा आपका फिर सम्मान करे।"

राजा ने अभी उत्तर न दिया था कि सूरदास बोल उठा—"सरकार, नेकनामी और बदनामी बहुत-से आदमियों के हल्ला मचाने से नहीं होती।

सच्ची नेकनामी अपने मन में होती है। अगर अपना मन बोले कि मैंने जो कुछ किया, वही मुझे करना चाहिए था, इसके सिवा कोई दूसरी बात करना मेरे लिये उचित न था, तो वही नेकनामी है। अगर आपको इस मार-काट पर दुख है, तो आपका धरम है कि लाट साहब से इसकी लिखा-पढ़ी करें। वह न सुनें, तो जो उनसे बड़ा हाकिम हो, उससे कहें-सुनें, और जब तक सरकार परजा के साथ न्याय न करे, दम न लें। लेकिन अगर आप समझते हैं कि जो कुछ आपने किया, वही आपका धरम था, स्वार्थ के लोभ से आपने कोई बात नहीं की, तो आपको तनिक भी दुख न करना चाहिए।"

सोफ़ी ने पृथ्वी की ओर ताकते हुए कहा—"राजपक्ष लेनेवालों के लिये यह सिद्ध करना कठिन है कि वे स्वार्थ से मुक्त हैं।"

राजा—"मिस सेवक, मैं आपको सच्चे हृदय से विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने अधिकारियों के हाथों सम्मान और प्रतिष्ठा पाने के लिये उनका पक्ष नहीं ग्रहण किया, और पद का लोभ तो मुझे कभी रहा ही नहीं। मैं स्वयं नहीं कह सकता कि वह कौन-सी बात थी, जिसने मुझे सरकार की ओर खींचा। संभव है, अनिष्ट का भय हो, या केवल ठकुरसुहाती; पर मेरा कोई स्वार्थ नहीं था। संभव है, मैं उस समाज की आलोचना, उसके कुटिल कटाक्ष और उसके व्यंग्य से डरा होऊँ। मैं स्वयं इसका निश्चय नहीं कर सकता। मेरी धारणा थी कि सरकार का कृपा-पात्र बनकर प्रजा का जितना हित कर सकता हूँ, उतना उसका द्वेषी बनकर नहीं कर सकता। पर आज मुझे मालूम हुआ कि वहाँ भलाई होने की जितनी आशा है, उससे कहीं अधिक बुराई होने का भय है। यश और कीर्ति का मार्ग वही है, जो सूरदास ने ग्रहण किया। सूरदास, आशीर्वाद दो कि ईश्वर मुझे सत्पथ पर चलने की शक्ति प्रदान करें।"

आकाश पर बादल मँडला रहे थे। सूरदास निद्रा में मग्न था। इतनी

बातों से उसे थकावट आ गई थी। सुभागी एक टाट का टुकड़ा लिए हुए आई, और सूरदास के पैताने बिछाकर लेट रही। शफ़ाख़ाने के कर्मचारी चले गए। चारों ओर सन्नाटा छा गया।

सोफ़ी गाड़ी का इंतज़ार कर रही थी—"दस बजते होंगे। रानीजी शायद गाड़ी भेजना भूल गईं। उन्होंने शाम ही को गाड़ी भेजने का वादा किया था। कैसे जाऊँ? क्या हरज है, यहीं बैठी रहूँ। वहाँ रोने के सिवा और क्या करूँगी। आह! मैंने विनय का सर्वनाश कर दिया। मेरे ही कारण वह दो बार कर्तव्य-मार्ग से विचलित हुए, मेरे ही कारण उनकी जान पर बनी! अब वह मोहिनी मूर्ति देखने को तरस जाऊँगी। जानती हूँ कि हमारा फिर संयोग होगा, लेकिन नहीं जानती, कब!" उसे वे दिन याद आए, जब भीलों के गाँव में इसी समय वह द्वार पर बैठी उनकी राह जोहा करती थी, और वह कम्मल ओढ़े, नंगे सिर, नंगे पाँव, हाथ में एक लकड़ी लिए आते थे, और मुस्किराकर पूछते थे, मुझे देर तो नहीं हो गई। वह दिन याद आया, जब राजपूताना जाते समय विनय ने उनकी ओर आतुर, किंतु निराश नेत्रों से देखा था। आह! वह दिन याद आया, जब उसकी ओर ताकने के लिये रानीजी ने उन्हें तीव्र नेत्रों से देखा था, और वह सिर झुकाए बाहर चले गए थे। सोफ़ी शोक से विह्वल हो गई। जैसे हवा के झोंके धरती पर बैठी हुई धूल को उठा देते हैं, उसी प्रकार इस नीरव निशा ने उसकी स्मृतियों को जाग्रत् कर दिया; सारा हृदय-क्षेत्र स्मृतिमय हो गया। वह बेचैन हो गई, कुर्सी से उठकर टहलने लगी। जी न-जाने क्या चाहता था—"कहीं उड़ जाऊँ, मर जाऊँ, कहाँ तक मन को समझाऊँ, कहाँ तक सब्र करूँ! अब न समझाऊँगी, रोऊँगी, तड़पूँगी, ख़ूब जी भरकर। वह, जो मुझ पर प्राण देता था, संसार से उठ जाय, और मैं अपने को समझाऊँ कि अब रोने से क्या होगा। मैं रोऊँगी, इतना रोऊँगी कि आँखें फूट जायँगी, हृदय-रक्त आँखों के रास्ते निकलने लगेगा, कंठ बैठ जायगा। आँखों को

अब करना ही क्या है ! ये क्या देखकर कृतार्थ होंगी ! हृदय-रक्त अब प्रवाहित होकर क्या करेगा !"

इतने में किसी की आहट सुनाई दी। मिठुआ और भैरों बरामदे में आए। मिठुआ ने सोफ़ी को सलाम किया, और सूरदास की चारपाई के पास जाकर खड़ा हो गया। सूरदास ने चौंककर पूछा—"कौन है, भैरों ?"

मिठुआ—"दादा, मैं हूँ।"

सूरदास—"बहुत अच्छे आए बेटा, तुमसे भेंट हो गई। इतनी देर क्यों हुई ?"

मिठुआ—"क्या करूँ, दादा, बड़े बाबू से साँझ से छुट्टी माँग रहा था, मगर एक-न-एक काम लगा देते थे। डाउन नंबर थ्री को निकाला, अब नंबर वन को निकाला, फिर पारसल गाड़ी आई, उस पर माल लदवाया, डाउन नंबर ठट्टी को निकालकर तब आने पाया हूँ। इससे तो कुली था, तभी अच्छा था कि जब जी चाहता था, जाता था; जब जी चाहता था, आता था, कोई रोकनेवाला न था। अब तो नहाने-खाने की फ़ुरसत नहीं मिलती, बाबू लोग इधर-उधर दौड़ाते रहते हैं। किसी को नौकर रखने की समाई तो है नहीं, सेंत-मेंत में काम निकालते हैं।"

सूरदास—"मैं न बुलाता, तो तुम अब भी न आते। इतना भी नहीं सोचते कि अंधा आदमी है, न-जाने कैसे होगा, चलकर जरा हाल-चाल पूछता आऊँ। तुमको इसलिये बुलाया है कि मर जाऊँ, तो मेरा किरिया-करम करना, अपने हाथों से पिंड-दान देना, बिरादरी को भोज देना, और हो सके, तो गया कर आना। बोलो, इतना करोगे ?"

भैरों—"भैया, तुम इसकी चिंता मत करो, तुम्हारा किरिया-करम इतनी धूमधाम से होगा कि बिरादरी में कभी किसी का न हुआ होगा।"

सूरदास—"धूमधाम से नाम तो होगा, मगर मुझे पहुँचेगा तो वही, जो मिठुआ देगा।"

मिठुआ—"दादा, मेरी नंगाझोली ले लो, जो मेरे पास धेला भी हो। खाने-भर को तो होता ही नहीं, बचेगा क्या।"

सूरदास—"अरे, तो क्या तुम मेरा किरिया-करम भी न करोगे?"

मिठुआ—"कैसे करूँगा दादा, कुछ पल्ले-पास हो, तब न?"

सूरदास—"तो तुमने यह आसरा भी तोड़ दिया। मेरे भाग में तुम्हारी कमाई न जीते-जी बदी थी, न मरने के पीछे।"

मिठुआ—"दादा, अब मुँह न खुलवाओ, परदा ढका रहने दो। मुझे चौपट करके मरे जाते हो; उस पर कहते हो, मेरा किरिया-करम कर देना, गया-पराग कर देना। हमारी दस बीघे मौरूसी जमीन थी कि नहीं, उसका मावजा दो पैसा, चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? घर में भी मेरा कुछ हिस्सा होता है या नहीं? हाकिमों से बैर न ठानते, तो उस घर के सौ से कम न मिलते। पंडाजी ने कैसे पाँच हजार मार लिए? है उनका घर पाँच हजार का? दरवाजे पर मेरे हाथों के लगाए दो नीम के पेड़ थे। क्या वे पाँच-पाँच रुपए में भी महँगे थे? मुझे तो तुमने मलियामेट कर दिया, कहीं का न रक्खा। दुनिया-भर के लिये अच्छे होंगे, मेरी गरदन पर तो तुमने छुरी फेर दी, हलाल कर डाला। मुझे भी तो अभी ब्याह-सगाई करनी है, घर-द्वार बनवाना है। किरिया-करम करने बैठूँ, तो इसके लिये कहाँ से रुपए लाऊँगा। कमाई में तुम्हारे सक नहीं, मगर कुछ उड़ाया, कुछ जलाया, और अब मुझे बिना छाँह के छोड़े चले जाते हो, बैठने का ठिकाना भी नहीं। अब तक मैं चुप था, नाबालिक था। अब तो मेरे भी हाथ-पाँव हुए। देखता हूँ, मेरी जमीन का मावजा कैसे नहीं मिलता! साहब लख-पती होंगे, अपने घर के होंगे, मेरा हिस्सा कैसे दबा लेंगे। घर में भी मेरा हिस्सा होता है। (झाँककर) मिस साहब फाटक पर खड़ी हैं, घर क्यों नहीं जातीं? और सुन ही लेंगी, तो मुझे क्या डर? साहब ने सीधे से दिया, तो दिया; नहीं तो फिर मेरे मन में भी जो आएगा, करूँगा।

एक से दो जानें तो होंगी नहीं; मगर हाँ, उन्हें भी मालूम हो जायगा कि किसी का हक छीन लेना दिल्लगी नहीं है !"

सूरदास भौंचक्का-सा रह गया। उसे स्वप्न में भी न सूझा था कि मिठुआ के मुँह से मुझे कभी ऐसी कठोर बातें सुननी पड़ेंगी। उसे अत्यंत दुःख हुआ, विशेष इसलिये कि ये बातें उस समय कही गई थीं, जब वह शांति और सांत्वना का भूखा था। जब उसे यह आकांक्षा थी कि मेरे आत्मीय जन मेरे पास बैठे हुए मेरे कष्ट-निवारण का उपाय करते होते। यही समय होता है, जब मनुष्य को अपना कीर्ति-गान सुनने की इच्छा होती है, जब उसका जीर्ण हृदय बालकों की भाँति गोद में बैठने के लिये, प्यार के लिये, मान के लिये, शुश्रूषा के लिये ललचाता है। जिसे उसने बाल्यावस्था से बेटे की तरह पाला, जिसके लिये उसने न-जाने क्या-क्या कष्ट सहे, वह अंत समय आकर उससे अपने हिस्से का दावा कर रहा था ! आँखों से आँसू निकल आए। बोला—"बेटा, मेरी भूल थी कि तुमसे किरिया-करम करने को कहा। तुम कुछ मत करना। चाहे मैं पिंड-दान और जल के बिना रह जाऊँ, पर यह उससे कहीं अच्छा है कि तुम साहब से अपना मावजा माँगो। मैं नहीं जानता था कि तुम इतना कानून पढ़ गए हो, नहीं तो पैसे-पैसे का हिसाब लिखता जाता।"

मिठुआ—"मैं अपने मावजे का दावा जरूर करूँगा, चाहे साहब दें, चाहे सरकार दे, चाहे काला चोर दे, मुझे तो अपने रुपए से काम है।"

सूरदास—"हाँ, सरकार भले ही दे दे, साहब से कोई मतलब नहीं।"

मिठुआ—"मैं तो साहब से लूँगा, वह चाहे जिससे दिलाएँ। न दिलाएँगे, तो जो कुछ मुझसे हो सकेगा, करूँगा। साहब कुछ लाट तो हैं नहीं। मेरी जायदाद उन्हें हजम न होने पाएगी। तुमको उसका क्या कलक था। सोचा होगा, कौन मेरे बेटा बैठा हुआ है, चुपके से बैठे रहे। मैं चुपका बैठनेवाला नहीं हूँ।"

सूरदास—"मिट्ठू, क्यों मेरा दिल दुखाते हो। उस जमीन के लिये मैंने कौन-सी बात उठा रक्खी। घर के लिये तो प्राण तक दे दिए! अब और मेरे किए क्या हो सकता था। लेकिन भला बताओ तो, तुम साहब से कैसे रुपए ले लोगे? अदालत में तो तुम उनसे ले नहीं सकते, रुपएवाले हैं, और अदालत रुपएवालों की है। हारेंगे भी, तो तुम्हें बिगाड़ देंगे। फिर तुम्हारी जमीन सरकार ने जाप्ते से ली है; तुम्हारा दावा साहब पर चलेगा कैसे?"

मिठुआ—"यह सब पढ़े बैठा हूँ। लगा दूँगा आग, सारा गोदाम जल-कर राख हो जायगा। (धीरे से) बम-गोले बनाना जानता हूँ। एक गोला रख दूँगा, तो पुतलीघर में आग लग जायगी। मेरा कोई क्या कर लेगा!"

सूरदास—"भैरों, सुनते हो इसकी बातें, जरा तुम्हीं समझाओ।"

भैरों—"मैं तो रास्ते-भर समझाता आ रहा हूँ; सुनता ही नहीं।"

सूरदास—"तो फिर मैं साहब से कह दूँगा कि इससे होशियार रहें।"

मिठुआ—"तुमको गऊ मारने की हत्या लगे, अगर तुम साहब या किसी और से इस बात की चरचा तक करो। अगर मैं पकड़ा गया, तो तुम्हीं को उसका पाप लगेगा। जीते-जी मेरा बुरा चेता, मरने के बाद काँटे बोना चाहते हो। तुम्हारा मुँह देखना पाप है।"

यह कहकर मिठुआ क्रोध से भरा हुआ चला गया। भैरों रोकता ही रहा, पर उसने न माना। सूरदास आध घंटे तक मूर्च्छावस्था में पड़ा रहा। इस आघात का घाव गोली से भी घातक था। मिठुआ की कुटिलता, उसके परिणाम का भय, अपना उत्तरदायित्व, साहब को सचेत कर देने का कर्तव्य, यह पहाड़-सी समस्या, निकलने का कहीं रास्ता नहीं, चारो ओर से घेरा हुआ था। अभी इसी असमंजस में पड़ा हुआ था कि मिस्टर जॉन सेवक आए। सोफिया भी उनके साथ फाटक में चली। सोफी ने दूर ही से कहा—"सूरदास, पापा तुमसे मिलने आए हैं।" वास्तव में

मिस्टर सेवक सूरदास से मिलने नहीं आए थे, सोफ़ी से सहवेदना प्रकट करने का शिष्टाचार करना था। दिन-भर अवकाश न मिला। मिल से नौ बजे चले, तो याद आई, सेवा-भवन गए, वहाँ मालूम हुआ कि सोफ़िया शफ़ाख़ाने में है, गाड़ी इधर फेर दो। सोफ़िया रानी जाह्नवी की गाड़ी की प्रतीक्षा कर रही थी। उसे ध्यान भी न था कि पापा आते होंगे। उन्हें देखकर रोने लगी। पापा को मुझसे प्रेम है, इसका उसे हमेशा विश्वास रहा, और यह बात यथार्थ थी। मिस्टर सेवक को सदैव सोफ़िया की याद आती रहती थी। व्यवसाय में व्यस्त रहने पर भी सोफ़िया की तरफ़ से वह निश्चित न थे। अपनी पत्नी से मजबूर थे, जिसका उनके ऊपर पूरा आधिपत्य था। सोफ़ी को रोते देखकर दयार्द्र हो गए, गले से लगा लिया, और तस्कीन देने लगे। उन्हें बार-बार यह कारख़ाना खोलने पर अफ़सोस होता था, जो असाध्य रोग की भाँति उनके गले पड़ गया था। इसके कारण पारिवारिक शांति में विघ्न पड़ा, सारा कुनबा तीन-तेरह हो गया, शहर में बदनामी हुई, सारा सम्मान मिट्टी में मिल गया, घर के हज़ारों रुपए ख़र्च हो गए, और अभी तक नफ़े की कोई आशा नहीं। अब कारीगर और कुली भी काम छोड़-छोड़कर अपने घर भागे जा रहे थे, उधर शहर और प्रांत में इस कारख़ाने के विरुद्ध आंदोलन किया जा रहा था। प्रभु सेवक का गृहत्याग दीपक की भाँति हृदय को जलाता रहता था। न-जाने ख़ुदा को क्या मंज़ूर था।

मिस्टर सेवक कोई आध घंटे तक सोफ़िया से अपनी विपत्ति-कथा कहते रहे। अंत में बोले—"सोफ़ी, तुम्हारी मामा को यह संबंध पसंद न था, पर मुझे कोई आपत्ति न थी। कुँवर विनयसिंह-जैसा पुत्र या दामाद पाकर ऐसा कौन है, जो अपने को भाग्यवान् न समझता। धर्म-विरुद्ध होने की मुझे ज़रा भी परवा न थी। धर्म हमारी रक्षा और कल्याण के लिये है। अगर वह हमारी आत्मा को शांति और देह को सुख नहीं प्रदान कर सकता, तो मैं उसे पुराने कोट की भाँति उतार फेकना पसंद करूँगा।

जो धर्म हमारी आत्मा का बंधन हो जाय, उससे जितनी जल्द हम अपना गला छुड़ा लें, उतना ही अच्छा। मुझे हमेशा इसका दुःख रहेगा कि परोक्ष या अपरोक्ष रीति से मैं तुम्हारा द्रोही हुआ। अगर मुझे ज़रा भी मालूम होता कि यह विवाद इतना भयंकर हो जायगा, और इसका इतना भीषण परिणाम होगा, तो मैं उस गाँव पर क़ब्ज़ा करने का नाम भी न लेता। मैंने समझा था कि गाँववाले कुछ विरोध करेंगे, लेकिन धमकाने से ठीक हो जायँगे। यह न जानता था कि समर ठन जायगा, और उसमें मेरी ही पराजय होगी। यह क्या बात है सोफ़ी कि आज रानी जाह्नवी ने मुझसे बड़ी शिष्टता और विनय का व्यवहार किया? मैं तो चाहता था कि बाहर ही से तुम्हें बुला लूँ, लेकिन दरबान ने रानीजी से कह दिया, और वह तुरत बाहर निकल आईं। मैं लज्जा और ग्लानि से गड़ा जाता था, और वह हँस-हँसकर बातें कर रही थीं। बड़ा विशाल हृदय है। पहले का-सा ग़रूर नाम को न था। सोफ़ी, विनयसिंह की अकाल मृत्यु पर किसे दुःख न होगा; पर उनके आत्मसमर्पण ने सैकड़ों जानें बचा लीं, नहीं तो जनता आग में कूदने को तैयार थी। घोर अनर्थ हो जाता। मि० क्लार्क ने सूरदास पर गोली तो चला दी थी, पर जनता का रुख़ देखकर सहमे जाते थे कि न-जाने क्या हो। वीरात्मा पुरुष था, बड़ा ही दिलेर!"

इस प्रकार सोफ़िया को परितोष देने के बाद मि० सेवक ने उससे घर चलने के लिये आग्रह किया। सोफ़िया ने टालकर कहा—"पापा, इस समय मुझे क्षमा कीजिए, सूरदास की हालत बहुत नाज़ुक है। मेरे रहने से डॉक्टर और अन्य कर्मचारी विशेष ध्यान देते हैं। मैं न हूँगी, तो कोई उसे पूछेगा भी नहीं। आइए, ज़रा देखिए। आपको आश्चर्य होगा कि इस हालत में भी वह कितना चैतन्य है, और कितनी अक़्लमंदी की बातें करता है! मुझे तो वह मानव-देह में कोई फ़रिश्ता मालूम होता है।"

सेवक—"मेरे जाने से उसे रंज तो न होगा?"

सोफ़िया—"कदापि नहीं पापा, इसका विचार ही मन में न लाइए। उसके हृदय में द्वेष और मालिन्य की गंध तक नहीं है।"

दोनो प्राणी सूरदास के पास गए, तो वह मनस्ताप से विकल हो रहा था। मि० सेवक बोले—"सूरदास, कैसी तबियत है?"

सूरदास—"साहब, सलाम। बहुत अच्छा हूँ। मेरे धन्य भाग। मैं मरते-मरते बड़ा आदमी हो जाऊँगा।"

सेवक—"नहीं-नहीं सूरदास, ऐसी बातें न करो, तुम बहुत जल्द अच्छे हो जाओगे।"

सूरदास—(हँसकर) "अब जीकर क्या करूँगा? इस समय मरूँगा, तो बैकुंठ पाऊँगा, फिर न-जाने क्या हो। जैसे खेत कटने का एक समय है, उसी तरह मरने का भी एक समय होता है। पक जाने पर खेत न कटे, तो नाज सड़ जायगा। मेरी भी वही दशा होगी। मैं कई आदमियों को जानता हूँ, जो आज से दस बरस पहले मरते, तो लोग उनका जस गाते, आज उनकी निंदा हो रही है।"

सेवक—"मेरे हाथों तुम्हारा बड़ा अहित हुआ। इसके लिये मुझे क्षमा करना।"

सूरदास—"मेरा तो आपने कोई अहित नहीं किया, मुझसे और आपसे दुसमनी ही कौन-सी थी। हम और आप आमने-सामने की पालियों में खेले। आपने भरसक जोर लगाया, मैंने भी भरसक जोर लगाया। जिसको जीतना था, जीता; जिसको हारना था, हारा। खिलाड़ियों में वैर नहीं होता। खेल में रोते तो लड़कों को भी लाज आती है। खेल में चोट लग जाय, चाहे जान निकल जाय; पर वैर-भाव न आना चाहिए। मुझे आपसे कोई सिकायत नहीं है।"

सेवक—"सूरदास, अगर इस तत्त्व को, जीवन के इस रहस्य को, मैं भी तुम्हारी भाँति समझ सकता, तो आज यह नौबत न आती। मुझे याद है, तुमने एक बार मेरे कारखाने को आग से बचाया था। मैं

तुम्हारी जगह होता, तो शायद आग में और तेल डाल देता। तुम इस संग्राम में निपुण हो सूरदास, मैं तुम्हारे आगे निरा बालक हूँ। लोकमत के अनुसार मैं जीता और तुम हारे, पर मैं जीतकर भी दुखी हूँ, तुम हारकर भी सुखी हो। तुम्हारे नाम की पूजा हो रही है, मेरी प्रतिमा बनाकर लोग जला रहे हैं। मैं धन, मान, प्रतिष्ठा रखते हुए भी तुमसे सम्मुख होकर न लड़ सका। सरकार की आड़ से लड़ा। मुझे जब अवसर मिला, मैंने तुम्हारे ऊपर कुटिल आघात किया। इसका मुझे खेद है।"

मरणासन्न मनुष्य का वे लोग भी स्वच्छंद होकर कीर्ति-गान करते हैं, जिनका जीवन उससे वैर साधने में ही कटा हो; क्योंकि अब उससे किसी हानि की शंका नहीं होती।

सूरदास ने उदार भाव से कहा—"नहीं साहब, आपने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया। धूर्तता तो निबलों का हथियार है। बलवान कभी नीच नहीं होता।"

सेवक—"हाँ सूरदास, होना वही चाहिए, जो तुम कहते हो; पर ऐसा होता नहीं। मैंने नीति का कभी पालन नहीं किया। मैं संसार को क्रीड़ा-क्षेत्र नहीं, संग्राम-क्षेत्र समझता रहा, और युद्ध में छल, कपट, गुप्त आघात, सभी कुछ किया जाता है। धर्मयुद्ध के दिन अब नहीं रहे।"

सूरदास ने इसका कुछ उत्तर न दिया। वह सोच रहा था कि मिठुआ की बात साहब से कह दूँ या नहीं। उसने कड़ी क़सम रखाई है। पर कह देना ही उचित है। लौंडा हठी और कुचाली है, उस पर घीसू का साथ, कोई-न-कोई अनीति अवश्य करेगा। क़सम रखा देने से तो मुझे हत्या लगती नहीं। कहीं कुछ नटखटी कर बैठा, तो साहब समझेंगे, अंधे ने मरने के बाद भी वैर निभाया। बोला—"साहब, आपसे एक बात कहना चाहता हूँ।"

सेवक—"कहो, शौक़ से कहो।"

सूरदास ने संक्षिप्त रूप से मिठुआ की अनर्गल बातें मि० सेवक से कह सुनाईं, और अंत में बोला—"मेरी आपसे इतनी ही विनती है कि उस पर कड़ी निगाह रखिएगा। अगर अवसर पा गया, तो चूकनेवाला नहीं है। तब आपको भी उस पर क्रोध आ ही जायगा, और आप उसे दंड देने का उपाय सोचेंगे। मैं इन दोनो बातों में से एक भी नहीं चाहता।"

सेवक अन्य धनी पुरुषों की भाँति बदमाशों से बहुत डरते थे, सशंक होकर बोले—"सूरदास, तुमने मुझे होशियार कर दिया। इसके लिये तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मुझमें और तुममें यही अंतर है। मैं तुम्हें कभी यों सचेत न करता। किसी दूसरे के हाथों तुम्हारी गरदन कटते देखकर भी कदाचित् मेरे मन में दया न आती। क़साई भी सदय और निर्दय हो सकते हैं। हम लोग द्वेष में निर्दय क़साइयों से भी बढ़ जाते हैं। (सोफ़िया से अँगरेज़ी में) बड़ा सत्यप्रिय आदमी है। कदाचित् संसार ऐसे आदमियों के रहने का स्थान नहीं है। मुझे एक छिपे हुए शत्रु से बचाना अपना कर्तव्य समझा है। यह तो भतीजा है; किंतु पुत्र की बात होती, तो भी मुझे अवश्य सतर्क कर देता।"

सोफ़िया—"मुझे तो अब विश्वास होता जाता है कि शिक्षा धूर्तों की स्रष्टा है, प्रकृति सत्पुरुषों की।"

जॉन सेवक को यह बात कुछ रुचिकर न लगी। शिक्षा की इतनी निंदा उन्हें असह्य थी। बोले—"सूरदास, मेरे योग्य कोई और सेवा हो, तो बताओ।"

सूरदास—"कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।"

सेवक—"नहीं-नहीं, जो कुछ कहना चाहते हो, निस्संकोच होकर कहो।"

सूरदास—"ताहिरअली को फिर नौकर रख लीजिएगा। उनके बाल-बच्चे बड़े कष्ट में हैं।"

सेवक—"सूरदास, मुझे अत्यंत खेद है कि मैं तुम्हारे आदेश का पालन न कर सकूँगा। किसी नीयत के बुरे आदमी को आश्रय देना मेरे नियम के विरुद्ध है। मुझे तुम्हारी बात न मानने का बहुत खेद है; पर यह मेरे जीवन का एक प्रधान सिद्धांत है, और उसे तोड़ नहीं सकता।"

सूरदास—"दया कभी नियम-विरुद्ध नहीं होती।"

सेवक—"मैं इतना कर सकता हूँ कि ताहिरअली के बाल-बच्चों का पालन-पोषण करता रहूँ। लेकिन उसे नौकर न रक्खूँगा।"

सूरदास—"जैसी आपकी इच्छा। किसी तरह उन गरीबों की परवस्ती होनी चाहिए।"

अभी ये बातें हो रही थीं कि रानी जाह्नवी की मोटर आ पहुँची। रानी उतरकर सोफ़िया के पास आईं, और बोलीं—"बेटी, क्षमा करना, मुझे बड़ी देर हो गई। तुम घबराईं तो नहीं? भिक्षुकों को भोजन कराकर यहाँ आने को घर से निकली, तो कुँवर साहब आ गए। बातों-बातों में उनसे झौड़ हो गई। बुढ़ापे में मनुष्य क्यों इतना मायांध हो जाता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्यों मि० सेवक, आपका क्या अनुभव है?"

सेवक—"मैंने दोनो ही प्रकार के चरित्र देखे हैं। अगर प्रभु धन को तृण समझता है, तो पिताजी को फीकी चाय, सादी चपातियाँ और धुँधली रोशनी ही पसंद है। इसके प्रतिकूल डॉ० गंगुली हैं कि जिनकी आमदनी ख़र्च के लिये काफ़ी नहीं होती; और राजा महेंद्रकुमारसिंह, जिनके यहाँ धेले तक का हिसाब लिखा जाता है।"

यों बातें करते हुए लोग मोटरों की तरफ़ चले। मि० सेवक तो अपने बँगले पर गए, सोफ़िया रानी के साथ सेवा-भवन गई।

पाँड़ेपुर में गोरखे अभी तक पड़ाव डाले हुए थे। उनके उपलों के जलने से चारो तरफ़ धुआँ छाया हुआ था। उस श्यामावरण में बस्ती के खँडहर भयानक मालूम होते थे। यहाँ अब भी दिन को दर्शकों की भीड़ रहती थी। नगर में शायद ही कोई ऐसा आदमी होगा, जो इन दो-तीन दिनों में यहाँ एक बार न आया हो। यह स्थान अब मुसलमानों का शहीदगाह और हिंदुओं की तपोभूमि के सदृश हो गया था। जहाँ विनय-सिंह ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी, वहाँ लोग आते, तो पैर से जूते उतार देते! कुछ भक्तों ने वहाँ पत्र-पुष्प भी चढ़ा रक्खे थे। यहाँ की मुख्य वस्तु सूरदास के झोपड़े के चिह्न थे। फूस के ढेर अभी तक पड़े हुए थे। लोग यहाँ आकर घंटों खड़े रहते, और सैनिकों को क्रोध तथा घृणा की दृष्टि से देखते। इन पिशाचों ने हमारा मान-मर्दन किया, और अभी तक डटे हुए हैं। अब न-जाने क्या करना चाहते हैं। बज-रंगी, ठाकुरदीन, नायकराम, जगधर आदि अब भी अपना अधिकांश समय यहीं विचरने में व्यतीत करते थे। घर की याद भूलते-भूलते ही भूलती है। कोई अपनी भूली-भटकी चीज़ें खोजने आता, कोई पत्थर या लकड़ी ख़रीदने, और बच्चों को तो अपने घरों का चिह्न देखने ही में आनंद आता था। एक पूछता, अच्छा बताओ, हमारा घर कहाँ था? दूसरा कहता, वह जहाँ कुत्ता लेटा हुआ है। तीसरा कहता, जी, कहीं हो न? वहाँ तो बेचू का घर था। देखते नहीं, यह अमरूद का पेड़ उसी के आँगन में था। दूकानदार आदि भी यहीं शाम-सवेरे आते, और घंटों सिर झुकाए बैठे रहते, जैसे घरवाले मृत देह के चारो ओर जमा हो जाते हैं! यह मेरा आँगन था, यह मेरा दालान था, यहीं बैठकर तो

में बही लिखा करता था। अरे, मेरी घी की हाँडी पड़ी हुई है, कुत्तों ने मुँह डाल दिया होगा, नहीं तो लेते चलते। कई साल की हाँडी थी। अरे! मेरा पुराना जूता पड़ा हुआ है। पानी से फूलकर कितना बड़ा हो गया है! दो-चार सज्जन ऐसे भी थे, जो अपने बाप-दादों के गाड़े हुए रुपए खोजने आते थे। जल्दी में उन्हें घर खोदने का अवकाश न मिला था। दादा बंगाल की सारी कमाई अपने सिरहाने गाड़कर मर गए, कभी उसका पता न बताया। कैसी ही गरमी पड़े, कितने ही मच्छर काटें, वह अपनी कोठरी ही में सोते थे। पिताजी खोदते-खोदते रह गए। डरते थे कि कहीं शोर न मच जाय। जल्दी क्या है, घर में ही तो है, जब जी चाहेगा, निकाल लेंगे। मैं यही सोचता रहा। क्या जानता था कि यह आफ़त आनेवाली है, नहीं तो पहले ही से खोद न लिया होता। अब कहाँ पता मिलता है, जिसके भाग्य का होगा, वह पाएगा!

संध्या हो गई थी। नायकराम, बजरंगी और उनके अन्य मित्र आकर एक पेड़ के नीचे बैठ गए।

नायकराम—"कहो बजरंगी, कहीं कोई घर मिला?"

बजरंगी—"घर नहीं, पत्थर मिला। सहर में रहूँ, तो इतना किराया कहाँ से लाऊँ, घास-चारा कहाँ मिले। इतनी जगह कहाँ मिली जाती है। हाँ, औरों की भाँति दूध में पानी मिलाने लगूँ, तो गुजर हो सकती है, लेकिन यह करम उम्र-भर नहीं किया, तो अब क्या करूँगा। दिहात में रहता हूँ, तो घर बनवाना पड़ता है; जमींदार को नजर-नजराना न दो, तो जमीन न मिले। एक-एक बिस्वे के दो-दो सौ माँगते हैं। घर बनवाने को अलग हजार रुपए चाहिए। इतने रुपए कहाँ से लाऊँ। जितना मावजा मिला है, उतने में तो एक कोठरी भी नहीं बन सकती। मैं तो सोचता हूँ, जानवरों को बेच डालूँ, और यहीं पुतलीघर में मजूरी करूँ। सब झगड़ा ही मिट जाय। तलब तो अच्छी मिलती है। और कहाँ-कहाँ ठिकाना ढूँढ़ते फिरें?"

जगधर—"यही तो मैं भी सोच रहा हूँ, बना-बनाया मकान रहने को मिल जायगा, पड़े रहेंगे। कहीं घर-बैठे खाने को तो मिलेगा नहीं! दिन-भर खोंचा लिए न फिरे, यही मजूरी की।"

ठाकुरदीन—"तुम लोगों से मजूरी हो सकती है, करो; मैं तो चाहे भूखों मर जाऊँ, पर मजूरी नहीं कर सकता। मजूरी सूद्रों का काम है, रोजगार करना वैसों का काम है। अपने हाथों अपना मरतवा क्यों खोएँ, भगवान कहीं-न-कहीं ठिकाना लगाएँगे ही। यहाँ तो अब कोई मुझे सेंत-मेंत में रहने को कहे, तो न रहूँ। बस्ती उजड़ जाती है, तो भूतों का डेरा हो जाता है। देखते नहीं हो, कैसा सियापा छाया हुआ है, नहीं तो इस बेला यहाँ कितना गुलजार रहता था।"

नायकराम—"मुझे क्या सलाह देते हो बजरंगी, दिहात में रहूँ कि सहर में?"

बजरंगी—"भैया, तुम्हारा दिहात में निवाह न होगा। कहीं पीछे हटना ही पड़ेगा। रोज सहर का आना-जाना ठहरा, कितनी जहमत होगी! फिर तुम्हारे जात्री तुम्हारे साथ दिहात में थोड़े ही जायँगे। यहाँ से तो सहर इतना दूर नहीं था, इसलिये सब चले आते थे।"

नायकराम—"तुम्हारी क्या सलाह है जगधर?"

जगधर—"भैया, मैं तो सहर में रहने को न कहूँगा। खरच कितना बढ़ जायगा, मिट्टी भी मोल मिले, पानी के भी दाम दो। चालीस-पचास का तो एक छोटा-सा मकान मिलेगा। तुम्हारे साथ नित्त दस-बीस आदमी ठहरा चाहें। इसलिये बड़ा घर लेना पड़ेगा। उसका किराया सौ से नीचे न होगा। गाएँ-भैंसे कहाँ रक्खोगे, जात्रियों को कहाँ ठहराओगे? तुम्हें जितना मावजा मिला है, उतने में तो इतनी जमीन भी न मिलेगी, घर बनवाने की कौन कहे!"

नायकराम—"बोलो भाई बजरंगी, साल के १२००) किराए के कहाँ से आएँगे? क्या सारी कमाई किराए ही में खरच कर दूँगा?"

बजरंगी—"जमीन तो दिहात में भी मोल लेनी पड़ेगी, सेंत तो मिलेगी नहीं। फिर कौन जाने, किस गाँव में जगह मिले। बहुत-से आस-पास के गाँव तो ऐसे भरे हुए हैं कि वहाँ अब एक झोपड़ी भी नहीं बन सकती। किसी के द्वार पर आँगन तक नहीं है। फिर जगह मिल गई, तो मकान बनवाने के लिये सारा सामान सहर से ले आना पड़ेगा। उसमें कितना खरच पड़ेगा! नौ की लकड़ी नब्बे खरच। कच्चा मकान बनवाओगे, तो कितनी तकलीफ! टपके, कीचड़ हो, रोज मनो कूड़ा निकले, सातवें दिन लीपने को चाहिए, तुम्हारे घर में कौन लीपनेवाला बैठा हुआ है। तुम्हारा रहा कच्चे मकान में न रहा जायगा। सहर में आने-जाने के लिये सवारी रखनी पड़ेगी। उसका खरच भी ५०) से नीचे न होगा। तुम कच्चे मकान में तो कभी रहे नहीं। क्या जानो दीमक, कीड़े-मकोड़े, सील, पूरी छीछालेदर होती है। तुम सैरबीन आदमी ठहरे। पान-पत्ता, साग-भाजी दिहात में कहाँ। मैं तो यही कहूँगा कि दिहात के एक की जगह सहर में दो खरच पड़ें, तब भी तुम सहर ही में रहो। वहाँ हम लोगों से भी भेंट-मुलाकात हो जाया करेगी। आखिर दूध-दही लेकर सहर तो रोज जाना ही पड़ेगा।"

नायकराम—"वाह बहादुर, वाह, मान गया। तुम्हारा जोड़ तो भैरों था, दूसरा कौन तुम्हारे सामने ठहर सकता है। तुम्हारी बात मेरे मन में बैठ गई। बोलो जगधर, इसका कुछ जवाब देते हो, तो दो, नहीं तो बजरंगी की डिग्री होती है। सौ रुपए किराया देना मंजूर, यह झंझट कौन सिर पर लेगा!"

जगधर—"भैया, तुम्हारी मरजी है, तो सहर ही में चले जाओ, मैं बजरंगी से लड़ाई थोड़े ही करता हूँ। पर दिहात दिहात ही है, सहर सहर ही! सहर में पानी तक तो अच्छा नहीं मिलता। वही बंबे का पानी पियो, धरम जाय, और कुछ सवाद भी न मिले।"

ठाकुरदीन—" अंधा आगमजानी था। जानता था कि एक दिन यह

पुतलीघर हम लोगों को बनवास देगा, जान तक गँवाई, पर अपनी जमीन न दी। हम लोग इस किरंटे के चकमों में आकर उसका साथ न छोड़ते, तो साहब लाख सिर पटककर मर जाते, एक न चलती।"

नायकराम—"अब उसके बचने की कोई आसा नहीं मालूम होती। आज मैं गया था। बुरा हाल था। कहते हैं, रात को होस में था। जॉन सेवक साहब और राजा साहब से देर तक बातें कीं, मिठुआ से भी बातें कीं। सब लोग सोच रहे थे, अब बच जायगा। सिविलसारजंट ने मुझसे खुद कहा, अंधे की जान का कोई खटका नहीं है। पर सूरदास यही कहता रहा कि आपको मेरी जो साँसत करना है, कर लीजिए, मैं बचूँगा नहीं। आज बोल-चाल बंद है। मिठुआ बड़ा कपूत निकल गया। उसी की कपूती ने अंधे की जान ली। दिल टूट गया, नहीं तो अभी कुछ दिन और चलता। ऐसे बीर बिरले ही कहीं होते हैं। आदमी नहीं था, देवता था।"

बजरंगी—"सच कहते हो भैया, आदमी नहीं था, देवता था। ऐसा सेर आदमी कहीं नहीं देखा। सचाई के सामने किसी की परवा नहीं की, चाहे कोई अपने घर का लाट ही क्यों न हो। घीसू के पीछे मैं उससे बिगड़ गया था, पर अब जो सोचता हूँ, तो मालूम होता है कि सूरदास ने कोई अन्याय नहीं किया। कोई बदमास हमारी ही बहू-बेटी को बुरी निगाह से देखे, तो बुरा लगेगा कि नहीं। उसके खून के प्यासे हो जायँगे, घात पाएँगे, तो सिर उतार लेंगे। अगर सूरे ने हमारे साथ वही बरताव किया, तो क्या बुराई की। घीसू का चलन बिगड़ गया था। सजा न पा जाता, तो न-जाने क्या अँधेर करता।"

ठाकुरदीन—"अब तक या तो उसी की जान पर बन गई होती, या दूसरों की।"

जगधर—"चौधरी; घर-गाँव में इतनी सचाई नहीं बरती जाती। अगर सचाई से किसी का नुकसान होता हो, तो उस पर परदा डाल

दिया जाता है। सूरे में और सब बातें अच्छी थीं, बस इतनी ही बात बुरी थी।"

ठाकुरदीन—"देखो जगधर, सूरदास यहाँ नहीं है, किसी के पीठ-पीछे निंदा नहीं करनी चाहिए। निंदा करनेवाले की तो बात ही क्या, सुननेवालों को भी पाप लगता है। न-जाने पूर्व-जनम में कौन-सा पाप किया था, सारी जमा-जथा चोर मूस ले गए, यह पाप अब न करूँगा।"

बजरंगी—"हाँ जगधर, यह बात अच्छी नहीं। मेरे ऊपर भी तो वही पड़ी है, जो तुम्हारे ऊपर पड़ी; लेकिन सूरदास की बदगोई नहीं सुन सकता।"

ठाकुरदीन—"इनकी बहू-बेटी को कोई घूरता, तो ऐसी बातें न करते।"

जगधर—"बहू-बेटी की बात और है, हरजाइयों की बात और।"

ठाकुरदीन—"बस, अब चुप ही रहना जगधर! तुम्हीं एक बार सुभागी की सफ़ाई करते फिरते थे, आज हरजाई कहते हो। लाज भी नहीं आती?"

नायकराम—"यह आदत बहुत खराब है।"

बजरंगी—"चाँद पर थूकने से थूक अपने ही मुँह पर पड़ता है।"

जगधर—"अरे, तो मैं सूरे की निंदा थोड़े ही कर रहा हूँ। दिल दुखता है, तो बात मुँह से निकल ही आती है। तुम्हीं सोचो, विद्याधर अब किस काम का रहा? पढ़ाना-लिखाना सब मिट्टी में मिला कि नहीं? अब न सरकार में नौकरी मिलेगी, न कोई दूसरा रक्खेगा। उसकी तो जिंदगानी खराब हो गई। बस, यही दुख है, नहीं तो सूरदास का-सा आदमी कोई क्या होगा।"

नायकराम—"हाँ, इतना मैं भी मानता हूँ कि उसकी जिंदगानी खराब हो गई। जिस सचाई से किसी का अनभल होता हो, उसका मुँह से न निकलना ही अच्छा। लेकिन सूरदास को सब कुछ माफ है।"

ठाकुरदीन—"सूरदास ने इलम तो नहीं छीन लिया।"

जगधर—"यह इलम किस काम का, जब नौकरी-चाकरी न कर सके। धरम की बात होती, तो यों भी काम देती। यह विद्या हमारे किस काम आवेगी?"

नायकराम—"अच्छा, यह बताओ कि सूरदास मर गए, तो गंगा नहाने चलोगे कि नहीं?"

जगधर—"गंगा नहाने क्यों न चलूँगा। सबके पहले चलूँगा। कंधा तो आदमी वैरी को भी दे देता है, सूरदास हमारे वैरी नहीं थे। जब उन्होंने मिठुआ को नहीं छोड़ा, जिसे बेटे की तरह पाला, तो दूसरों की बात ही क्या। मिठुआ क्या, वह अपने खास बेटे को न छोड़ते।"

नायकराम—"चलो, देख आएँ।"

चारो आदमी सूरदास को देखने चले।"

चारो आदमी शफ़ाख़ाने पहुँचे, तो नौ बज चुके थे। आकाश निद्रा में मग्न, आँखें बंद किए, पड़ा हुआ था, पर पृथ्वी जाग रही थी। भैरो खड़ा सूरदास के पंखा झल रहा था, इन लोगों को देखते ही उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। सिरहाने की ओर कुर्सी पर बैठी हुई सोफ़िया चिंताकुल नेत्रों से सूरदास को देख रही थी। सुभागी अँगीठी में आग बना रही थी कि थोड़ा-सा दूध गर्म करके सूरदास को पिलाए। तीनो ही के मुख पर नैराश्य का चित्र खिंचा हुआ था। चारो ओर वह निस्तब्धता छाई हुई थी, जो मृत्यु का पूर्वाभास है।

सोफ़ी ने कातर स्वर से कहा—"पंडाजी, आज शोक की रात है। इनकी नाड़ी का कई-कई मिनटों तक पता नहीं चलता। शायद आज की रात मुश्किल से कटे। चेष्टा बदल गई।"

भैरो—"दोपहर से यही हाल है; न कुछ बोलते हैं, न किसी को पहचानते हैं।"

सोफ़ी—"डॉक्टर गंगुली आते होंगे। उनका तार आया था कि मैं आ रहा हूँ। यों तो मौत की दवा किसी के पास नहीं; लेकिन संभव है, डॉक्टर गंगुली के हाथों कुछ यश लिखा हो।"

सुभागी—"मैंने साँझ को पुकारा था, तो आँखें खोली थीं; पर बोले कुछ नहीं।"

ठाकुरदीन—"बड़ा प्रतापी जीव था।"

यही बातें हो रही थीं कि एक मोटर आई, और कुँवर भरतसिंह, डॉक्टर गंगुली और रानी जाह्नवी उतर पड़े। गंगुली ने सूरदास के मुख की ओर देखा, और निराशा की मुस्किराहट के साथ बोले—"हमको दस मिनट का

भी देर होता, तो इनका दर्शन भी न पाते। विमान आ चुका है। क्यों दूध गरम करता है भाई, दूध कौन पिएगा? यमराज तो दूध पीने का मुहलत नहीं देता।"

सोफ़िया ने सरल भाव से कहा—"क्या अब कुछ नहीं हो सकता डॉक्टर साहब?"

गंगुली—"बहुत कुछ हो सकता है मिस सोफ़िया! हम यमराज को परास्त कर देगा। ऐसे प्राणियों का यथार्थ जीवन तो मृत्यु के पीछे ही होता है, जब वह पंचभूतों के संस्कार से रहित हो जाता है। सूरदास अभी नहीं मरेगा, बहुत दिनों तक नहीं मरेगा। हम सब मर जायगा, कोई कल, कोई परसों; पर सूरदास तो अमर हो गया, उसने तो काल को जीत लिया। अभी तक उसका जीवन पंचभूतों के संस्कार से सीमित था। अब वह प्रसारित होगा, समस्त प्रांत को, समस्त देश को जागृति प्रदान करेगा, हमें कर्मण्यता का, वीरता का आदर्श बनाएगा। यह सूरदास की मृत्यु नहीं है सोफ़ी, यह उसकी जीवन-ज्योति का विकास है। हम तो ऐसा ही समझता है।"

यह कहकर डॉक्टर गंगुली ने जेब से एक शीशी निकाली, और उसमें से कई बूँदें सूरदास का मुँह खोलकर पिला दीं। तत्काल उसका असर दिखाई दिया। सूरदास के विवर्ण मुख-मंडल पर हलकी-हलकी सुर्ख़ी दौड़ गई। उसने आँखें खोल दीं, इधर-उधर अनिमेष दृष्टि से देखकर हँसा, और ग्रामोफ़ोन की-सी कृत्रिम, बैठी हुई, नीरस आवाज़ से बोला—"बस-बस, अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो, और तुम्हारा उत्साह भी ख़ूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में

निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है। तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतनेवालों का धरम नहीं ? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।"

डॉक्टर गंगुली इस अनर्गल कथन को आँखें बंद किए इस भाव से तन्मय होकर सुनते रहे, मानो ब्रह्म-वाक्य सुन रहे हों। तब भक्ति-पूर्ण भाव से बोले—"बड़ी विशाल आत्मा है। हमारे सारे पारस्परिक, सामाजिक, राजनीतिक, जीवन की अत्यंत सुंदर विवेचना कर दी, और थोड़े-से शब्दों में।"

सोफ़ी ने सूरदास से कहा—"सूरदास, कुँवर साहब और रानीजी आई हुई हैं। कुछ कहना चाहते हो ?"

सूरदास ने उन्माद-पूर्ण उत्सुकता से कहा—"हाँ-हाँ-हाँ, बहुत कुछ कहना है, कहाँ हैं ? उनके चरणों की धूल मेरे माथे पर लगा दो, तर जाऊँ, नहीं-नहीं, मुझे उठाकर बैठा दो, खोल दो यह पट्टी, मैं खेल चुका, अब मुझे मरहम-पट्टी नहीं चाहिए। रानी कौन, विनयसिंह की माता न ? कुँवर साहब उनके पिता न ? मुझे बैठा दो, उनके पैरों पर आँखें मलूँगा। अब मेरी आँखें खुल जायँगी। मेरे सिर पर हाथ रखकर असीस दो, माता, अब मेरी जीत होगी। अहो ! वह, सामने विनयसिंह और इंद्रदत्त सिंहासन पर बैठे हुए मुझे बुला रहे हैं। उनके मुख पर कितना तेज है ! मैं भी आता हूँ। यहाँ तुम्हारी कुछ सेवा न कर सका, अब वहीं करूँगा। माता-पिता, भाई-बंद, सबको सूरदास का राम-राम, अब जाता हूँ। जो कुछ बना-बिगड़ा हो, छमा करना।"

रानी जाह्नवी ने आगे बढ़कर, भक्ति-विह्वल दशा में, सूरदास के पैरों पर सिर रख दिया, और फूट-फूटकर रोने लगीं। सूरदास के पैर अश्रु-जल

से भीग गए। कुँवर साहब ने आँखों पर रूमाल डाल लिया, और खड़े-खड़े रोने लगे।

सूरदास की मुख-श्री फिर मलीन हो गई। ओषधि का असर मिट गया। ओठ नीले पड़ गए। हाथ-पाँव ठंडे हो गए।

नायकराम गंगाजल लाने दौड़े। जगधर ने सूरदास के समीप जाकर ज़ोर से कहा—"सूरदास, मैं हूँ जगधर, मेरा अपराध क्षमा।" यह कहते-कहते आवेग से उसका कंठ रुक गया।

सूरदास मुँह से कुछ न बोला, दोनो हाथ जोड़े, आँसू की दो बूँदें गालों पर बह आईं, और खिलाड़ी मैदान से चला गया!

क्षण-मात्र में चारो तरफ़ ख़बर फैल गई। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, बूढ़े-जवान हज़ारों की संख्या में निकल पड़े। सब नंगे सिर, नंगे पैर, गले में अँगोछियाँ डाले शफ़ाख़ाने के मैदान में एकत्र हुए। स्त्रियाँ मुँह ढाँपे खड़ी विलाप कर रही थीं, मानो अपने घर का कोई प्राणी मर गया हो। जिसका कोई नहीं होता, उसके सब होते हैं। सारा शहर उमड़ा चला आता था। सब-के-सब इस खिलाड़ी को एक आँख देखना चाहते थे, जिसकी हार में भी जीत का गौरव था। कोई कहता था, सिद्ध था; कोई कहता था, वली था; कोई देवता कहता था; पर वह यथार्थ में खिलाड़ी था—वह खिलाड़ी, जिसके माथे पर कभी मैल नहीं आया, जिसने कभी हिम्मत नहीं हारी, जिसने कभी क़दम पीछे नहीं हटाए, जीता, तो प्रसन्नचित्त रहा; हारा, तो प्रसन्नचित्त रहा; हारा, तो जीतनेवाले से कीना नहीं रक्खा; जीता, तो हारनेवाले पर तालियाँ नहीं बजाईं, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधली नहीं की, कभी द्वंद्वी पर छिपकर चोट नहीं की। भिखारी था, अपंग था, अंधा था, दीन था, कभी भर-पेट दाना नहीं नसीब हुआ, कभी तन पर वस्त्र पहनने को नहीं मिला; पर हृदय धैर्य और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भांडार था। देह पर मांस न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी।

हाँ, वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फ़रिश्ता न था ; एक क्षुद्र, शक्ति-हीन प्राणी था, चिंताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे, और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था। किंतु ये सभी दुर्गुण उस पर गुण के संपर्क से, नमक की खान में जाकर नमक हो जानेवाली वस्तुओं की भाँति, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे—क्रोध सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सदनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था, और अहंकार आत्माभिमान के वेष में। और वह गुण क्या था? न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, दर्द, या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिये असह्य थी।

मृत देह कितनी धूमधाम से निकली, इसकी चर्चा करना व्यर्थ है। बाजे-गाजे न थे, हाथी-घोड़े न थे, पर आँसू बहानेवाली आँखों और कीर्ति-गान करनेवाले मुखों की कमी न थी। बड़ा समारोह था। सूरदास की सबसे बड़ी जीत यह थी कि शत्रुओं को भी उससे शत्रुता न थी। अगर शोक-समाज में सोफ़िया, गंगुली, जाह्नवी, भरतसिंह, नायकराम, भैरों आदि थे, तो महेंद्रकुमारसिंह, जॉन सेवक, जगधर, यहाँ तक कि मि० क्लार्क भी थे। चंदन की चिता बनाई गई थी, उस पर विजय-पताका लहरा रही थी। दाह-क्रिया कौन करता? मिठुआ ठीक उसी अवसर पर रोता हुआ आ पहुँचा। सूरदास ने जीते-जी जो न कर पाया था, मरकर किया।

इसी स्थान पर कई दिन पहले यही शोक-दृश्य दिखाई दिया था। अंतर केवल इतना था कि उस दिन लोगों के हृदय शोक से व्यथित थे, आज विजय-गर्व से परिपूर्ण। वह एक वीरात्मा की वीर मृत्यु थी, यह एक खिलाड़ी की अंतिम लीला। एक बार फिर सूर्य की किरणें चिता पर पड़ीं, उनमें गर्व की आभा थी, मानो आकाश से विजय-गान के स्वर आ रहे हैं।

लौटते समय मि० क्लार्क ने राजा महेंद्रकुमार से कहा—"मुझे इसका अफ़सोस है कि मेरे हाथों ऐसे अच्छे आदमी की हत्या हुई।"

राजा साहब ने कुतूहल से कहा—"सौभाग्य कहिए, दुर्भाग्य क्यों ?"

क्लार्क—"नहीं राजा साहब, दुर्भाग्य ही है। हमें आप-जैसे मनुष्यों से भय नहीं, भय ऐसे ही मनुष्यों से है, जो जनता के हृदय पर शासन कर सकते हैं। यह राज्य करने का प्रायश्चित्त है कि इस देश में हम ऐसे आदमियों का वध करते हैं, जिन्हें इँगलैंड में हम देव-तुल्य समझते।"

सोफ़िया इसी समय उनके पास से होकर निकली। यह वाक्य उसके कान में पड़ा। बोली—"काश ये शब्द आपके अंतःकरण से निकले होते !"

यह कहकर वह आगे बढ़ गई। मि० क्लार्क यह व्यंग्य सुनकर बौखला गए, ज़ब्त न कर सके। घोड़ा बढ़ाकर बोले—"यह तुम्हारे उस अन्याय का फल है, जो तुमने मेरे साथ किया है।"

सोफ़ी आगे बढ़ गई थी। ये शब्द उसके कान में न पड़े।

गगन-मंडल के पथिक, जो मेघ के आवरण से बाहर निकल आए थे, एक-एक करके बिदा हो रहे थे ! शव के साथ जानेवाले भी एक-एक करके चले गए। पर सोफ़िया कहाँ जाती ? इसी दुविधा में खड़ी थी कि इंदु मिल गई। सोफ़िया ने कहा—"इंदु, ज़रा ठहरो। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।"

संध्या हो गई थी। मिल के मज़दूर छुट्टी पा गए थे। आजकल दूनी मज़दूरी देने पर भी बहुत थोड़े मज़दूर काम करने आते थे। पाँडेपुर में सन्नाटा छाया हुआ था। वहाँ अब मकानों के भग्नावशेष के सिवा कुछ नज़र न आता था। हाँ, वृक्ष अभी तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे। वह छोटा-सा नीम का वृक्ष अब सूरदास की झोपड़ी का निशान बतलाता था, फूस लोग बटोर ले गए थे। भूमि समथल की जा रही थी, और कहीं-कहीं नए मकानों की दाग़-बेल पड़ चुकी थी। केवल बस्ती के अंतिम भाग में एक छोटा-सा खपरैल का मकान अब तक आबाद था, जैसे किसी परिवार के सब प्राणी मर गए हों, केवल एक जीर्ण-शीर्ण, रोग-पीड़ित, बूढ़ा नामलेवा रह गया हो। यही कुलसूम का घर है, जिसे अपने वचनानुसार, सूरदास की ख़ातिर, से मि० जॉन सेवक ने गिराने नहीं दिया है। द्वार पर नसीमा और साबिर खेल रहे हैं, और ताहिरअली एक टूटी हुई खाट पर सिर झुकाए बैठे हुए हैं। ऐसा मालूम होता है कि महीनों से उन के बाल नहीं बने। सिर दुर्बल है, चेहरा मुरझाया हुआ, आँखें बाहर को निकल आई हैं। सिर के बाल भी खिचड़ी हो गए हैं। कारावास के कष्टों और घर की चिंताओं ने कमर तोड़ दी है। काल-गति ने उन पर बरसों का काम महीनों में कर डाला है। उनके अपने कपड़े, जो जेल से छूटते समय वापस मिले हैं, उतारे के मालूम होते हैं। प्रातःकाल वह नैनी-जेल से आए हैं, और अपने घर की दुर्दशा ने उन्हें इतना क्षुब्ध कर रक्खा है कि बाल बनवाने तक की इच्छा नहीं होती। उनके आँसू नहीं थमते, बहुत मन को समझाने पर भी नहीं थमते। इस समय भी उनकी आँखों में आँसू भरे हुए हैं। उन्हें रह-रहकर माहिरअली पर क्रोध आता

है, और वह एक लंबी साँस खींचकर रह जाते हैं। वे कष्ट याद आ रहे हैं, जो उन्होंने ख़ानदान के लिये सहर्ष झेले थे—"वे सारी तकलीफ़ें, सारी क़ुरबानियाँ, सारी तपस्याएँ बेकार हो गईं। क्या इसी दिन के लिये मैंने इतनी मुसीबतें झेली थीं? इसी दिन के लिये अपने ख़ून से ख़ान-दान के पेड़ को सींचा था! यही कड़ुए फल खाने के लिये! आख़िर मैं जेल ही क्यों गया था? मेरी आमदनी मेरे बाल-बच्चों की परवरिश के लिये काफ़ी थी। मैंने जान दी ख़ानदान के लिये। अब्बा ने मेरे सिर जो बोझ रख दिया था, वही मेरी तबाही का सबब हुआ। ग़ज़ब ख़ुदा का! मुझ पर यह सितम! मुझ पर यह क़हर! मैंने कभी नए जूते नहीं पहने, बरसों कपड़े में थिगलियाँ लगा-लगाकर दिन काटे, बच्चे मिठाइयों को तरस-तरस-कर रह जाते थे, बीबी को सिर के लिये तेल भी मयस्सर न होता था, चूड़ियाँ पहनना नसीब न था, हमने फ़ाके किए, ज़ेवर और कपड़ों की कौन कहे, ईद के दिन भी बच्चों को नए कपड़े न मिलते थे, कभी इतना हौसला न हुआ कि बीबी के लिये एक लोहे का छल्ला बनवाता! उलटे उसके सारे गहने बेच-बेचकर खिला दिए। इस सारी तपस्या का यह नतीजा! और वह भी मेरी ग़ैरहाज़िरी में! मेरे बच्चे इस तरह घर से निकाल दिए गए, गोया किसी ग़ैर के बच्चे हैं, मेरी बीबी को रो-रोकर दिन काटने पड़े, कोई आँसू पोछनेवाला भी नहीं हुआ, और मैंने इसी लौंडे के लिये ग़बन किया था? इसी के लिये अमानत की रक़म उड़ाई थी! क्या मैं मर गया था? अगर वे लोग मेरे बाल-बच्चों को अच्छी तरह इज़्ज़त-आबरू के साथ रखते, तो क्या मैं ऐसा गया-गुज़रा था कि उनके एहसान का बोझ उतारने की कोशिश न करता! न दूध-घी खिलाते, न तंज़ेब-अद्धी पहनाते, रूखी रोटियाँ ही देते, गज़ी-गाढ़ा ही पहनाते; पर घर में तो रखते। वे रुपयों के पान खा जाते होंगे, और यहाँ मेरी बीबी को सिलाई करके अपना गुज़र-बसर करना पड़ा! उन सबों से तो जॉन सेवक ही अच्छे, जिन्होंने रहने का मकान तो न गिरवाया, मदद करने के लिये आए तो।"

कुलसूम ने ये विपत्ति के दिन सिलाई करके काटे थे। देहात की स्त्रियाँ उसके यहाँ अपने लिये कुरतियाँ, बच्चों के लिये टोप और कुरते सिलातीं। कोई पैसे दे जाती, कोई नाज। उसे भोजन-वस्त्र का कष्ट न था। ताहिरअली अपनी समृद्धि के दिनों में भी इससे ज़्यादा सुख न दे सके थे। अंतर केवल यह था कि तब सिर पर अपना पति था, अब सिर पर कोई न था। इस आश्रय-हीनता ने विपत्ति को और भी असह्य बना दिया था। अंधकार में निर्जनता और भी भयप्रद हो जाती है।

ताहिरअली सिर झुकाए शोक-मग्न बैठे थे कि कुलसूम ने द्वार पर आकर कहा—"शाम हो गई, और अभी तक कुछ नहीं खाया। चलो, खाना ठंडा हुआ जाता है।"

ताहिरअली ने सामने के खँडहरों की ओर ताकते हुए कहा—"माहिर थाने ही में रहते हैं, या कहीं और मकान लिया है?"

कुलसूम—"मुझे क्या खबर, यहाँ तब से झूठों भी तो नहीं आए। जब ये मकान खाली करवाए जा रहे थे, तब एक दिन सिपाहियों को लेकर आए थे। नसीमा और साबिर चचा-चचा करके दौड़े, पर दोनो को दुत्कार दिया।"

ताहिर—"हाँ, क्यों न दुत्कारते, उनके कौन होते थे!"

कुलसूम—"चलो, दो लुक़मे खा लो।"

ताहिर—"माहिर मियाँ से मिले बगैर मुझे दाना-पानी हराम है।"

कुलसूम—"मिल लेना, कहीं भागे जाते हैं।"

ताहिर—"जब तक जी-भर उनसे बातें न कर लूँगा, दिल को तस्कीन न होगी।"

कुलसूम—"खुदा उन्हें खुश रक्खे, हमारी भी तो किसी तरह कट ही गई, खुदा ने किसी-न-किसी हीले से रोज़ी पहुँचा तो दी। तुम सलामत रहोगे, तो हमारी फिर आराम से गुज़रेगी, और पहले से ज़्यादा

अच्छी तरह। दो को गिनाकर लाएँगे। उन लोगों ने जो कुछ किया, उसका सवाब और अज़ाब उनको ख़ुदा से मिलेगा।"

ताहिर—"ख़ुदा ही इंसाफ़ करता, तो हमारी यह हालत क्यों होती। उसने इंसाफ़ करना छोड़ दिया।"

इतने में एक बुढ़िया सिर पर टोकरी रक्खे आकर खड़ी हो गई, और बोली—"बहू, लड़कों के लिये भुट्टे लाई हूँ, क्या तुम्हारे मियाँ आ गए क्या?"

कुलसूम बुढ़िया के साथ कोठरी में चली गई। उसके कुछ कपड़े सिए थे। दोनो में इधर-उधर की बातें होने लगीं।

अँधेरी रात नदी की लहरों की भाँति पूर्व दिशा से दौड़ी चली आती थी। वे खँडहर ऐसे भयानक मालूम होने लगे, मानो कोई क़बरिस्तान है। नसीमा और साबिर, दोनो आकर ताहिरअली की गोद में बैठ गए।

नसीमा ने पूछा—"अब्बा, अब तो हमें छोड़कर न जाओगे?"

साबिर—"अब जायँगे, तो मैं इन्हें पकड़ लूँगा। देखें, कैसे चले जाते हैं।"

ताहिर—"मैं तो तुम्हारे लिये मिठाइयाँ भी नहीं लाया।"

नसीमा—"तुम तो हमारे अब्बाजान हो। तुम नहीं थे, तो चचा ने हमें अपने पास से भगा दिया था।"

साबिर—"पंडाजी ने हमें पैसे दिए थे, याद है न नसीमा?"

नसीमा—"और सूरदास की झोपड़ी में हम-तुम जाके बैठे, तो उसने हमें गुड़ खाने को दिया था। मुझे गोद में उठाकर प्यार करता था।"

साबिर—"उस बेचारे को एक साहब ने गोली मार दी अब्बा! मर गया।"

नसीमा—"यहाँ पलटन आई थी अब्बा, हम लोग मारे डर के घर से न निकलते थे, क्यों साबिर?"

साबिर—"निकलते, तो पलटनवाले पकड़ न ले जाते !"

बच्चे तो बाप की गोद में बैठकर चहक रहे थे, किंतु पिता का ध्यान उनकी ओर न था। वह माहिरअली से मिलने के लिये विकल थे, अब अवसर पाया, तो बच्चों से मिठाई लाने का बहाना करके चल खड़े हुए। थाने पर पहुँचकर पूछा, तो मालूम हुआ कि दारोग़ाजी अपने मित्रों के साथ बँगले में विराजमान हैं। ताहिरअली बँगले की तरफ़ चले। वह फूस का अठकोना झोपड़ा था, लताओं और बेलों से सजा हुआ। माहिरअली ने बरसात में सोने और मित्रों के साथ विहार करने के लिये इसे बनवाया था। चारो तरफ़ से हवा जाती थी। ताहिरअली ने समीप जाकर देखा, तो कई भद्र पुरुष मसनद लगाए बैठे हुए थे। बीच में पीकदान रक्खा हुआ था। ख़मीरा तंबाकू धुआँधार उड़ रहा था। एक तश्तरी में पान-इलायची रक्खे हुए थे। दो चौकीदार खड़े पंखा झल रहे थे। इस वक़्त ताश की बाज़ी हो रही थी। बीच-बीच में चुहल भी हो जाती थी। ताहिरअली की छाती पर साँप लोटने लगा। यहाँ ये जलसे हो रहे हैं, यह ऐश का बाज़ार गर्म है, और एक मैं हूँ कि कहीं बैठने का ठिकाना नहीं, रोटियों के लाले पड़े हैं। यहाँ जितना पान-तंबाकू में उड़ जाता होगा, उतने में मेरे बाल-बच्चों की परवरिश हो जाती। मारे क्रोध के ओठ चबाने लगे। ख़ून खौलने लगा। बेधड़क मित्र-समाज में घुस गए, और क्रोध तथा ग्लानि से उन्मत्त होकर बोले—"माहिर! मुझे पहचानते हो, कौन हूँ? ग़ौर से देख लो। बढ़े हुए बालों और फटे हुए कपड़ों ने मेरी सूरत इतनी नहीं बदल डाली है कि पहचाना न जा सकूँ। बदहाली सूरत को नहीं बदल सकती। दोस्तो, आप लोग शायद न जानते होंगे, मैं इस बेवफ़ा, दग़ाबाज़, कमीने आदमी का भाई हूँ। इसके लिये मैंने क्या-क्या तकलीफ़ें उठाईं, यह मेरा ख़ुदा जानता है। मैंने अपने बच्चों को, अपने कुनबे को, अपनी ज़ात को इसके लिये मिटा दिया, इसकी मा और इसके भाइयों के लिये मैंने वह सब कुछ सहा, जो कोई इंसान सह सकता है,

इसकी ज़रूरतें पूरी करने के लिये, इसके शौक़ और तालीम का ख़र्च पूरा करने के लिये मैंने क़र्ज़ लिए, अपने आक़ा की अमानत में ख़यानत की, और जेल की सज़ा काटी। इन तमाम नेकियों का यह इनाम है कि इस भले आदमी ने मेरे बाल-बच्चों की बात भी न पूछी! यह उसी दिन मुरादाबाद से आया, जिस दिन मुझे सज़ा हुई थी। मैंने इसे ताँगे पर आते देखा, मेरी आँखों में आँसू छलक आए, मेरा दिल बल्लियों उछलने लगा कि मेरा भाई अभी आकर मुझे दिलासा देगा, और ख़ानदान को सँभालेगा। पर यह एहसानफ़रामोश आदमी सीधा चला गया, मेरी तरफ़ ताका तक नहीं, मुँह फेर लिया। उसके दो-चार दिन बाद यह अपने भाइयों के साथ यहाँ चला आया, मेरे बच्चों को वहीं वीराने में छोड़ दिया। यहाँ मजलिस सजी हुई है, ऐश हो रहा है, और वहाँ मेरे अँधेरे घर में चिराग़-बत्ती का भी ठिकाना नहीं। ख़ुदा अगर मुंसिफ़ होता, तो इसके सिर पर उसका कहर बिजली बनकर गिरता। लेकिन उसने इंसाफ़ करना छोड़ दिया। आप लोग इस ज़ालिम से पूछिए कि क्या मैं इसी सलूक और बेदरदी के लायक़ था, क्या इसी दिन के लिये मैंने फ़क़ीरों की-सी ज़िंदगी बसर की थी? इसको शर्मिंदा कीजिए, इसके मुँह में कालिख लगाइए, इसके मुँह पर थूकिए। नहीं, आप लोग इसके दोस्त हैं, मुरौवत के सबब इंसाफ़ न कर सकेंगे। अब मुझी को इंसाफ़ करना पड़ेगा। ख़ुदा गवाह है, और ख़ुद इसका दिल गवाह है कि आज तक मैंने इसे कभी तेज़ निगाह से भी नहीं देखा, इसे खिलाकर ख़ुद भूखों रहा, इसे पहनाकर ख़ुद नंगा रहा। मुझे याद ही नहीं आता कि मैंने कब नए जूते पहने थे, कब नए कपड़े बनवाए थे, इसके उतारों ही पर मेरी बसर होती थी। ऐसे ज़ालिम पर अगर ख़ुदा का अज़ाब नहीं गिरता, तो इसका सबब यही है कि ख़ुदा ने इंसाफ़ करना छोड़ दिया।"

ताहिरअली ने जल-प्रवाह के वेग से अपने मनोद्गार प्रकट किए, और इसके पहले कि माहिरअली कुछ जवाब दें, या सोच सकें कि क्या जवाब

दूँ, या ताहिरअली को रोकने की चेष्टा करें, उन्होंने झपटकर क़लमदान उठा लिया, उसकी स्याही निकाल ली, और माहिरअली की गरदन ज़ोर से पकड़कर स्याही मुँह पर पोत दी, तब तीन बार उन्हें झुक-झुककर सलाम किया, और अंत में यह कहकर वहीं बैठ गए—"मेरे अरमान निकल गए, मैंने आज से समझ लिया कि तुम मर गए, और तुमने तो मुझे पहले ही से मरा हुआ समझ लिया है। बस, हमारे दरमियान इतना ही नाता था। आज वह भी टूट गया। मैं अपनी सारी तकलीफ़ों का सिला और इनाम पा गया। अब तुम्हें अख़्तियार है, मुझे गिरफ़्तार करो, मारो-पीटो, ज़लील करो। मैं यहाँ मरने ही आया हूँ, ज़िंदगी से जी भर गया, दुनिया रहने की जगह नहीं, यहाँ इतनी दग़ा है, इतनी बेवफ़ाई है, इतना हसद है, इतना कीना है कि यहाँ ज़िंदा रहकर कभी ख़ुशी नहीं मयस्सर हो सकती।"

माहिरअली स्तंभित-से बैठ रहे। पर उनके एक मित्र ने कहा—"मान लीजिए, इन्होंने बेवफ़ाई की......"

ताहिरअली बोले—"मान क्या लूँ साहब, भुगत रहा हूँ, रो रहा हूँ, मानने की बात नहीं है।"

मित्र ने कहा—"मुझसे ग़लती हुई, इन्होंने ज़रूर बेवफ़ाई की; लेकिन आप बुज़ुर्ग हैं, यह हरकत शराफ़त से बईद है कि किसी को सरे-मजलिस बुरा-भला कहा जाय, और उसके मुँह में कालिख लगा दी जाय।"

दूसरे मित्र बोले—"शराफ़त से बईद ही नहीं है, पागलपन है, ऐसे आदमी को पागलख़ाने में बंद कर देना चाहिए।"

ताहिर—"जानता हूँ, इतना जानता हूँ, शराफ़त से बईद है; लेकिन मैं शरीफ़ नहीं हूँ, पागल हूँ, दीवाना हूँ, शराफ़त आँसू बनकर आँखों से बह गई। जिसके बच्चे गलियों में, दूकानों पर भीख माँगते हों, जिसकी बीबी पड़ोसियों का आटा पीसकर अपना गुज़र करे, जिसकी कोई ख़बर

देनेवाला न हो, जिसके रहने का घर न हो, जिसके पहनने को कपड़े न हों, वह शरीफ़ नहीं हो सकता, और न वही आदमी शरीफ़ हो सकता है, जिसकी बेरहमी के हाथों मेरी यह दुर्गत हुई। अपने जेल से लौटने-वाले भाई को देखकर मुँह फेर लेना अगर शराफ़त है; तो यह भी शराफ़त है; क्यों मियाँ माहिर, बोलते क्यों नहीं? याद है, तुम नई अचकन पहनते थे, और जब तुम उतारकर फेंक दिया करते थे, तो मैं पहन लेता था! याद है, तुम्हारे फटे जूते गठवाकर मैं पहना करता था! याद है, मेरा मुशाहरा कुल २५) माहवार था, और वह सब-का-सब मैं तुम्हें मुरादाबाद भेज दिया करता था! याद है, देखो, ज़रा मेरी तरफ़ देखो। तुम्हारे तंबाकू का खर्च मेरे बाल-बच्चों के लिये काफ़ी हो सकता था। नहीं, तुम सब कुछ भूल गए। अच्छी बात है, भूल जाओ, न मैं तुम्हारा भाई हूँ, न तुम मेरे भाई हो। मेरी सारी तकलीफ़ों का मुआवज़ा वही स्याही है, जो तुम्हारे मुँह पर लगी हुई है। लो रुख़सत, अब तुम फिर यह सूरत न देखोगे, अब हिसाब के दिन तुम्हारा दामन न पकड़ूँगा। तुम्हारे ऊपर मेरा कोई हक़ नहीं है।"

यह कहकर ताहिरअली उठ खड़े हुए, और उसी अँधेरे में जिधर से आए थे, उधर चले गए, जैसे हवा का एक झोंका आए, और निकल जाय। माहिरअली ने बड़ी देर बाद सिर उठाया, और फ़ौरन् साबुन से मुँह धोकर तौलिए से साफ़ किया। तब आईने में मुँह देखकर बोले—"आप लोग गवाह रहें, मैं इनको इस हरकत का मज़ा चखाऊँगा।"

एक मित्र—"अजी, जाने भी दीजिए, मुझे तो दीवाने-से मालूम होते हैं।"

दूसरे मित्र—"दीवाने नहीं, तो और क्या हैं, यह भी कोई समझ-दारों का काम है भला।"

माहिरअली—"हमेशा से बीबी के गुलाम रहे; जिस तरफ़ चाहती है, नाक पकड़कर घुमा देती है। आप लोगों से खानगी दुखड़े क्या रोऊँ,

मेरे भाइयों की, और मा की मेरी भावज के हाथों जो दुर्गत हुई है, वह किसी दुश्मन की भी न हो। कभी बिला रोए दाना न नसीब होता था। मेरी अलवत्ता यह ज़रा खातिर करते थे। आप समझते रहे होंगे कि इसके साथ ज़रा ज़ाहिरदारी कर दो, बस, ज़िंदगी-भर के लिये मेरा गुलाम हो जायगा। ऐसी औरत के साथ निवाह क्योंकर होता। यह हज़रत तो जेल में थे, वहाँ उसने हम लोगों को फ़ाके कराने शुरू किए। मैं ख़ाली हाथ, बड़ी मुशीवत में पड़ा। वह तो कहिए, दवा-दविश करने से यह जगह मिल गई, नहीं तो ख़ुदा ही जानता है, हम लोगों की क्या हालत होती! हम नेहार मुँह दिन-के-दिन वैठे रहते थे, वहाँ मिठाइयाँ मँगा-मँगाकर खाई जाती थीं। मैं हमेशा से इनका अदव करता रहा, यह उसी का इनाम है, जो आपने दिया है। आप लोगों ने देखा, मैंने इतनी ज़िल्लत गवारा की; पर सिर तक नहीं उठाया, ज़बान नहीं खोली, नहीं एक धक्का देता, तो वीसो लुढ़कनियाँ खाते। अब भी दावा कर दूँ, तो हज़रत वँधे-वँधे फिरें; लेकिन तब. दुनिया यही कहेगी कि वड़े भाई को ज़लील किया।"

एक मित्र—"जाने भी दो म्याँ, घरों में ऐसे झगड़े होते ही रहते हैं। वेहयाओं की वला दूर, मरदों के लिये शर्म नहीं है। लाओ, ताश उठाओ, अब तक तो एक वाज़ी हो गई होती।"

माहिरअली—"क़सम कलामेशरीफ़ की, अम्माजान ने अपने पास के दो हज़ार रुपए इन लोगों को खिला दिए, नहीं तो २५) में यह वेचारे क्या खाकर सारे कुनवे का ख़र्च सँभालते।"

एक कांस्टेबिल—"हज़ूर, घर-गिरिस्ती में ऐसा हुआ ही करता है। जाने दीजिए, जो हुआ सो हुआ, वह वड़े हैं, आप छोटे हैं; दुनिया उन्हीं को थूकेगी, आपकी वड़ाई होगी।"

एक मित्र—"कैसा शेर-सा लपका हुआ आया, और कलमदान से स्याही निकालकर मल ही तो दी। मानता हूँ।"

माहिरअली—"हज़रत, इस वक़्त दिल न जलाइए, क़सम ख़ुदा की, बड़ा मलाल है।"

ताहिरअली यहाँ से चले, तो उनकी गति में वह व्यग्रता न थी। दिल में पछता रहे थे कि नाहक़ अपनी शराफ़त में बट्टा लगाया। घर आए, तो कुल्सूम ने पूछा—"तुम कहाँ ग़ायब हो गए थे? राह देखते-देखते आँखें थक गईं। बच्चे रोकर सो गए कि अब्बा फिर चले गए।"

ताहिरअली—"ज़रा माहिरअली से मिलने गया था।"

कुल्सूम—"इसकी ऐसी क्या जल्दी थी! कल मिल लेते। तुम्हें यों फटे हाल देखकर शरमाए तो न होंगे।"

ताहिरअली—"मैंने उसे वह लताड़ सुनाई कि उम्र-भर न भूलेंगे। ज़बान तक न खुली। उसी गुस्से में मैंने उसके मुँह में कालिख भी लगा दी।"

कुल्सूम का मुख मलिन हो गया। बोली—"तुमने बड़ी नादानी का काम किया। कोई इतना जामे से बाहर हो जाता है! यह कालिख तुमने उनके मुँह में नहीं लगाई, अपने मुँह में लगाई है, तुम्हारी ज़िंदगी-भर के किए-धरे पर स्याही फिर गई। तुमने अपनी सारी नेकियों को मटिया-मेट कर दिया। आख़िर यह तुम्हें सूझी क्या? तुम तो इतने गुस्सेवर कभी न थे। इतना सब्र न हो सका कि अपने भाई ही थे, उनकी परवरिश की, तो कौन-सी हातिम की क़ब्र पर लात मारी। छी-छी! इंसान किसी ग़ैर के साथ भी नेकी करता है, तो दरिया में डाल देता है, यह नहीं कि क़र्ज़ वसूल करता फिरे। तुमने जो कुछ किया, ख़ुदा की राह में किया, अपना फ़र्ज़ समझकर किया। क़र्ज़ नहीं दिया था कि सूद के साथ वापस ले लो। कहीं मुँह दिखाने के लायक़ न रहे, न रक्खा। अभी दुनिया उनको हँसती थी, देहातिनियाँ भी उनको कोसने दे जाती थीं। अब लोग तुम्हें हँसेंगे। दुनिया हँसे या न हँसे, इसकी परवा नहीं। अब तक ख़ुदा और रसूल की नज़रों में वह ख़तावार थे, अब तुम ख़तावार हो।"

ताहिरअली ने लज्जित होकर कहा—"हिमाक़त तो हो गई, मगर मैं तो बिलकुल पागल हो गया था।"

कुलसूम—"भरी महफ़िल में उन्होंने सिर तक न उठाया, फिर भी तुम्हें ग़ैरत न आई। मैं तो कहूँगी, तुमसे कहीं शरीफ़ वही हैं, नहीं तुम्हारी आबरू उतार लेना उनके लिये क्या मुश्किल था!"

ताहिरअली—"अब यही ख़ौफ़ है कि कहीं मुझ पर दावा न कर दे।"

कुलसूम—"उनमें तुमसे ज़्यादा इंसानियत है।"

कुलसूम ने इतना लज्जित किया कि ताहिरअली रो पड़े, और देर तक रोते रहे। फिर बहुत मनाने पर खाने उठे, और खा-पीकर सोए।

तीन दिन तक तो वह इसी कोठरी में पड़े रहे। कुछ बुद्धि काम न करती थी कि कहाँ जायँ, क्या करें, क्योंकर जीवन का निर्वाह हो। चौथे दिन घर से नौकरी की तलाश करने निकले, मगर कहीं कोई सूरत न निकली। सहसा उन्हें सूझी कि क्यों न जिल्दबंदी का काम करूँ; जेलख़ाने में वह यह काम सीख गए थे। इरादा पक्का हो गया। कुलसूम ने भी पसंद किया। बला से थोड़ा मिलेगा, किसी के ग़ुलाम तो न रहोगे। सनद की ज़रूरत नौकरी के लिये ही है, जेल भुगतनेवालों का कहीं गुज़र नहीं। व्यवसाय करनेवालों के लिये किसी सनद की ज़रूरत नहीं, उनका काम ही उनकी सनद है। चौथे दिन ताहिरअली ने यह मकान छोड़ दिया, और शहर के दूसरे मुहल्ले में एक छोटा-सा मकान लेकर जिल्द-बंदी का काम करने लगे।

उनकी बनाई हुई जिल्दें बहुत सुंदर और सुदृढ़ होती हैं। काम की कमी नहीं है, सिर उठाने की फ़ुरसत नहीं मिलती। उन्होंने अब दो-तीन जिल्दबंद नौकर रख लिए हैं, और शाम तक दो-तीन रुपए की मज़दूरी कर लेते हैं। इतने समृद्ध वह कभी न थे।

काशी के म्युनिसिपिल-बोर्ड में भिन्न-भिन्न राजनीतिक संप्रदायों के लोग मौजूद थे। एकवाद से लेकर जनसत्तावाद तक सभी विचारों के कुछ-न-कुछ आदमी थे। अभी तक धन का प्राधान्य था, महाजनों और रईसों का राज्य था। जनसत्ता के अनुयायी शक्ति-हीन थे। उन्हें सिर उठाने का साहस न होता था। राजा महेंद्रकुमार की ऐसी धाक बँधी हुई थी कि कोई उनका विरोध न कर सकता था। पर पाँड़ेपुर के सत्याग्रह ने जन-सत्तावादियों में एक नई संगठन-शक्ति पैदा कर दी। उस दुर्घटना का सारा इलज़ाम राजा साहब के सिर मढ़ा जाने लगा। यह आंदोलन शुरू हुआ कि उन पर अविश्वास का प्रस्ताव उपस्थित किया जाय। दिन-दिन आंदोलन ज़ोर पकड़ने लगा। लोकमतवादियों ने निश्चय कर लिया कि वर्तमान व्यवस्था का अंत कर देना चाहिए, जिसके द्वारा जनता को इतनी विपत्ति सहनी पड़ी। राजा साहब के लिये यह कठिन परीक्षा का अवसर था। एक ओर तो अधिकारी लोग उनसे असंतुष्ट थे, दूसरी ओर यह विरोधी दल उठ खड़ा हुआ। बड़ी मुश्किल में पड़े। उन्होंने लोकवादियों की सहायता से अधिकारों का प्रतिकार करने की ठानी थी। उनके राजनीतिक विचारों में भी कुछ परिवर्तन हो गया था। वह अब जनता को साथ लेकर म्युनि-सिपैलिटी का शासन करना चाहते थे। पर अब क्या हो? इस प्रस्ताव को रोकने के लिये उद्योग करने लगे। लोकमतवाद के प्रमुख नेताओं से मिले, उन्हें बहुत कुछ आश्वासन दिया कि भविष्य में उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम न करेंगे, इधर अपने दल को भी संगठित करने लगे। जनतावादियों को वह सदैव नीची निगाह से देखा करते थे। पर अब मजबूर होकर उन्हीं की ख़ुशामद करनी पड़ी। यह जानते थे कि बोर्ड में यह प्रस्ताव आ गया,

तो उसका स्वीकृत हो जाना निश्चित है। खुद दौड़ते थे, अपने मित्रों को दौड़ाते थे कि किसी उपाय से यह बला सिर से टल जाय, किंतु पाँड़ेपुर के निर्वासितों का शहर में रोते फिरना उनके सारे यत्नों को विफल कर देता था। लोग पूछते थे, हमें क्योंकर विश्वास हो कि ऐसी ही निरंकुशता का व्यवहार न करेंगे। सूरदास हमारे नगर का रत्न था, कुँवर विनयसिंह और इंद्रदत्त मानव-समाज के रत्न थे। उनका ख़ून किसके सिर पर है?

अंत में वह प्रस्ताव नियमित रूप से बोर्ड में आ ही गया। उस दिन प्रातःकाल से म्युनिसिपिल-बोर्ड के मैदान में लोगों का जमाव होने लगा। यहाँ तक कि दोपहर होते-होते १०-१२ हज़ार आदमी एकत्र हो गए। एक बजे प्रस्ताव पेश हुआ। राजा साहब ने खड़े होकर बड़े करुणोत्पादक शब्दों में अपनी सफ़ाई दी; सिद्ध किया कि मैं विवश था, इस दशा में मेरी जगह पर कोई दूसरा आदमी होता, तो वह भी वही करता, जो मैंने किया, इसके सिवा अन्य कोई मार्ग न था। उनके अंतिम शब्द ये थे—"मैं पद-लोलुप नहीं हूँ, सम्मान-लोलुप नहीं हूँ, केवल आपकी सेवा का लोलुप हूँ; अब और भी ज़्यादा, इसलिये कि मुझे प्रायश्चित्त करना है, जो इस पद से अलग होकर मैं न कर सकूँगा, वह साधन ही मेरे हाथ से निकल जायगा। सूरदास का मैं उतना ही भक्त हूँ, जितना और कोई व्यक्ति हो सकता है। आप लोगों को शायद मालूम नहीं है कि मैंने शफ़ाख़ाने में जाकर उनसे क्षमा-प्रार्थना की थी, और सच्चे हृदय से खेद प्रकट किया था। सूरदास का ही आदेश था कि मैं अपने पद पर स्थिर रहूँ, नहीं तो मैंने पहले ही पद-त्याग करने का निश्चय कर लिया था। कुँवर विनयसिंह की अकाल मृत्यु का जितना दुख मुझे है, उतना उनके माता-पिता को छोड़कर किसी को नहीं हो सकता। वह मेरे भाई थे। उनकी मृत्यु ने मेरे हृदय पर वह घाव कर दिया है, जो जीवन-पर्यंत न भरेगा। इंद्रदत्त से भी मेरी घनिष्ठ मैत्री थी। क्या मैं इतना अधम,

इतना कुटिल, इतना नीच, इतना पामर हूँ कि अपने हाथों अपने भाई और अपने मित्र की गरदन पर छुरी चलाता ? यह आक्षेप सर्वथा अन्याय-पूर्ण है, यह मेरे जले पर नमक छिड़कना है । मैं अपनी आत्मा के सामने, परमात्मा के सामने निर्दोष हूँ । मैं आपको अपनी सेवाओं की याद नहीं दिलाना चाहता, यह स्वयंसिद्ध है, आप लोग जानते हैं, मैंने आपकी सेवा में अपना कितना समय लगाया है, कितना परिश्रम, कितना अनवरत उद्योग किया है ! मैं रियायत नहीं चाहता, केवल न्याय चाहता हूँ ।"

वक्तृता बड़ी प्रभावशाली थी, पर जनवादियों को अपने निश्चय से न डिगा सकी। पंद्रह मिनट में बहुमत से प्रस्ताव स्वीकृत हो गया, और राजा साहब ने भी तत्क्षण पद-त्याग की सूचना दे दी ।

जब वह सभा-भवन से बाहर निकले, तो जनता ने, जिन्हें उनका व्याख्यान सुनने का अवसर न मिला था, उन पर इतनी फब्तियाँ उड़ाई, इतनी तालियाँ बजाईं कि बेचारे बड़ी मुश्किल से अपनी मोटर तक पहुँच सके । पुलिस ने चौकसी न की होती, तो अवश्य दंगा हो जाता । राजा साहब ने एक बार पीछे फिरकर सभा-भवन को सजल नेत्रों से देखा, और चले गए। कीर्ति-लाभ उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था, और उसका यह निराशा-पूर्ण परिणाम हुआ ! सारी उम्र की कमाई पर पानी फिर गया; सारा यश, सारा गौरव, सारी कीर्ति जनता के क्रोध-प्रवाह में बह गई !

राजा साहब वहाँ से जले हुए घर आए, तो देखा कि इंदु और सोफ़िया दोनो बैठी बातें कर रही हैं । उन्हें देखते ही इंदु बोली—"मिस सोफ़िया सूरदास की प्रतिमा के लिये चंदा जमा कर रही हैं, आप भी तो उसकी वीरता पर मुग्ध हो गए थे, कितना दीजिएगा ?"

सोफ़ी—"इंदुरानी ने १०००) प्रदान किया है, और इसके दुगने से कम देना आपको शोभा न देगा ।"

महेंद्रकुमार ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—"मैं इसका जवाब सोचकर दूँगा ।"

सोफ़ी—"फिर कब आऊँ ?"

महेंद्रकुमार ने ऊपरी मन से कहा—"आपके आने की ज़रूरत नहीं है, मैं स्वयं भेज दूँगा।"

सोफ़िया ने उनके मुख की ओर देखा, तो त्योरियाँ चढ़ी हुई थीं। उठकर चली गई। तब राजा साहब इंदु से बोले—"तुम मुझसे बिना पूछे क्यों ऐसे काम करती हो, जिनसे मेरा सरासर अपमान होता है? मैं तुम्हें कितनी बार समझाकर हार गया! आज उसी अंधे की बदौलत मुझे मुँह की खानी पड़ी, बोर्ड ने मुझ पर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया, और उसी की प्रतिमा के लिये तुमने चंदा दिया, और मुझे भी देने को कह रही हो!"

इंदु—"मुझे क्या खबर थी कि बोर्ड में क्या हो रहा है। आपने भी तो कहा था कि उस प्रस्ताव के पास होने की संभावना नहीं है।"

राजा—"कुछ नहीं, तुम मेरा अपमान करना चाहती हो।"

इंदु—"आप उस दिन सूरदास का गुण-गान कर रहे थे। मैंने समझा, चंदा देने में कोई हरज नहीं है। मैं किसी के मन के रहस्य थोड़े ही जानती हूँ। आखिर वह प्रस्ताव पास क्योंकर हो गया?"

राजा—"अब मैं यह क्या जानूँ, क्योंकर पास हो गया। इतना जानता हूँ कि पास हो गया। सदैव सभी काम अपनी इच्छा या आशा के अनुकूल ही तो नहीं हुआ करते। जिन लोगों पर मेरा पूरा विश्वास था, उन्हीं ने इस अवसर पर दग़ा दी, बोर्ड में आए ही नहीं। मैं इतना सहिष्णु नहीं हूँ कि जिसके कारण मेरा अपमान हो, उसी की पूजा करूँ। मैं यथाशक्ति इस प्रतिमा-आंदोलन को सफल न होने दूँगा। बदनामी तो हो ही रही है, और हो, इसकी परवा नहीं। मैं सरकार को ऐसा भर दूँगा कि मूर्ति खड़ी न होने पाएगी। देश का हित करने की शक्ति अब चाहे न हो, पर अहित करने की है, और दिन-दिन बढ़ती जायगी। तुम भी अपना चंदा वापस कर लो।"

इंदु—(विस्मित होकर) "दिए हुए रुपए वापस कर लूँ?"

राजा—"हाँ, इसमें कोई हरज नहीं।"

इंदु—"आपको कोई हरज न मालूम होता हो, मेरी तो इसमें सरासर हेठी है।"

राजा—"जिस तरह तुम्हें मेरे अपमान की परवा नहीं, उसी तरह यदि मैं भी तुम्हारी हेठी की परवा न करूँ, तो कोई अन्याय न होगा।"

इंदु—"मैं आपसे रुपए तो नहीं माँगती।"

बात-पर-बात निकलने लगी, विवाद की नौबत पहुँची, फिर व्यंग्य की बारी आई, और एक क्षण में दुर्वचनों का प्रहार होने लगा। अपने-अपने विचार में दोनो ही सत्य पर थे, इसलिये कोई न दबता था।

राजा साहब ने कहा—"न-जाने वह कौन दिन होगा कि तुमसे मेरा गला छूटेगा। मौत के सिवा शायद अब कहीं ठिकाना नहीं है।"

इंदु—"आपको अपनी कीर्ति और सम्मान मुबारक रहे। मेरा भी ईश्वर मालिक है। मैं भी ज़िंदगी से तंग आ गई। कहाँ तक लौंडी बनूँ, अब हद हो गई।"

राजा—"तुम मेरी लौंडी बनोगी! वे दूसरी सती स्त्रियाँ होती हैं, जो अपने पुरुषों पर प्राण दे देती हैं। तुम्हारा बस चले, तो मुझे विष दे दो, और दे ही रही हो, इससे बढ़कर और क्या होगा!"

इंदु—"यह विष क्यों उगलते हो। साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते कि मेरे घर से निकल जा। मैं जानती हूँ, आपको मेरा रहना अखरता है। आज से नहीं, बहुत दिनों से जानती हूँ। उसी दिन जान गई थी, जब मैंने एक महरी को अपनी नई साड़ी दे दी थी, और आपने महाभारत मचाया था। उसी दिन समझ गई थी कि यह बेल मुँढ़े चढ़ने की नहीं। जितने दिन यहाँ रही, कभी आपने यह न समझने दिया कि यह मेरा घर है। पैसे-पैसे का हिसाब देकर भी पिंड नहीं छूटा। शायद आप सम-

झते होंगे कि यह मेरे ही रुपए को अपना कहकर मनमाना खर्च करती है, और यहाँ आपका एक धेला छूने की क़सम खाती हूँ। आपके साथ विवाह हुआ है, कुछ आत्मा नहीं बेची है।"

महेंद्र ने ओठ चबाकर कहा—"भगवान् सब दुःख दे। बुरे का संग न दे। मौत भले ही दे दे। तुम-जैसी स्त्री का गला घोट देना भी धर्म-विरुद्ध नहीं। इस राज्य की कुशल मनाओ कि चैन कर रही हो, अपना राज्य होता, तो यह कैंची की तरह चलनेवाली ज़बान तालू से खींच ली जाती।"

इंदु—"अच्छा, अब चुप रहिए, बहुत हो गया। मैं आपकी गालियाँ सुनने नहीं आई हूँ, यह लीजिए अपना घर, खूब टाँगें फैलाकर सोइए।"

राजा—"जाओ, किसी तरह अपना पौरा तो ले जा। बिल्ली बक्शो, चूहा अकेला ही भला।"

इंदु ने दबी ज़बान से कहा—"यहाँ कौन तुम्हारे लिये दीवाना हो रहा है!"

राजा ने क्रोधोन्मत्त होकर कहा—"गालियाँ दे रही है! ज़बान खींच लूँगा।"

इंदु जाने के लिए द्वार तक आई थी। यह धमकी सुनकर फिर पड़ी, और सिंहनी की भाँति बफरकर बोली—"इस भरोसे न रहिएगा। भाई मर गया है, तो क्या गुड़ का बाप कोल्हू तैयार है। सिर के बाल न बचेंगे। ऐसे ही भले होते, तो दुनिया में इतना अपयश कैसे कमाते।"

यह कहकर इंदु अपने कमरे में आई। उन चीज़ों को समेटा, जो उसे मैके में मिली थीं। वे सब चीज़ें अलग कर दीं, जो यहाँ की थीं। शोक न था, दुःख न था, एक ज्वाला थी, जो उसके कोमल शरीर में विष की भाँति व्याप्त हो रही थी। मुँह लाल था, आँखें लाल थीं। नाक लाल थी, रोम-रोम से चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं। अपमान आग्नेय वस्तु है।

अपनी सब चीज़ें सँभालकर इंदु ने अपनी निजी गाड़ी तैयार करने की आज्ञा दी। जब तक गाड़ी तैयार होती रही, वह बरामदे में टहलती रही। ज्यों ही फाटक पर घोड़ों की टाप सुनाई दी, वह आकर गाड़ी में बैठ गई, पीछे फिरकर भी न देखा। जिस घर की वह रानी थी, जिसको वह अपना समझती थी, जिसमें ज़रा-सा कूड़ा पड़ा रहने पर नौकरों के सिर हो जाती थी, उसी घर से इस तरह निकल गई, जैसे देह से प्राण निकल जाता है। उसी देह से, जिसकी वह सदैव रक्षा करता था, जिसके ज़रा-ज़रा-से कष्ट से स्वयं विकल हो जाता था। किसी से कुछ न कहा, न किसी की हिम्मत पड़ी कि उससे कुछ पूछे। उसके चले जाने के बाद महराजिन ने जाकर महेंद्र से कहा—"सरकार, रानी बहू जाने कहाँ चली जा रही हैं!"

महेंद्र ने उसकी ओर तीव्र नेत्रों से देखकर कहा—"जाने दो।"

महराजिन—"सरकार, संदूक और संदूकचे लिए जाती हैं।"

महेंद्र—"कह दिया जाने दो।"

महराजिन—"सरकार, रूठी हुई मालूम होती हैं, अभी दूर न गई होंगी, आप मना लें।"

महेंद्र—"मेरा सिर मत खा।"

इंदु लदी-फँदी सेवा-भवन पहुँची, तो जाह्नवी ने कहा—"तुम लड़कर आ रही हो, क्यों?"

इंदु—"कोई अपने घर में नहीं रहने देता, तो क्या ज़बरदस्ती है।"

जाह्नवी—"सोफ़िया ने आते-ही-आते मुझसे कहा था, आज कुशल नहीं है।"

इंदु—"मैं लौंडी बनकर नहीं रह सकती।"

जाह्नवी—"तुमने उनसे बिना पूछे चंदा क्यों लिखा?"

इंदु—"मैंने किसी के हाथों अपनी आत्मा नहीं बेची है।"

जाह्नवी—"जो स्त्री अपने पुरुष का अपमान करती है, उसे लोक-परलोक कहीं शांति नहीं मिल सकती।"

इंदु—"क्या आप चाहती हैं कि यहाँ से भी चली जाऊँ? मेरे घाव पर नमक न छिड़कें।"

जाह्नवी—"पछताओगी, और क्या। समझाते-समझाते हार गई, पर तुमने अपना हठ न छोड़ा।"

इंदु यहाँ से उठकर सोफ़िया के कमरे में चली गई। माता की बातें उसे ज़हर-सी लगीं।

यह विवाद दांपत्य क्षेत्र से निकलकर राजनीतिक क्षेत्र में अवतरित हुआ। महेंद्रकुमार उधर एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाकर इस आंदोलन का विरोध कर रहे थे, लोगों को चंदा देने से रोकते थे, प्रांतीय सरकार को उत्तेजित करते थे, इधर इंदु सोफ़िया के साथ चंदे वसूल करने में तत्पर थी। मि० क्लार्क अभी तक दिल में राजा साहब से द्वेष रखते थे, अपना अपमान भूले न थे, उन्होंने जनता के इस आंदोलन में हस्तक्षेप करने की कोई ज़रूरत न समझी, जिसका फल यह हुआ कि राजा साहब की एक न चली। धड़ाधड़ चंदे वसूल होने लगे। एक महीने में एक लाख से अधिक वसूल हो गया। किसी पर किसी तरह का दबाव न था, किसी से कोई सिफ़ारिश न करता था। यह दोनो रमणियों के सदुद्योग ही का चमत्कार था, नहीं, शहीदों की वीरता की विभूति थी, जिनकी याद में अब भी लोग रोया करते थे। लोग स्वयं आकर देते थे, अपनी हैसियत से ज़्यादा। मि० जॉन सेवक ने भी स्वेच्छा से एक हज़ार रुपए दिए, इंदु ने अपना चंदा एक हज़ार तो दिया ही, अपने कई बहुमूल्य आभूषण भी दे डाले, जो बीस हज़ार के बिके। राजा साहब की छाती पर साँप लोटता रहता था। पहले अलक्षित रूप से विरोध करते थे, फिर प्रत्यक्ष रूप से दुराग्रह करने लगे। गवर्नर के पास स्वयं गए, रईसों को भड़काया। सब कुछ किया; पर जो होना था, वह होकर रहा।

छ महीने गुज़र गए। सूरदास की प्रतिमा बनकर आ गई। पूना के एक प्रसिद्ध मूर्तिकार ने सेवा-भाव से इसे रचा था। पाँड़ेपुर में उसे स्थापित करने का प्रस्ताव था। जॉन सेवक ने सहर्ष आज्ञा दे दी। जहाँ सूरदास का झोपड़ा था, वहीं मूर्ति का स्थापन हुआ। कीर्तिमानों की कीर्ति को अमर करने के लिये मनुष्य के पास और कौन-सा साधन है? अशोक की स्मृति भी तो उसके शिला-लेखों ही से अमर है। वाल्मीकि और व्यास, होमर और फ़िर्दौसी, सबको तो नहीं मिलते।

पाँड़ेपुर में बड़ा समारोह था। नगर-निवासी अपने-अपने काम छोड़कर इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। रानी जाह्नवी ने करुण कंठ और सजल नेत्रों से मूर्ति को प्रतिष्ठित किया। इसके बाद देर तक संकीर्तन होता रहा। फिर नेताओं के प्रभावशाली व्याख्यान हुए, पहलवानों ने अपने-अपने करतब दिखाए। संध्या-समय प्रीति-भोज हुआ, छूत और अछूत साथ बैठकर एक ही पंक्ति में खा रहे थे। यह सूरदास की सबसे बड़ी विजय थी। रात को एक नाटक-मंडली ने 'सूरदास' नाम का नाटक खेला, जिसमें सूरदास ही के चरित्र का चित्रण किया गया था। प्रभु सेवक ने इँगलैंड से यह नाटक रचकर इसी अवसर के लिये भेजा था। बारह बजते-बजते उत्सव समाप्त हुआ। लोग अपने-अपने घर सिधारे। वहाँ सन्नाटा छा गया।

चाँदनी छिटकी हुई थी, और शुभ्र ज्योत्स्ना में सूरदास की मूर्ति एक हाथ से लाठी टेकती हुई और दूसरा हाथ किसी अदृश्य दाता के सामने फैलाए खड़ी थी—वही दुर्बल शरीर था, हँसलियाँ निकली हुई, कमर टेढ़ी, मुख पर दीनता और सरलता छाई हुई, साक्षात् सूरदास मालूम होता था। अंतर केवल इतना था कि वह चलता था, यह अचल थी; वह सबोल था, यह अबोल थी; और मूर्तिकार ने यहाँ वह वात्सल्य अंकित कर दिया था, जिसका मूल में पता न था। बस, ऐसा मालूम होता था, मानो कोई स्वर्गलोक का भिक्षुक देवताओं से संसार के कल्याण का वरदान

माँग रहा है। आधी रात बीत चुकी थी। एक आदमी साइकिल पर सवार मूर्ति के समीप आया। उसके हाथ में कोई यंत्र था। उसने क्षण-भर तक मूर्ति को सिर से पाँव तक देखा, और तब उसी यंत्र से मूर्ति पर आघात किया। तड़ाक की आवाज़ सुनाई दी, और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी, और उसी मनुष्य पर, जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित् दूसरा आघात करनेवाला था, इतने में मूर्ति गिर पड़ी। भाग न सका, मूर्ति के नीचे दब गया। प्रातःकाल लोगों ने देखा, तो राजा महेंद्र-कुमारसिंह थे। सारे नगर में खबर फैल गई कि राजा साहब ने सूरदास की मूर्ति तोड़ डाली, और खुद उसी के नीचे दब गए। जब तक जिए, सूरदास के साथ वैर-भाव रक्खा, मरने के बाद भी द्वेष करना न छोड़ा। ऐसे ईर्ष्यालु मनुष्य भी होते हैं! ईश्वर ने उसका फल भी तत्काल ही दे दिया। जब तक जिए, सूरदास से नीचा देखा; मरे भी, तो उसी के नीचे दबकर। जाति का द्रोही, दुश्मन, दंभी, दग़ाबाज़ और इनसे भी कठोर शब्दों में उनकी चर्चा हुई।

कारीगरों ने फिर मसालों से मूर्ति के पैर जोड़े, और उसे खड़ा किया। लेकिन उस आघात के चिह्न अभी तक पैरों पर बने हुए हैं, और मुख भी विकृत हो गया है।

इधर सूरदास के स्मारक के लिये चंदा जमा किया जा रहा था, उधर कुलियों के टोले के शिलान्यास की तैयारियाँ हो रही थीं। नगर के गण्य-मान्य पुरुष निमंत्रित हुए थे। प्रांत के गवर्नर से शिला-स्थापना की प्रार्थना की गई थी। एक गार्डनपार्टी होनेवाली थी। गवर्नर महोदय को अभिनंदन-पत्र दिया जानेवाला था। मिसेज़ सेवक दिलोजान से तैयारियाँ कर रही थीं। बँगले की सफ़ाई और सजावट हो रही थी। तोरण आदि बनाए जा रहे थे। अँगरेज़ी बैंड बुलाया गया था। मि० क्लार्क ने सरकारी कर्म-चारियों को मिसेज़ सेवक की सहायता करने का हुक्म दे दिया था, और स्वयं चारो तरफ़ दौड़ते फिरते थे।

मिसेज़ सेवक के हृदय में अब एक नई आशा अंकुरित हुई थी। कदा-चित् विनयसिंह की मृत्यु सोफ़िया को मि० क्लार्क की ओर आकर्षित कर दे, इसलिये वह मि० क्लार्क की और भी ख़ातिर कर रही थीं। सोफ़िया को स्वयं जाकर साथ लाने का निश्चय कर चुकी थीं—जैसे बनेगा, वैसे लाऊँगी, ख़ुशी से न आएगी, ज़बरदस्ती लाऊँगी, रोऊँगी, पैरों पड़ूँगी, और बिना साथ लाए उसका गला न छोड़ूँगी।

मि० जॉन सेवक कंपनी का वार्षिक विवरण तैयार करने में दत्तचित्त थे। गत साल के नफ़े की सूचना देने के लिये उन्होंने यही अवसर पसंद किया था। यद्यपि यथार्थ लाभ बहुत कम हुआ था, किंतु आय-व्यय में इच्छा-पूर्वक उलट-फेर करके वह आशातीत लाभ दिखाना चाहते थे, जिसमें कंपनी के हिस्सों की दर चढ़ जाय, और लोग हिस्सों पर टूट पड़ें। इधर के घाटे को वह इस चाल से पूरा करना चाहते थे। लेखकों को रात-रात-भर काम करना पड़ता था, और स्वयं मि० सेवक

हिसाबों की तैयारी में उससे कहीं ज़्यादा परिश्रम करते थे, जितना उत्सव की तैयारियों में।

किंतु मि० ईश्वर सेवक को ये तैयारियाँ, जिन्हें वह अपव्यय कहते थे, एक आँख न भाती थीं। वह बार-बार झुँझलाते थे, बेचारे वृद्ध आदमी को सुबह से शाम तक सिरमग़ज़न करते गुज़रता था। कभी बेटे पर झल्लाते, कभी बहू पर, कभी कर्मचारियों पर, कभी सेवकों पर—"यह पाँच मन बर्फ़ की क्या ज़रूरत है, क्या लोग इसमें नहाएँगे? मन-भर काफ़ी थी। काम तो आधे मन ही में चल सकता था। इतनी शराब की क्या ज़रूरत? कोई परनाला बहाना है, या मेहमानों को पिलाकर उनके प्राण लेने हैं, इससे क्या फ़ायदा कि लोग पी-पीकर बदमस्त हो जायँ, और आपस में जूती-पैज़ार होने लगे? लगा दो घर में आग, या मुझी को ज़हर दे दो; न ज़िंदा रहूँगा, न जलन होगी। प्रभु मसीह! मुझे अपने दामन में ले। इस अनर्थ का कोई ठिकाना है, फ़ौजी बैंड की क्या ज़रूरत? क्या गवर्नर कोई बच्चा है, जो बाजा सुनकर ख़ुश होगा? या शहर के रईस बाजे के भूखे हैं? ये आतिशबाज़ियाँ क्या होंगी? ग़ज़ब ख़ुदा का, क्या एक सिरे से सब भंग खा गए हैं? यह गवर्नर का स्वागत है, या बच्चों का खेल? पटाखे और छछूँदरें किसको ख़ुश करेंगी? माना, पटाखे और छछूँदरें न होंगी, अँगरेज़ी आतिशबाज़ियाँ होंगी, मगर क्या गवर्नर ने आतिशबाज़ी नहीं देखी है? ऊटपटाँग काम करने से क्या मतलब? किसी ग़रीब का घर जल जाय, कोई और दुर्घटना हो जाय, तो लेने के देने पड़ें। हिंदुस्थानी रईसों के लिये फल-मेवे और मुरब्बे-मिठाइयाँ मँगाने की ज़रूरत? वे ऐसे भुक्खड़ नहीं होते। उनके लिये एक-एक सिगरेट काफ़ी थी। हाँ, पान-इलायची का प्रबंध और कर दिया जाता। वे यहाँ कोई दावत खाने तो आएँगे नहीं, कंपनी का वार्षिक विवरण सुनने आएँगे। अरे, ओ ख़ानसामा, सुअर, ऐसा न हो कि मैं तेरा सिर तोड़कर रख दूँ। जो-जो वह पगली (मिसेज़ सेवक)

कहती है, वही करता है। मुझे भी कुछ बुद्धि है या नहीं ? जानता है, आजकल ४) सेर अंगूर मिलते हैं। इनकी बिलकुल ज़रूरत नहीं। खबरदार, जो यहाँ अंगूर आए !" सारांश यह कि कई दिनों तक निरंतर बक-बक, झक-झक से उनका चित्त कुछ अव्यवस्थित-सा हो रहा था। कोई उनकी सुनता न था, सब अपने-अपने मन की करते थे। जब वह बकते-बकते थक जाते, तो उठकर बाग़ में चले जाते। लेकिन थोड़ी ही देर में फिर घबराकर आ पहुँचते, और पूर्ववत् लोगों पर वाक्य-प्रहार करने लगते। यहाँ तक कि उत्सव के एक सप्ताह पहले जब मि० जॉन सेवक ने प्रस्ताव किया कि घर के सब नौकरों और कार-ख़ाने के चपरासियों को एलिगन मिल की बनी हुई वर्दियाँ दी जायँ, तो मि० ईश्वर सेवक ने मारे क्रोध के वह इंजील, जिसे वह हाथ में लिए प्रकट रूप से ऐनक की सहायता से, पर वस्तुतः स्मरण से, पढ़ रहे थे, अपने सिर पर पटक ली, और बोले, या खुदा, मुझे इस जंजाल से निकाल। सिर दीवार के समीप था, यह धक्का लगा, तो दीवार से टकरा गया। ६० वर्ष की अवस्था, जर्जर शरीर, वह तो कहो, पुरानी हड्डियाँ थीं कि काम देती जाती थीं, अचेत हो गए। मस्तिष्क इस आघात को सहन न कर सका, आँखें निकल आईं, ओठ खुल गए, और जब तक लोग डॉक्टरों को बुलाएँ, उनके प्राण-पखेरू उड़ गए! ईश्वर ने उनकी अंतिम विनय स्वीकार कर ली, इस जंजाल से निकाल दिया। निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी मृत्यु का क्या कारण था, यह आघात या गृह-दाह ?

सोफ़िया ने यह शोक-समाचार सुना, तो मान जाता रहा। अपने घर में अब अगर किसी को उससे प्रेम था, तो वह ईश्वर सेवक ही थे। उनके प्रति उसे भी श्रद्धा थी। तुरत मातमी वस्त्र धारण किए, और अपने घर गई। मिसेज़ सेवक दौड़कर उससे गले मिलीं, और मा-बेटियाँ मृत देह के पास ख़ूब रोईं।

रात को जब मातमी दावत समाप्त हुई, और लोग अपने-अपने घर गए, तो मिसेज़ सेवक ने सोफ़िया से कहा—"बेटी, तुम अपना घर रहते हुए दूसरी जगह रहती हो, क्या यह हमारे लिये लज्जा और दुख की बात नहीं? यहाँ अब तुम्हारे सिवा और कौन वली-वारिस है! प्रभु का अब क्या ठिकाना घर आए या न आए, अब तो जो कुछ हो, तुम्हीं हो। हमने अगर कभी कड़ी बात कही होगी, तो तुम्हारे ही भले को कही होगी। कुछ तुम्हारी दुश्मन तो हूँ नहीं। अब अपने घर में रहो। यों आने-जाने के लिये कोई रोक नहीं है, रानी साहब से भी मिल आया करो; पर रहना यहीं चाहिए। ख़ुदा ने और तो सब अरमान पूरे कर दिए, तुम्हारा विवाह भी हो जाता, निश्चिंत हो जाती। प्रभु जब आता, देखी जाती। इतने दिनों का मातम थोड़ा नहीं होता, अब दिन गँवाना अच्छा नहीं। मेरी अभिलाषा है कि अब की तुम्हारा विवाह हो जाय, और गर्मियों में हम सब दो-तीन महीने के लिये मंसूरी चलें।"

सोफ़ी ने कहा—"जैसी आपकी इच्छा, कर लूँगी।"

मा—"और क्या बेटी, ज़माना सदा एक-सा नहीं रहता, हमारी ज़िंदगी का क्या भरोसा। तुम्हारे बड़े पापा यह अभिलाषा लिए ही सिधार गए। तो मैं तैयारी करूँ?"

सोफ़िया—"कह तो रही हूँ।"

मा—"तुम्हारे पापा सुनकर फूले न समाएँगे। कुँवर विनयसिंह की मैं निंदा नहीं करती, बड़ा जवाँमर्द आदमी था; पर बेटी, अपने धर्मवालों में करने की बात ही और है।"

सोफ़िया—"हाँ, और क्या।"

मा—"तो अब रानी जाह्नवी के यहाँ न जाओगी न?"

सोफ़िया—"जी नहीं, न जाऊँगी।"

मा—"आदमियों से कह दूँ, तुम्हारी चीज़ें उठा लाएँ?"

सोफ़िया—"कल रानीजी आप ही भेज देंगी।"

मिसेज़ सेवक खुश-खुश दावत का कमरा साफ़ कराने गईं।

मि० क्लार्क अभी वहीं थे। उन्हें यह शुभ सूचना दी। सुनकर फड़क उठे। बाछें खिल गईं। दौड़े हुए सोफ़िया के पास आ गए, और बोले—"सोफ़ी, तुमने मुझे ज़िंदा कर दिया। अहा! मैं कितना भाग्यवान् हूँ। मगर तुम एक बार अपने मुँह से मेरे सामने कह दो। तुम अपना वादा पूरा करोगी?"

सोफ़िया—"करूँगी।"

और भी बहुत-से आदमी मौजूद थे, इसलिये मि० क्लार्क सोफ़िया का आलिंगन न कर सके। मूछों पर ताव देते, हवाई क़िले बनाते, मनमोदक खाते घर गए।

प्रातःकाल सोफ़िया का अपने कमरे में पता न था! पूछ-पाछ होने लगी। माली ने कहा, मैंने उन्हें जाते तो नहीं देखा, पर जब यहाँ सब लोग सो गए थे, तो एक बार फाटक के खुलने की आवाज़ आई थी। लोगों ने समझा, कुँवर भरतसिंह के यहाँ गई होगी, तुरंत एक आदमी दौड़ाया गया। लेकिन वहाँ भी पता न चला। बड़ी खलबली मची, कहाँ गई।

जॉन सेवक—"तुमने रात को कुछ कहा-सुना तो नहीं था?"

मिसेज़ सेवक—"रात को तो विवाह की बातचीत होती रही। मुझसे तैयारियाँ करने के लिये भी कहा। खुश-खुश सोई।"

जॉन सेवक—"तुम्हारी समझ का फ़र्क़ था। उसने तो अपने मन का भाव प्रकट कर दिया। तुमको जता दिया कि कल मैं न हूँगी। जानती हो, विवाह से उसका आशय क्या था? आत्मसमर्पण। अब विनय से उसका विवाह होगा; यहाँ जो न हो सका, वह स्वर्ग में होगा। मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था, वह किसी से विवाह न करेगी। तुमने रात को विवाह की बातचीत छेड़कर उसे भयभीत कर दिया। जो बात कुछ दिनों में होती, वह आज ही हो गई। अब जितना रोना हो, रो लो; मैं तो पहले ही रो चुका हूँ।"

इतने में रानी जाह्नवी आईं, आँखें रोते-रोते बीरबहूटी हो रही थीं। उन्होंने एक पत्र मि० सेवक के हाथ में रख दिया, और एक कुर्सी पर बैठकर मुँह ढाँप रोने लगीं।

यह सोफ़िया का पत्र था, अभी डाकिया दे गया था। लिखा था—"पूज्य माताजी! आपकी सोफ़िया आज संसार से विदा होती है। जब विनय न रहे, तो यहाँ मैं किसके लिये रहूं। इतने दिनों मन को धैर्य देने की चेष्टा करती रही। समझती थी, पुस्तकों में अपनी शोक-स्मृतियों को डुबा दूँगी, और अपना जीवन सेवा-धर्म का पालन करने में सार्थक करूँगी। किंतु मेरा प्यारा विनय मुझे बुला रहा है। मेरे विना उसे वहाँ एक क्षण चैन नहीं है। उससे मिलने जाती हूं। यह भौतिक आवरण मेरे मार्ग में बाधक है, इसलिये इसे यहीं छोड़े जाती हूं। गंगा की गोद में इसे सौंपे देती हूँ। मेरा हृदय पुलकित हो रहा है, पैर उड़े जा रहे हैं, आनंद से रोम-रोम प्रमुदित है, अब शीघ्र ही मुझे विनय के दर्शन होंगे। आप मेरे लिये दुख न कीजिएगा, मेरी खोज का व्यर्थ प्रयत्न न कीजिएगा। कारण, जब तक यह पत्र आपके हाथों में पहुँचेगा, सोफ़िया का सिर विनय के चरणों पर होगा। मुझे कोई प्रवल शक्ति खींचे लिए जा रही है, और बेड़ियाँ आप-ही-आप टूटी जा रही हैं।

"मामा और पापा से कह दीजिएगा, सोफ़ी का विवाह हो गया, अब उसकी चिंता न करें।"

पत्र समाप्त होते ही मिसेज़ सेवक उन्मादिनी की भाँति कर्कश स्वर से बोलीं—"तुम्हीं विष की गाँठ हो, मेरे जीवन का सर्वनाश करनेवाली, मेरी जड़ों में कुल्हाड़ी मारनेवाली, मेरी अभिलाषाओं को पैरों से कुचलनेवाली, मेरा मान-मर्दन करनेवाली काली नागिनी तुम्हीं हो। तुम्हीं ने अपनी मधुर वाणी से, अपने छल-प्रपंच से, अपने कूट-मंत्रों से मेरी सरला सोफ़ी को मोहित कर लिया, और अंत को उसका सर्वनाश कर दिया। यह तुम्ही लोगों के प्रलोभन और उत्तेजना देने का फल है कि

मेरा लड़का आज न-जाने कहाँ और किस दशा में है, और मेरी लड़की का यह हाल हुआ। तुमने मेरे सारे मंसूबे खाक में मिला दिए।"

वह उसी क्रोध-प्रवाह में न-जाने और क्या-क्या कहतीं कि मि० जॉन सेवक उनका हाथ पकड़कर वहाँ से खींच ले गए। रानी जाह्नवी ने इन अपमानसूचक, कटु शब्दों का कुछ भी उत्तर न दिया, मिसेज़ सेवक को सहवेदना-पूर्ण नेत्रों से देखती रहीं, और तब बिना कुछ कहे-सुने वहाँ से उठकर चली गईं।

मिसेज़ सेवक की महत्त्वाकांक्षाओं पर तुषार पड़ गया। उस दिन से फिर उन्हें किसी ने गिरजाघर जाते नहीं देखा, वह फिर कभी गाउन और हैट पहने हुए न दिखाई दीं, फिर योरपियन क्लब में नहीं गईं, और फिर अँगरेज़ी दावतों में सम्मिलित नहीं हुईं। दूसरे दिन प्रातः-काल पादरी पिम और मि० क्लार्क मातमपुरसी करने आए। मिसेज़ सेवक ने दोनो को वह फटकार सुनाई कि अपना-सा मुँह लेकर चले गए। सारांश यह कि उसी दिन उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, मस्तिष्क इतने कठोराघात को सहन न कर सका। वह अभी तक जीवित हैं, पर दशा अत्यंत करुण है। आदमियों की सूरत से घृणा हो गई है, कभी हँसती हैं, कभी रोती हैं, कभी नाचती हैं, कभी गाती हैं। कोई समीप जाता है, तो दाँतों काटने दौड़ती हैं।

रहे मिस्टर जॉन सेवक। वह निराशामय धैर्य के साथ प्रातःकाल से संध्या तक अपने व्यावसायिक धंधों में रत रहते हैं। उन्हें अब संसार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है, धन से उन्हें निस्स्वार्थ प्रेम है, कुछ वही अनुराग, जो भक्तों को अपने उपास्य से होता है। धन उनके लिये किसी लक्ष्य का साधन नहीं है, स्वयं लक्ष्य है। न दिन को दिन समझते हैं, न रात को रात। कारबार दिन-दिन बढ़ता जाता है। लाभ दिन-दिन बढ़ता जाता है या नहीं, इसमें संदेह है। देश में गली-गली, दूकान-दूकान इस कारख़ाने के सिगार और सिगरेटों की रेल-पेल है।

वह अब पटने में एक तंबाकू की मिल खोलने की आयोजना कर रहे हैं, क्योंकि बिहार-प्रांत में तंबाकू कसरत से पैदा होती है। उनकी धन-कामना विद्या-व्यसन की भाँति तृप्त नहीं होती।

कुँवर विनयसिंह की वीर मृत्यु के पश्चात् रानी जाह्नवी का सदुत्साह दुगना हो गया। वह पहले से कहीं ज्यादा क्रियाशील हो गईं। उनके रोम-रोम में असाधारण स्फूर्ति का विकास हुआ। वृद्धावस्था की आलस्य-प्रियता यौवन-काल की कर्मण्यता में परिणत हो गई। कमर बाँधी, और सेवक-दल का संचालन अपने हाथ में लिया। रनिवास छोड़ दिया, कर्म-क्षेत्र में उतर आईं, और इतने जोश से काम करने लगीं कि सेवक-दल को जो उन्नति कभी न प्राप्त हुई थी, वह अब हुई। धन का इतना बाहुल्य कभी न था, और न सेवकों की संख्या ही कभी इतनी अधिक थी। उनकी सेवा का क्षेत्र भी इतना विस्तीर्ण न था। उनके पास निज का जितना धन था, वह सेवक-दल को अर्पित कर दिया, यहाँ तक कि अपने लिये एक आभूषण भी न रक्खा। तपस्विनी का वेष धारण करके दिखा दिया कि अवसर पड़ने पर स्त्रियाँ कितनी कर्मशील हो सकती हैं।

डॉक्टर गंगुली का आशावाद भी अंत में अपने नग्न रूप में दिखाई दिया। उन्हें विदित हुआ कि वर्तमान अवस्था में आशावाद आत्मवंचना के सिवा और कुछ नहीं है। उन्होंने कौंसिल में मि० क्लार्क के विरुद्ध बड़ा शोर मचाया, पर यह अरण्य-रोदन सिद्ध हुआ। महीनों का वाद-विवाद, प्रश्नों का निरंतर प्रवाह, सब व्यर्थ हुआ। वह गवर्नमेंट को मि० क्लार्क का तिरस्कार करने पर मजबूर न कर सके। इसके प्रतिकूल मि० क्लार्क की पद-वृद्धि हो गई। इस पर डॉक्टर साहब इतने झल्लाए कि आपे में न रह सके। वहीं भरी सभा में गवर्नर को खूब खरी-खरी सुनाईं, यहाँ तक कि सभा के प्रधान ने उनसे बैठ जाने को कहा। इस पर वह और गर्म हुए, और प्रधान की भी खबर ली। उन पर पक्षपात का दोषारोपण

किया। प्रधान ने तब उनको सभा-भवन से चले जाने का हुक्म दिया, और पुलिस को बुलाने की धमकी दी। मगर डॉक्टर साहब का क्रोध इस पर भी शांत न हुआ। वह उत्तेजित होकर बोले—"आप पशु-बल से मुझे चुप करना चाहते हैं, इसलिये कि आपमें धर्म और न्याय का बल नहीं है। आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया, जो गत चालीस वर्षों से जमा हुआ था कि गवर्नमेंट हमारे ऊपर न्याय-बल से शासन करना चाहती है। आज उस न्याय-बल की कलई खुल गई, हमारी आँखों से पर्दा उठ गया, और हम गवर्नमेंट को उसके नग्न, आवरण-हीन रूप में देख रहे हैं। अब हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि केवल हमको पीसकर तेल निकालने के लिये, हमारा अस्तित्व मिटाने के लिये, हमारी सभ्यता और हमारे मनुष्यत्व की हत्या करने के लिये, हमको अनंत काल तक चक्की का बैल बनाए रखने के लिये हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है। अब तक जो कोई मुझसे ऐसी बातें कहता था, मैं उससे लड़ने पर तत्पर हो जाता था, मैं रिपन, ह्यूम और बेसेंट आदि की कीर्ति का उल्लेख करके उसे निरुत्तर करने की चेष्टा करता था। पर अब विदित हो गया कि उद्देश्य सबका एक ही है, केवल साधनों में अंतर है।"

वह और न बोलने पाए। पुलिस का एक सार्जेंट उन्हें सभा-भवन से निकाल ले गया। अन्य सभासद् भी उठकर सभा-भवन से चले गए। पहले तो लोगों को भय था कि गवर्नमेंट डॉक्टर गंगुली पर अभियोग चलाएगी, पर कदाचित् व्यवस्थाकारों को उनकी वृद्धावस्था पर दया आ गई, विशेष इसलिये कि डॉक्टर महोदय ने उसी दिन घर आते ही अपना त्याग-पत्र भेज दिया।

वह उसी दिन वहाँ से रवाना हो गए, और तीसरे दिन कुँवर भरतसिंह से आ मिले। कुँवर साहब ने कहा—"तुम तो इतने गुस्सेवर न थे, यह तुम्हें हो क्या गया?"

गंगुली—"हो क्या गया! वही हो गया, जो आज से चालीस वर्ष पहले होना चाहिए था। अब हम भी आपका साथी हो गया। अब हम दोनो सेवक-दल का काम खूब उत्साह से करेगा।"

कुँवर—"नहीं डॉक्टर साहब, मुझे खेद है कि मैं आपका साथ न दे सकूँगा। मुझमें वह उत्साह नहीं रहा। विनय के साथ सब चला गया। जाह्नवी अलबत्ता आपकी सहायता करेंगी। अगर अब तक कुछ संदेह था, तो आपके निर्वासन ने उसे दूर कर दिया कि अधिकारिवर्ग सेवक-दल से सशंक है, और यदि मैं उससे अलग न रहा, तो मुझे अपनी जायदाद से हाथ धोना पड़ेगा। जब यह निश्चय है कि हमारे भाग्य में दासता ही लिखी हुई है......"

गंगुली—"यह आपको कैसे निश्चय हुआ?"

कुँवर—"परिस्थितियों को देखकर, और क्या। जब यह निश्चय है कि हम सदैव गुलाम ही रहेंगे, तो मैं अपनी जायदाद क्यों हाथ से खोऊँ? जायदाद बची रहेगी, तो हम इस हीनावस्था में भी अपने दुखी भाइयों के कुछ काम आ सकेंगे। अगर वह भी निकल गई, तो हमारे दोनो हाथ कट जायँगे। हम रोनेवालों के आँसू भी न पोछ सकेंगे।"

गंगुली—"अहा! तो कुँवर विनयसिंह का मृत्यु भी आपके इस बेड़ी को नहीं तोड़ सका। हम समझा था, आप निर्द्वंद्व हो गया होगा। पर देखता है, तो वह बेड़ी ज्यों-का-त्यों आपके पैरों में पड़ा हुआ है। अब आपको विदित हुआ होगा कि हम क्यों संपत्तिशाली पुरुषों पर भरोसा नहीं करता। वे तो अपनी संपत्ति का गुलाम हैं। वे कभी सत्य के समर में नहीं आ सकते। जो सिपाही सोने का ईंट गर्दन में बाँधकर लड़ने चले, वह कभी नहीं लड़ सकता। उसको तो अपने ईंट का चिंता लगा रहेगा। जब तक हम लोग ममता का परित्याग नहीं करेगा, हमारा उद्देश्य कभी पूरा नहीं होगा। अभी तक हमको कुछ भ्रम था, पर वह भी मिट गया कि संपत्तिशाली मनुष्य हमारा मदद करने के बदले उल्टा

को नुकसान पहुँचाएगा। पहले आप निराशावादी था, अब आप संपत्ति-वादी हो गया।"

यह कहकर डॉक्टर गंगुली विमन हो यहाँ से उठे, और जाह्नवी के पास आए, तो देखा कि वह कहीं जाने को तैयार बैठी हैं। इन्हें देखते ही विहसित मुख से इनका अभिवादन करते हुए बोलीं—"अब तो आप भी मेरे सहकारी हो गए। मैं जानती थी कि एक-न-एक दिन हम लोग आपको अवश्य खींच लेंगे। जिनमें आत्मसम्मान का भाव जीवित है, उनके लिये वहाँ स्थान नहीं है। वहाँ उन्हीं के लिये स्थान है, जो या तो स्वार्थभक्त हैं, अथवा अपने को धोखा देने में निपुण। अभी यहाँ दो-एक दिन विश्राम कीजिएगा न? मैं तो आज की गाड़ी से पंजाब जा रही हूँ।"

गंगुली—"विश्राम करने का समय तो अब निकट आ गया है, उसका क्या जल्दी है। अब अनंत विश्राम करेगा। हम भी आपके साथ चलेगा।"

जाह्नवी—"क्या कहें, बेचारी सोफ़िया न हुई, नहीं तो उससे बड़ी सहायता मिलती।"

गंगुली—"हमको तो उसका समाचार वहीं मिला था। उसका जीवन अब कष्टमय होता। उसका अंत हो गया, बहुत अच्छा हुआ। प्रणय-वंचित होकर वह कभी सुखी नहीं रह सकता था। कुछ भी हो, वह सती था; और सती नारियों का यही धर्म है। रानी इंदु तो आराम से है न?"

जाह्नवी—"वह तो महेंद्रकुमार से पहले ही रूठकर चली आई थी। अब यहीं रहती है। वह भी तो मेरे साथ जा रही है। उसने अपनी रियासत के सुप्रबंध के लिये एक ट्रस्ट बनाना निश्चय किया है, जिसके प्रधान आप होंगे। उसे रियासत से कोई संपर्क न रहेगा।"

इतने में इंदु आ गई, और डॉक्टर गंगुली को देखते ही उन्हें प्रणाम

रके बोली—"आप स्वयं आ गए, मेरा तो विचार था कि पंजाब होते आपकी सेवा में भी जाऊँ।"

डॉक्टर गंगुली ने कुछ भोजन किया, और संध्या-समय तीनो आदमी वे रवाना हो गए। तीनो के हृदय में एक ही ज्वाला थी, एक ही लगन। तीनो का ईश्वर पर पूर्ण विश्वास था।

कुँवर भरतसिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, फिर वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोचले, वही रईसों के आडंबर, वही ठाट-बाट। उनके धार्मिक विश्वास की जड़ें उखड़ गई हैं। इस जीवन से परे अब उनके लिये अनंत शून्य और अनंत आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लोक असार है, परलोक भी असार है, जब तक ज़िंदगी है, हँस-खेलकर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा, कौन जानता है। संसार सदा इसी भाँति रहा है, और इसी भाँति रहेगा। उसकी सुव्यवस्था न किसी से हुई है, और न होगी। बड़े-बड़े ज्ञानी, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता, ऋषि, मुनि मर गए, और कोई इस रहस्य का पार न पा सका। हम जीव-मात्र हैं, और हमारा काम केवल जीना है। देश-भक्ति, विश्व-भक्ति, सेवा, परोपकार, यह सब ढकोसला है। अब उनके नैराश्य-व्यथित हृदय को इन्हीं विचारों से शांति मिलती है।

रके बोली—"आप स्वयं आ गए, मेरा तो विचार था कि पंजाब होते आपकी सेवा में भी जाऊँ।"

डॉक्टर गंगुली ने कुछ भोजन किया, और संध्या-समय तीनो आदमी से रवाना हो गए। तीनो के हृदय में एक ही ज्वाला थी, एक ही लगन। तीनो का ईश्वर पर पूर्ण विश्वास था।

कुँवर भरतसिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, फिर वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोचले, वही रईसों के आडंबर, वही ठाट-बाट। उनके धार्मिक विश्वास की जड़ें उखड़ गई हैं। इस जीवन से परे अब उनके लिये अनंत शून्य और अनंत आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लोक असार है, परलोक भी असार है, जब तक ज़िंदगी है, हँस-खेलकर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा, कौन जानता है। संसार सदा इसी भाँति रहा है, और इसी भाँति रहेगा। उसकी सुव्यवस्था न किसी से हुई है, और न होगी। बड़े-बड़े ज्ञानी, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता, ऋषि, मुनि मर गए, और कोई इस रहस्य का पार न पा सका। हम जीव-मात्र हैं, और हमारा काम केवल जीना है। देश-भक्ति, विश्व-भक्ति, सेवा, परोपकार, यह सब ढकोसला है। अब उनके नैराश्य-व्यथित हृदय को इन्हीं विचारों से शांति मिलती है।

को नुकसान पहुँचाएगा। पहले आप निराशावादी था, अब आप संपत्तिवादी हो गया।"

यह कहकर डॉक्टर गंगुली विमन हो यहाँ से उठे, और जाह्नवी के पास आए, तो देखा कि वह कहीं जाने को तैयार बैठी हैं। इन्हें देखते ही विहसित मुख से इनका अभिवादन करते हुए बोलीं—"अब तो आप भी मेरे सहकारी हो गए। मैं जानती थी कि एक-न-एक दिन हम लोग आपको अवश्य खींच लेंगे। जिनमें आत्मसम्मान का भाव जीवित है, उनके लिये वहाँ स्थान नहीं है। वहाँ उन्हीं के लिये स्थान है, जो या तो स्वार्थभक्त हैं, अथवा अपने को धोखा देने में निपुण। अभी यहाँ दो-एक दिन विश्राम कीजिएगा न? मैं तो आज की गाड़ी से पंजाब जा रही हूँ।"

गंगुली—"विश्राम करने का समय तो अब निकट आ गया है, उसका क्या जल्दी है। अब अनंत विश्राम करेगा। हम भी आपके साथ चलेगा।"

जाह्नवी—"क्या कहूँ, बेचारी सोफ़िया न हुई, नहीं तो उससे बड़ी सहायता मिलती।"

गंगुली—"हमको तो उसका समाचार वहीं मिला था। उसका जीवन अब कष्टमय होता। उसका अंत हो गया, बहुत अच्छा हुआ। प्रणय-वंचित होकर वह कभी सुखी नहीं रह सकता था। कुछ भी हो, वह सती था; और सती नारियों का यही धर्म है। रानी इंदु तो आराम से है न?"

जाह्नवी—"वह तो महेंद्रकुमार से पहले ही रूठकर चली आई थी। अब यहीं रहती है। वह भी तो मेरे साथ जा रही है। उसने अपनी रियासत के सुप्रबंध के लिये एक ट्रस्ट बनाना निश्चय किया है, जिसके प्रधान आप होंगे। उसे रियासत से कोई संपर्क न रहेगा।"

इतने में इंदु आ गई, और डॉक्टर गंगुली को देखते ही उन्हें प्रणाम

रके बोली—"आप स्वयं आ गए, मेरा तो विचार था कि पंजाब होते आपकी सेवा में भी जाऊँ।"

मिस्टर गंगुली ने कुछ भोजन किया, और संध्या-समय तीनो आदमी से रवाना हो गए। तीनो के हृदय में एक ही ज्वाला थी, एक ही लगन। तीनो का ईश्वर पर पूर्ण विश्वास था।

कुँवर भरतसिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, फिर वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोचले, वही रईसों के आडंबर, वही ठाट-बाट। उनके धार्मिक विश्वास की जड़ें उखड़ गई हैं। इस जीवन से परे अब उनके लिये अनंत शून्य और अनंत आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लोक असार है, परलोक भी असार है, जब तक ज़िंदगी है, हँस-खेलकर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा, कौन जानता है। संसार सदा इसी भाँति रहा है, और इसी भाँति रहेगा। उसकी सुव्यवस्था न किसी से हुई है, और न होगी। बड़े-बड़े ज्ञानी, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता, ऋषि, मुनि मर गए, और कोई इस रहस्य का पार न पा सका। हम जीव-मात्र हैं, और हमारा काम केवल जीना है। देश-भक्ति, विश्व-भक्ति, सेवा, परोपकार, यह सब ढकोसला है। अब उनके नैराश्य-व्यथित हृदय को इन्हीं विचारों से शांति मिलती है।